॥ श्रीः ॥

पुरुषार्थ-चतुष्टय

[धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में
शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन]

प्रेमवल्लभ त्रिपाठी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

पुरुषार्थ-चतुष्टय

[धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें शास्त्रोंका गम्भीर अध्ययन]

★

प्रेमवल्लभ त्रिपाठी
अध्यक्ष,
धर्मशास्त्र एवं कर्मकाण्ड-विभाग,
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय,
वाराणसी

प्रकाशक :—
राजविद्या-ग्रन्थमाला,
डी० १/७ सरस्वती-फाटक,
वाराणसी–१

★

प्रथम संस्करण ११००

मूल्य : १००/-

★

मुद्रक,
आनन्दकानन प्रेस,
सी० के० ३६/२०, ढुण्डिराज,
वाराणसी–१

प्राक्कथन

कलियुगके प्रारम्भ होते ही महर्षि वेद-व्यासको यह डिण्डिमघोष करना पड़ा कि—

'ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न हि कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥'

स्पष्ट है कि तबसे ही धर्मका ह्रास प्रारम्भ हो गया था। धर्म और समाजका परस्पर अटूट सम्बन्ध है। वस्तुत: समाज धर्माचरणपर ही अवलम्बित है। अत: समाज बिगड़ा तो मनुष्य क्यों सुधरेगा? और मनुष्यका सुधार न हो तो समाजका सुधार कैसे?

महर्षि व्यास भगवान्के अंशावतार थे। वे निश्चितरूपसे त्रिकालज्ञ थे। भूत, भविष्य और वर्तमानको हस्तामलकवत् जानने वाले थे और सब लोकोंका ज्ञान रखते थे। महाभारतमें क्या हुआ क्या नहीं हुआ, कैसे समय-समयपर धर्मविपरीत और बीभत्स घटनाएँ हुईं? भीष्म-द्रोण आदिके समक्ष भरीसभामें एकवस्त्रा द्रौपदीका वस्त्राकर्षण, अश्वत्थामाद्वारा पाण्डवोंके सोये हुए बालकोंकी हत्या और उत्तराके गर्भस्थ शिशुके बधका प्रयास—ये तीन जघन्यतम अपराध हुए और कैसे धर्मकी उपेक्षा की गयी—यह सब देखकर महर्षि व्यासजी अधर्माचरणकी विभीषिकासे सिहर गये। उन्हें महती वेदना हुई कि कलिके प्रारम्भमें ही यह दुर्दशा है तो आगे क्या होगा? यही भयका कम्पन उनके उपर्युक्त श्लोकमें मूर्त है। इसी वेदनाकी आह ऊपरके श्लोकसे फूट रही है।

महर्षि व्यासको जो आशङ्का थी, वह आज समाजमें प्रत्यक्ष है। वर्तमान समयमें सर्वत्र, जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उच्छृङ्खलता, उद्दण्डता, भ्रष्टाचार, लूटपाट, चोरी-डकैती इत्यादिका बोलबाला है। हमारा जो नैतिक, चारित्रिक ह्रास स्वतन्त्रता-प्राप्तिके २३ वर्षोंके भीतर हुआ, वह बहुत ही अशुभ है—बहुत ही शोचनीय

है। समाजका कल्याण होना तो अलग रहा, समाजको रसातलमें पहुँचानेका यह मार्ग है। समाज इस-तरह दिनोंदिन गिरता चला जा रहा है। मानवताके मूल आदर्श-सिद्धान्त और आचार-विचार सभी मटियामेट हो रहे हैं। यह कटु सत्य है। सब चिन्तक और समाजके हितैषी इस बातको मानते हैं और मानकर सहम जाते हैं। ऐसे लोगोंके बीच बार-बार यही प्रश्न उठता है कि समाज और देशका क्या हाल हो रहा है। अस्तु।

देशके सभी भागों और सभी विभागोंमें यह उच्छृङ्खलता, यह उद्दण्डता; यह नियन्त्रणका अतिक्रमण करनेकी प्रवृत्ति व्याप्त है। बंगालमें नक्सलवाद, केरलमें साम्यवाद, सर्वत्र जातीयतावाद, प्रान्तीयतावाद और सम्प्रदायवाद—ये सब मुंह बाँये हुए समाजको निगलनेके लिए तैयार हैं। चारों ओर स्वार्थका बोल-बाला है। हर एक व्यक्ति चाहे राजनीतिके दो अक्षर भी न जानता हो, चुनाव लड़ेगा और उसमें उचित, अनुचित, सभी प्रकारके साधनोंका प्रयोग करेगा। जीतनेपर मिनिस्टरीकी कुर्सी, या नहीं तो तत्सम पदपर आँख गढ़ायेगा। और—

'घटं भित्वा पटं छित्वा कृत्वा रासभरोहणम्।
येन केनाप्युपायेन प्रथितः पुरुषो भवेत्॥'

—इस दुर्नीतिका अवलम्बन करेगा। जो-जो भी षड्यन्त्र हो सकते हैं, कुर्सी पानेके लिए करेगा। सब कुछ वह स्वार्थके लिए ही करेगा—उसे न परार्थकी चिन्ता है, न परमार्थकी ही। दसबार दल बदलेगा। चौबीस घन्टेके भीतर ही एकके बाद दूसरा दल बदलनेके उदाहरण हो चुके हैं और हो रहे हैं?

आज प्रायः सर्वत्र सभी संस्थाओंमें, सभी विभागोंमें, एवं सर्वोच्च शिक्षण-संस्थाओंमें विशेषतः विश्व-विद्यालयोंकी कार्य-कारिणी परिषदोंमें—गुणवत्ताके आधारपर चुनेगये सदस्यलोग—'अयं निजः परो वा?' इस भावनासे दूषित होकर तत्-तत् स्थानोंके, उच्च-उच्चपदोंके चयनमें 'राईको पर्वत और पर्वतको राई' बना देते हैं, अर्थात् अयोग्योंको योग्यतम और योग्यतम व्यक्तियोंको अत्यन्त अयोग्य सिद्ध कर देते हैं।

ऐसी परिस्थितिमें अब प्रश्न यह है कि इस दुर्गतिका क्या कोई उपचार भी है ? क्या हम इस दुर्गतिसे उभर सकते हैं ? क्या हमारी आगेकी पीढ़ियाँ व्यासजीके अनुशासनका अनुसरण करेंगी ? विचारमें तो आता है कि अवश्य करेंगी, पर यह सब प्रयत्न-साध्य है । वर्तमान पीढ़ीका यह उत्तरदायित्व है कि उन प्रयत्नोंकी रूपरेखा अच्छीतरह, समुचितरीतिसे समझे और स्वयं आचरणके द्वारा आनेवाली पीढ़ियोंका सुधार करे ।

आगेकी पीढ़ीके सुधारका प्रधान मार्ग है—शिक्षा । वर्तमान शिक्षा इतनी दूषित हो गयी है कि शिक्षक, शिक्षार्थी—दोनों ही उत्तरोत्तर गिरते ही चले जा रहे हैं । न गुरुका शिष्यपर स्नेह है और न शिष्यकी गुरुपर श्रद्धा ? शिक्षार्थी शिक्षकोंको भाड़ेका टट्टू समझते हैं और शिक्षक-शिक्षार्थियोंको जीविकाका साधन ?

अंग्रेजोंके राज्यमें, उदाहरणके लिए सन् १९०८ और १९१० की स्कूल-लीभिङ् सर्टिफिकेटके कोर्समें दसवीं कक्षाके विद्यार्थियोंके लिए हिन्दीमें 'रामचरित मानस' का सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड और संस्कृतमें 'वाल्मीकि-रामायण' के कुछ अंश पढ़ाये जाते थे । उन दिनों बी० ए० में 'संक्षिप्त-महाभारत' भी संस्कृतके कोर्समें था । शिक्षक और शिक्षार्थी इस पवित्र और उदात्त साहित्यको पढ़कर सदाचार और धर्मकी ओर स्वभावत: ही झुकते थे । इसी प्रकार अंग्रेजीमें भी उच्च-उच्चकोटिके आदर्शोंसे भरे हुए ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे । अंग्रेज विदेशी थे, विजातीय थे, तब भी इस प्रकारसे सदाचारका शिक्षण और रक्षण होता था । यह कितने बड़े दु:ख और परितापकी बात है कि हमारे स्वदेशीय, सजातीय ऐसे ग्रन्थोंका, पाठ्य-ग्रन्थोंसे बहिष्कार करके निम्नस्तरके, निम्न-श्रेणीके-नीचभावनाओंके ग्रन्थोंको पाठ्यपुस्तकोंमें रक्खें ?

एतावता अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षार्थियोंको ऐसे शास्त्र, ऐसे ग्रन्थ पढ़ायें जायँ कि जिनसे उनकी सर्वाङ्गीण नैतिक उन्नति हो । साथ हो जिनसे वे अपने और अन्य सम्प्रदायोंके धर्मोंकी अच्छी-अच्छी बातोंको यथार्थ रीतिसे समझें । डाक्टर एनीबेसेण्ट और डा० भगवान्दासने सब धर्मोंकी विशिष्ट बातोंको पढ़ानेके लिए सर्वप्रथम 'सेण्ट्रल हिन्दूस्कूल' में पाठ्य-विषयोंमें जो उपयुक्त ग्रन्थ रक्खे थे, क्या वे ही या उनके जैसे ग्रन्थ अब भी पढ़ाये जाते हैं ? आत्मा नहीं है तो कलेवर शव है । आत्मा खो दी तो सब खो गया । भारतीयता गयी तो फिर क्या बचा रहेगा ?

स्पष्ट है कि हमें ऐसे ग्रन्थोंकी रचना करना है कि जिनमें अपने धर्म और शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका युक्तियुक्त विवेचन हो और वे ग्रन्थ स्कूल, कालेज और विश्व-विद्यालयोंमें, निष्ठापूर्वक आदर्श अधिकारियों द्वारा पढ़ाये जायँ ? जब छोटेपनसे ही विद्यार्थी इस प्रकारके ग्रन्थोंको पढ़ेंगे तो समाजका वातावरण कितना पवित्र और कल्याणकारी हो जायगा ? समाजमें ऐसे सुशिक्षित विद्यार्थियोंके द्वारा कैसे ऊँचे आदर्श प्रस्तुत होंगे ? तब भारतको अपने खोये यश और अपनी गरिमा-महिमा पुनः प्राप्त करनेमें क्या देर और रुकावट पड़ेगी ? अस्तु !

प्रस्तुत ग्रन्थ इसी पावन प्रेरणाका पुनीत परिणाम है। ग्रन्थकार पण्डित श्रीप्रेमवल्लभ-त्रिपाठीजी 'सरस्वती'के यशस्वी सम्पादक स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजीके शब्दोंमें **'विदुषां वर' 'विबुधोत्तम'**—शब्दोंमें समादृत हैं। श्रीमान् पण्डितजी यथार्थमें तपःपूत हैं। अध्ययन-अध्यापन, मनन-चिन्तन संस्कृत-सरस्वती, भारत-भारतीका अनन्यनिष्ठासे आराधन—यही उनका आजीवन तप है। विशाल संस्कृत-वाङ्मयपर, विशेषतया साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र, इतिहास-पुराण, और चिरउपेक्षित प्राचीन राजशास्त्र एवं अर्थशास्त्रपर उनका निर्बाध प्रभुत्व है। प्रस्तुत पुस्तक उनके विविध शास्त्रोंके मन्थनका नवनीत है। ग्रन्थकारकी तपस्या-तरुका यह मधुर फल है।

सनातन-धर्मी समाजका तो इस ग्रन्थसे अत्यधिक उपकार होगा ही। इतर जन भी निःसन्देह इस पुस्तकके द्वारा सनातन-धर्मके मानवोपकारक, समाजोद्धारक मूलभूत सिद्धान्तोंका पुष्कल परिचय प्राप्त करेंगे और अपने-अपने धर्मविषयक ऐसे ही ग्रन्थोंकी रचनाकी प्रेरणा भी ग्रहण करेंगे। ऐसे स्थायी महत्वके बहुमूल्य ग्रन्थमें मेरी ओरसे इन दो-शब्दोंको लिखना कोरी अनधिकार चेष्टा है। पर पण्डितजी इतने उदार हैं कि उन्होंने मुझे यह अवसर दिया। इति शम्।

—रायबहादुर, पण्डित महेशानन्द घिल्डियाल,

[अवकाशप्राप्त—सेक्रेटरी, लोक-सेवा आयोग, उत्तरप्रदेश। सेक्रेटरी, कोर्ट औफ वार्ड्स् उत्तरप्रदेश। स्पेशल औफिसर आर मेम्बर पब्लिक-सर्विस कमीशन, उत्तरप्रदेश। स० सेक्रेटरी, हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी]

प्रस्तावना

हमारा देश धर्मप्राण रहा है। इसीलिए इस देशकी महिमा वेद और शास्त्रोंमें गायी गयी है। एक ऐसा भी समय रहा, जब कि यहाँके निवासी अत्यन्त नैतिक और चरित्रशाली रहे। इसी कारण वे सब [1]'आर्य' कहे जाते थे और उन्हींके निवासके कारण यह देश [2]'आर्यावर्त' नामसे विख्यात हुआ। इनकी आर्यता तथा चरित्रबलसे यह देश अत्यन्त समृद्ध रहा। अतः विदेशी लोग भी इसे सोनेकी चिड़िया मानते थे। यहाँके निवासी अपने मकानोंमें ताले तक नहीं लगाते थे। कोई भी व्यक्ति किसीकी वस्तुको अवैध ढङ्गसे नहीं लेता था। सब लोग सुशिक्षित एवं ज्ञान-सम्पन्न थे। धीरे-धीरे समयका परिवर्तन हुआ। उत्कृष्ट ज्ञानका ह्रास हुआ। विदेशी लोगोंने आ-आकर बार-बार आक्रमण करके इस देशको लूटा और यहाँकी संस्कृति, सदाचार, सभ्यता और सद्-विद्याओंको लुप्त किया। लगभग एक हजार वर्षोंतक इस देशमें विदेशियोंका साम्राज्य रहा।

भाग्यवश देशमें दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, बालगङ्गाधर तिलक, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महात्मा गान्धी, महामना मदनमोहन मालवीय, सुभाषचन्द्र बोस, पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय इत्यादि महापुरुषोंका जन्म हुआ। इन महामनीषियोंने देशकी परिस्थितिको जब ध्यानसे देखा तो विदेशियोंकी अनीति और अत्याचारोंको देखकर उनकी आत्मा सिहर उठी। पूरे देशको साथ लेकर इन लोगोंने देशकी पूर्ण स्वतन्त्रताके लिए अथक प्रयत्न किया और यह दृढ़ सङ्कल्प किया कि—'देशके स्वाधीन हो जानेपर यहाँ प्राचीन रामराज्य-जैसी शासन-व्यवस्था की जायगी। जिससे स्वतन्त्र-भारतका प्रत्येक नागरिक अत्यन्त सुखी, चरित्रवान् और समृद्ध होगा।

इस उच्चतम उद्देश्यसे भारतको स्वतन्त्र करनेके लिए देशके सभी वरिष्ठ नेताओंके सत्प्रयाससे अहिंसात्मक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ और वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। प्रत्येक नर-नारीके मनमें स्वाभिमान और स्वावलम्बनकी भावना जागृत हुई। शिक्षा-संस्थाओंने जनमानसको और अधिक उत्तेजित किया। संस्कृतज्ञ-समाज भी इससे अछूता न रहा। बल्कि—

१—अर्यन्ते, पूज्यन्ते गुणैर्गुणवद्भिश्चेति आर्याः। २—आर्या आवर्तन्ते, पुनः पुनः उद्भवन्ति यत्र स आर्यावर्तः।

'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।'
(म० स्मृ० ४ अ० ६०)

—के अनुसार स्वतन्त्रताके मूल-सिद्धान्तोंकी आधारशिला संस्कृत विद्या ही थी । अस्तु ।

उसी अवसरपर यहाँके संस्कृतज्ञोंके समाजमें इस विषयका यह विचार-विमर्श बराबर चलता ही रहा कि देशके स्वतन्त्र हो जानेपर हमारी भारतीय संस्कृति और शिक्षाओंका पुनरुत्थान अवश्य ही होगा । विदेशियोंके साथ उनकी भाषा भी यहाँसे विदा हो जायगी । राष्ट्रभाषाका सर्वोच्च स्थान संस्कृत-भाषाको ही प्राप्त होगा । महामना मालवीय, डा० भगवान्दास, डा० काटजू और डा० सम्पूर्णानन्द प्रभृति देशके वरिष्ठ-वरिष्ठ नेताओंका यही दृढ़ विचार रहा ।

श्रीबालगङ्गाधर तिलक जिन दिनों देशकी स्वतन्त्रताके लिए प्रयत्न कर रहे थे, उस समय उनके सामने श्रीमद्-भगवद्-गीता आदर्शरूपमें रहती थी । और उनके बाद महात्मा गान्धीजी भी भगवद्-गीताका ही अवलम्बन करते हुए उसका नित्य नियमित स्वाध्याय करते रहे । तिलकने गीतापर 'कर्मयोग' नामक विस्तृत भाष्य लिखा और महात्मा गांधीजीने अनासक्ति योगकी रचना की ।

निष्कर्ष यह कि भारतकी आजादीमें जो-जो नेता सबसे आगे रहकर जनताको मार्ग प्रदर्शन करते थे, उन्हें सही-सही मार्ग गीताके ही आलोकमें सूझता रहा । इसीलिए संस्कृतज्ञ समाज भी मनसा, वाचा और कर्मणा उस समयके आन्दोलनोंमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूपसे सम्मिलित होता रहा । उस समय देशके वरिष्ठ नेताओं एवं संस्कृतज्ञ विद्वानोंके समाजमें यह पक्की धारणा जम गयी थी कि—

"देशकी स्वतन्त्रताके बाद महात्मा गांधीजीके सङ्कल्पानुसार अपने देशमें लोक-वरिष्ठ नेताओंकी भावनाके अनुकूल रामराज्य-जैसी राज्य-व्यवस्था कायम होगी । यहाँके शासन-विधान और न्यायालयोंके न्याय-निर्णयोंकी समूची ही परिपाटी, देशकी सारी शिक्षा-दीक्षा और वेशभूषा—आदि सभी व्यवहार हमारी प्राचीन शासन-पद्धतिके ही अनुसार व्यवस्थित होंगे । तब हमारे उपेक्षित प्राचीन शास्त्रोंका, विशेषतः हमारे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र-नीतिशास्त्र और राजशास्त्रका अत्यधिक आदर और प्रचार अवश्य ही होगा ?"

उन्हीं दिनोंमें—मैं जब कि यहाँ 'गोयनका संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी' में धर्मशास्त्र और राजशास्त्रका अध्यापन करता था, लगभग १९४० से १९४७ के मध्यकालमें—मेरे अनेक मित्रों और हितैषियोंने अनेकों बार मुझसे

कहा कि—'अरे भाई, अब आगे तो तुम्हारा ही शास्त्र देशके उन्नयनमें अधिक काम आयेगा। क्योंकि जब इस समय, अंग्रेजोंके शासनमें भी यहाँके न्यायालयोंमें मनुस्मृति, मिताक्षरा आदि ग्रन्थोंके ही आधारपर निर्णय दिये जाते हैं, तो फिर देशकी स्वाधीनताके बाद तो इनको अत्यधिक महत्त्व दिया ही जायगा। क्योंकि राष्ट्रकी शिक्षा-दीक्षा, समाज-व्यवस्था, व्यवहारनीति, राजनीति, दण्ड और शासनपद्धति—ये सब व्यवस्थाएँ सर्वाङ्गीण-रूपमें एकमात्र धर्मशास्त्रके ही अन्तर्गत हैं। अतः देशकी स्वतन्त्रताके अनन्तर इस शास्त्रका पठन-पाठन हमारी सारी ही शिक्षा-संस्थाओंमें अनिवार्य-रूपसे समाविष्ट हो जायगा। विदेशियों और उनकी भाषाके चले जानेपर संस्कृत, हिन्दी अथवा हमारी प्रादेशिक मातृभाषाओंमेंसे कोई-न-कोई एक हमारी ही भाषा राष्ट्र-भाषा बनेगी। इत्यादि।''

इन्हीं सब बातोंसे प्रभावित होकर मैं उसी समयसे राष्ट्रकी शासन-पद्धतिके विषयपर हमारे प्राचीन अनादि वेद-शास्त्र, ऋषि-महर्षियों और मनु आदि राजर्षियोंके बनाये हुए सही-सही सार्वभौम सिद्धान्तोंको जाननेके लिए अत्यधिक उत्सुक हुआ। फलतः राष्ट्रोन्नतिके परम सहायक मूल-सिद्धान्तोंकी बारीकियोंको विशेषतः समझनेके लिए मैं अतीव उत्कण्ठापूर्वक अपने प्राचीन राजशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इतिहास-पुराण एवं साहित्य-शास्त्रोंका परिशीलन करनेमें अधिक समय लगाने लगा। और राजनीतिके राष्ट्रोन्नति-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य विषयोंपर हमारे प्राचीन महर्षियों, देवर्षियों और राजर्षियोंके सही सिद्धान्तोंके आधारपर आधारित इस विषयका एक प्रामाणिक सर्वाङ्गीण बृहद्-ग्रन्थ हिन्दी-भाषामें, लिखनेकी उत्सुकता हुई। और इस विषयके मेरे कुछ लेख और निबन्धोंको पढ़-सुनकर स्वर्गीय श्री डॉ० भगवान्दासजीने मेरे इस प्रयत्नकी सराहना करते हुए इसे आवश्यक बतलाया और समय-समयपर मेरे उत्साहको और बढ़ाया। फलतः मैंने इस विषयमें—

—"(१) पुरुषार्थ-चतुष्टय, (२) विद्या-चतुष्टयी, (३) विद्यावृद्ध-संयोग, (४) विनय और इन्द्रियजय, (५) राष्ट्र, (६) राजा या राष्ट्रपति, (७) राष्ट्रपतिका निर्वाचन, (८) राजधर्म, (९) राज्य, (१०) अधार्मिक राजा और अधार्मिक राज्य, (११) राज्यका मूल, (क्रम और विक्रम), (१२) राज्यके ७ अङ्ग, (१३) शासन और न्याय-व्यवस्था, कानून (१४) व्यवहार-दर्शन (न्याय-निर्णय), (१५) दण्ड और उसका उपयोग, (१६) दाण्ड-पाशिक और उनका उद्देश्य, (१७) राष्ट्र-रक्षा, (१८) रक्षाकी आव-

श्यकता, (१९) राज-पुरुष और उनका लक्ष्य, (२०) [1]लुञ्च-लाँच (अर्थात् उत्कोच यानी घूसखोरी) और उसका दुष्परिणाम, (२१) योग और क्षेम, (२२) शम और व्यायाम, (२३) तन्त्र और आवाप, (२४) गुण और व्यसन, (२५) शासकोंकी योग्यताएँ, (२६) प्राड्विवाक (न्यायधीश) न्याय, अन्याय और न्यायका फल (२७) धर्माधिकरण एवं कण्टक-शोधन, (२८) प्रधानमन्त्री, (२९) मन्त्री, सचिव, अमात्य, (३०) मन्त्रि-मण्डल, सभ्य और मन्त्रि-परिषद्, (३१) केन्द्र एवं उसका महत्व, (३२) केन्द्रीय-शासन-व्यवस्था, (३३) प्रान्तीय-शासनव्यवस्था, (३४) प्रादेशिक-शासन-व्यवस्था, (३५) ग्राम-शासन-पद्धति, (३६) केन्द्रीय-सरकारका नियन्त्रण, (३७) कोश और उसका महत्व, (३८) राष्ट्रकी आय और आयके स्रोत, (३९) राष्ट्र और उसके आयकी वृद्धि और समृद्धिका निरूपण, (४०) कर और उनमें छूट, (४१) राष्ट्रका व्यय, (४२) सैनिक, सेना एवं सैन्यबल, (४३) सेना-सञ्चालक, (४४) राजदूत, (४५) गुप्तचर और उनका उद्देश्य, (४६) गुप्तचर-संस्थाएँ, (४७) चार उपाय—साम, दान, भेद और दण्ड, (४८) उपायोंका उपयोग, (४९) सान्धिविग्रहिक, (अर्थात् परराष्ट्रमन्त्री), (५०) षाड्गुण्य-समुद्देश अर्थात् सन्धि, विग्रह, यान, आसन द्वैधीभाव और संश्रय, (५१) युद्ध और उसका परिणाम, (५२) प्रारब्ध और पुरुषार्थ, (५३) शिक्षा-संस्थाओं और उनका महत्व, (५४) अध्यापक और छात्र, (५५) मानवसमाज, यश और कीर्ति, एवं कृतकृत्यता ।"

—इतने विषयोंकी पुस्तकें मूल-ग्रन्थोंके आधारपर हिन्दी-भाषामें लिखना, राष्ट्रके विकासके लिए नितान्त आवश्यक समझकर, लिखना प्रारम्भ किया और कुछ भाग लिखे भी गये। जिनमेंसे कतिपय अंश उस समयके पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित भी होते रहे।

इधर भारत स्वतन्त्र हुआ—पर खण्डित होकर! अंग्रेज यहाँसे चले गये, पर उनकी अंग्रेजियत यहाँसे नहीं हटी, उसका कुत्सित प्रभाव यहाँके सुशिक्षित कहलानेवाले नेताओंके अन्तस्तलपर पड़ा। राष्ट्र-पिता गांधीजी, महामना मालवीयजी, सरदार पटेल, सुभाषचन्द्र बोस, आदि महामनीषी नेता स्वतन्त्र-राष्ट्रके नूतन-निर्माणमें अपना सहयोग दिये बिना ही, काल-कवलित हो गये। स्वतन्त्र भारतका नया शासन-विधान उन्हीं विदेशियोंकी असेम्बलियों और पार्लियामेंन्टोंकी ही नकलपर, लाखों रुपये व्यय करके, ऐसे विचित्र ढङ्गका बन गया कि, जिसमें आधी नकल तो ब्रिटेनकी है, और आधी अमेरिकाकी।

---

[1]—मातुः स्तनमपि लुञ्चन्ति लुञ्चोपजीविनः। (नी० वा०)

फलतः धर्म-प्राण भारत 'धर्म-निरपेक्ष' उपाधिसे अलंकृत किया गया। अपनी आर्यता, भारतीयता, और सर्वोत्कृष्ट ज्ञानवत्ताका अभिमान खोकर—विश्वके साम्यवाद, समाजवाद, सम्प्रदायवाद आदि तरह-तरहके वादोंको अपने एक अद्वैत-वादके अन्दर समाये रखनेवाला भारत पूर्ण उन्नत हुए बिना ही आज उन्हीं वादोंके सङ्घर्षोंमें, पारस्परिक कलहोंके चक्रव्यूहमें गुँथकर अवनत हो रहा है। लोग अपना स्वाभिमान खोकर विश्वमें फैले हुए अनाचार और यथेच्छाचारमें प्रवृत्त होकर पशुप्राय बनते चले जा रहे हैं। शालीनताका ह्रास हो-होकर सर्वत्र अश्लीलताका वातावरण छा गया है। अशिक्षित अथवा अल्प-शिक्षित कतिपय स्वार्थी नेता दुर्नीति, धूर्तता और भ्रष्ट उपायोंका सहारा लेकर ऊँचे-ऊँचे पदोंपर आसीन होकर जनताको गुमराह बनाते जा रहे हैं।

वैसे तो आज सारे संसारमें अराजकता छायी हुई है। विज्ञानके साधनोंने राष्ट्रोंकी दूरी दूर कर दी है। जड़-विज्ञानके ही चकाचौंधमें बुद्धिमान् लोग व्यामोहित हो गये हैं। राजविद्या अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंके पालन-पोषणके सम्पूर्ण उपायोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली 'राजनीति'का अन्तर्धान हो गया है। सभी राष्ट्रोंमें दोष-पूर्ण, मनमानी शासन-पद्धति चल पड़ी है। कतिपय शासकजन वृथाटचा अर्थात् वृथाभ्रमणके दुर्व्यसनमें, राष्ट्रहितका नाम लेकर विश्वभ्रमणमें राष्ट्रकी समूची ही आयका दुरुपयोग करते जा रहे हैं। बहिर्मुखताके कारण जनतामें सुख-शान्तिकी व्यवस्थाके उपायोंका सही प्रयत्न किसीको नहीं सूझता। शासकोंमें इन्द्रिय-संयमका अभाव होता चला जा रहा है। एक राष्ट्रका कुत्सित प्रभाव दूसरे राष्ट्रपर चट्से पड़ जाता है। न्याय, ईमानदारी, श्रेष्ठ आचरण, निष्पक्षता और अर्थ-शुचिताका लोप हो गया है। शासन-व्यवस्थाओं, विधान-सभाओं और शिक्षा-संस्थाओंमें हठ, दुराग्रह, दम्भ, और पक्षपातका प्रयोग निःसंकोच हो रहा है। लोकलज्जा, पाप और परमेश्वरका भय संसारसे उठ-सा गया है।

आदर्श-हीनता

प्रत्येक राष्ट्रोंके नागरिक यथेच्छाचारमें प्रवृत्त होकर कामी, विषयी, दुर्व्यसनी और उद्दण्ड हो-होकर उन्नतिके नामपर अधोगतिकी ही ओर जा रहे हैं। ज्ञानके सही-सही मार्गोंको छोड़कर थोड़े-से इन्द्रिय-सुखकी लिप्सासे, जरासे मनोरञ्जनके लिए मनुष्यसमाज आदर्श-विहीन हो गया है। चरित्रहीन देशी-विदेशी सिनेमास्टारोंकी नयी-नयी मनमानी वेशभूषा, और अश्लील आचरणोंसे प्रभावित होकर सभी युवक और युवतियाँ उन्हींको आदर्श मानकर संयम और सदाचारकी उपेक्षा

करते हुए कदाचारमें प्रवृत्त हो रहे हैं। झूठे और गन्दे उपन्यास, सिनेमाओंके व्यापक तुच्छ अश्लील प्रेमगीत छात्र और छात्राओंकी मनोवृत्तिको दूषित करते जा रहे हैं। इनपर नियन्त्रण और प्रतिबन्ध लगानेकी ओर किसी भी राष्ट्रशासककी प्रवृत्ति नहीं होती। चरित्रकी हानिसे नेताओंमें सुशासनकी क्षमता नहीं रह गयी है। घरोंमें, विद्यालयोंमें, शिक्षा-संस्थाओंमें, धर्म और ज्ञानके उपदेशोंके सभी स्रोत अवरुद्ध हो गते हैं। इसीकारण भारतीय गृहस्थाश्रमकी सर्वोत्कृष्ट मर्यादा भी अब दूषित होने लग गयी है। धर्म-निरपेक्ष युवा और युवतियोंकी सह-शिक्षा, सिनेमाओंके गन्दे और अश्लील प्रेमगीतोंके व्यापक प्रचारके कारण तथा नौकरियोंमें युवतियोंकी नियुक्तिका मार्ग प्रशस्त हो जानेसे अब यहाँके कुलीन स्त्री-पुरुषोंके चरित्रमें भी बड़ी हानि होने लग गयी है। पवित्र दाम्पत्य-जीवन और पारिवारिक एकताकी शृंखला भी समाप्त हो रही है। छात्रावस्थासे ही विदेशी भाषा, भ्रष्ट आचार, और मनचले लोगोंकी मनमानी वेशभूषाओंके अनुकरणोंसे युवा और युवतियोंमें विवेक, विनय और लज्जा आदि सद्गुणोंका ह्रास हो रहा है। बच्चोंका पालन-पोषण और लालन भी अब पवित्र मातृभावकी कमीसे, जैसा होना चाहिए वैसा, नहीं हो पा रहा है।

वैसे तो ज्ञान-वृद्धिके लिए नयी-नयी पुस्तकोंके सर्जनका भी व्यापक प्रचार हो रहा है और लेखक भी पुरस्कृत हो रहे हैं! परन्तु यह भी सब ज्ञानके नामपर अर्थोपार्जनके ही उपाय हैं। क्योंकि उत्कृष्ट मौलिक आधारके बिना मनगढ़न्त बातोंसे ज्ञानकी प्राप्ति कहांसे हो सकेगी? प्रतिवर्ष सहस्रों स्नातक नयी-नयी डिग्रियाँ ले-लेकरके डाक्टर, और डी० लिट् होते चले जा रहे हैं। और उनकी शोध-पुस्तकोंकी ढेरमें हमारे प्राचीन आर्षग्रन्थ दिनों-दिन दबते चले जा रहे हैं। उत्कृष्ट विद्या और ज्ञानके वैभवसे चमकनेवाले इस जगद्गुरु भारत-जैसे आर्यदेशकी जनतामें अविनय, अज्ञान, रागद्वेष, यथेच्छाचार आदि दुर्गुणोंकी वृद्धि होती चली जा रही है। ठीक ही है। बालक और युवकोंको जैसा आदर्श मिलता है, वैसे ही वे बन जाते हैं। सरकारें अपने यहाँके स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयोंमें छात्रोंको खेल-कूद, नाच-गाने, और घूमने-फिरनेकी शिक्षा तो खूब दे रही हैं, परन्तु उन्हें धार्मिक शिक्षा देनेमें शरमाती हैं। बल्कि धर्म और धार्मिकोंका तरह-तरहसे उपहास किया जाता है। इसी कारण लोगोंमें धर्म-निष्ठा, लोक-परलोक, पाप और परमेश्वरका भय हटता जा रहा है। इसीसे भविष्यमें देशका कर्णधार बननेवाला तरुणवर्ग दिनों-दिन अविनीत, अनुशासनहीन और संघर्षशील बनता जा रहा है।

सबसे अधिक चिन्ताका विषय यह है कि, अब हमारी अद्वितीय अक्षय-निधि

हमारे प्राचीन ग्रन्थों, ऋषि-महर्षियोंके सिद्धान्तों और उनके वचनामृतोंका मर्म समझनेवाले—समाज और राष्ट्रकी उन्नतिके ज्ञानके कौन-कौनसे विषय, किन-किन शास्त्रोंमें, कहाँ-कहाँ पर हैं, इन बातोंकी पूर्ण जानकारी रखनेवाले—संस्कृत-भाषाके मर्मज्ञ पण्डित अब केवल अङ्गुलिगण्य ही रह गये हैं। और संस्कृत-विद्याके भी पठन-पाठनका ढाँचा उसी विदेशी भाषाकी विकृत शिक्षा-पद्धतिके आधार पर ही हो जानेके कारण अब संस्कृतके स्नातकोंमें भी केवल पल्लवग्राही पाण्डित्य ही हो रहा है। पूर्ण पाण्डित्य नहीं रह गया है।

राष्ट्रभाषा

जिस दरिद्र और अपूर्ण भाषामें स्पष्ट उच्चारणके लिए स्वर और व्यञ्जन भी नहीं पर्याप्त हैं, जिसके लेखन और उच्चारणमें एकरूपता नहीं, जिसका कोई सही व्याकरण ही नहीं है, जिसमें मनुष्यकी मानवताके पूर्ण विकासके लिए विविध ज्ञानका भण्डार ही नहीं है, अर्थात् जिसके साहित्यमें मनुष्यको महामानव बना देनेवाली तत्त्वविद्या, अध्यात्मविद्या, दर्शनशास्त्र, सदाचार-विद्या एवं जीविका-विद्याका अत्यन्ताभाव है, जिसमें जननीके समान जगत्का पालन-पोषण करने-वाली पवित्र राजनीति-विद्याका स्पर्श तक नहीं है, जिसका प्रचार और विकास अभी-अभी केवल सौ-सवासौ ही वर्षोंका है—वह अनार्य अंग्रेजोंकी मातृभाषा हमारे इस विशाल वैदिक आर्यराष्ट्रकी राष्ट्रभाषा बनी बैठी है। संविधानमें हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हो जानेपर भी नेताजनोंके पारस्परिक कलह एवं विदेशियोंकी कूटनीतिसे अभीतक हमारी भाषा राष्ट्रभाषा नहीं बन पा रही है, यह हमारे इस आर्यराष्ट्रके लिए कितने कलङ्क और दुर्भाग्यकी बात है ?

अंग्रेजी भाषा अत्यन्त ही क्लिष्ट और निःस्सार मनगढ़न्त भाषा है। इसमें मानवको पूर्णमानव बनानेवाली विद्याओंका नितान्त अभाव है। इस भाषाका हमारी भाषाओंके समान कोई भी मौलिक प्रामाणिक आर्ष आधार ही नहीं है। इसकी दूषित शिक्षा-दीक्षा ही मुख्यतया हमारे राष्ट्रके उत्थानमें बाधाएँ उपस्थित कर रही है। इसीके अत्यधिक प्रचारने हमारे विशुद्ध ज्ञान, विज्ञान और संस्कृतिके विश्व-व्यापी बननेमें अवरोध कर रखा है। इसीके कुत्सित परिणामोंके कारण ही आज भी हमारा देश पनपने नहीं पा रहा है। इसीने हमारे स्वाभिमान और स्वावलम्बनकी भावनाओंको दबा रक्खा है। अतः हमारे राष्ट्रोत्थानके लिए हमारी शिक्षा-संस्थाओं और शासन-संस्थाओंसे इसे शीघ्र हटा कर—हिन्दी भाषाको शीघ्रातिशीघ्र राष्ट्रभाषाका व्यापकरूप देना नितान्त आवश्यक है।

ज्ञानके मुख्यतया चार स्रोत हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।

आज विश्वमें इन चारोंका ही अभाव हो गया है। इसमें भी दण्डनीति अर्थात् राजनीतिका तो इतना ह्रास हो गया है कि, जगद्गुरु भारतके नेता-जनोंमें भी राजविद्याके विषयमें इतना अधिक भ्रम फैल गया है कि वे लोग राजनीतिको धूर्तता और षड्यन्त्र समझकर, अपने ही दोषोंसे उत्पन्न हुए तरह-तरहके वर्ग और वादोंके सङ्घर्षोंसे त्रस्त होकर अपनी अयोग्यता छिपानेके लिए—

"छात्र और अध्यापक राजनीतिसे अलग रहें ? शिक्षा-संस्थाएँ राजनीतिका अड्डा न बनें ? जनता राजनीतिसे अलग रहे ? गुरुजन छात्रोंकी समस्याओंका हल निकालें ? युवा और युवतियोंमें व्याप्त असन्तोषका समाधान ढूँढा जाय ? विज्ञानसे ही विश्वमें सुख शान्ति सम्भव ? वैज्ञानिक लोग सुख-शान्तिका उपाय ढूँढ निकालें ?"

—इत्यादि तरह-तरहकी बातें बोलकर समाजमें राजनीतिका उपहास करते हुए उसका मखौल उड़ाया करते हैं। और सत्-शिष्योंके समान उनके ऐसे वचनामृतोंको पत्रकार और सम्पादक-जन अपने-अपने पत्र-पत्रिकाओंमें बड़ गौरवके साथ छाप-छाप कर जनताकी सेवामें तुरन्त ही प्रस्तुत कर देते हैं।

परन्तु वस्तु-स्थिति अर्थात् वास्तविकता, इन बातोंसे सर्वथा विपरीत है। सब विद्याओंका सार राजनोति विद्या है। राजनीति ही मानव-समाजको चतुर्वर्गके सम्पादनमें प्रवृत्त करती है। अतः इस विद्याका क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। इसका ज्ञान केवल शासकों-तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, अपितु प्रत्येक मानवके लिए इसको जानना अनिवार्य होता है। दण्डनीति अर्थात् राजनीति सम्पूर्ण प्राणियोंके पालन-पोषण, रहन-सहन और सुख-शान्तिकी व्यवस्थाके उपायोंका ज्ञान करा देनेवाली राजविद्या है। वह सब विद्याओंकी राजा है और सब ज्ञानोंका सार है। इसीलिए पितामह भीष्मने कहा है कि—

'उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥'
(म० भा०, शा० ५०५९–७६)

अतः राजनीतिका ज्ञान भी प्रत्येक कुटुम्बीके लिए अत्यावश्यक है। क्योंकि वह अपने परिवारका, कुटुम्बका, एक छोटा-सा राजा है। कुटुम्बका पालन-पोषण और उसका संयमन करना, उसे चरित्रवान् बनाये रखना प्रत्येक कुटुम्बीके लिए अनिवार्य होता है। अत एव प्रत्येक व्यक्तिको भी अपने व्यवहारकी सफलताके लिए राजनीतिको जाननेकी आवश्यकता पड़ती है।

इसीलिए याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी मिताक्षरा-टीकामें श्रीविज्ञानेश्वराचार्यने कहा है कि—'राजनीतिका ज्ञान केवल शासकोंके लिए ही नहीं, अपितु सभी मनुष्योंके लोक-व्यवहारोंमें भी वह परम उपयोगी है। साम, दान, भेद और दण्ड—ये चार उपाय केवल एक राज्य-व्यवस्थाके लिए ही नहीं बतलाये गये हैं, बल्कि ये उपाय मनुष्योंके सभी लौकिक व्यवहारोपयोगी हैं। क्योंकि अपने कुटुम्बका भी सञ्चालन इनके बिना ठीक तरहसे नहीं हो सकता—

'एते सामादयो न केवलं राज्यव्यवहारविषयाः,
अपि तु सकललोकव्यवहारविषयाः।'
(या० व० स्मृ० १–३४६ मिताक्षरा)

अत एव इनकी आवश्यकता प्रत्येक कुटुम्बीके लिए अनिवार्य हो जाती है। और बातें तो जाने दीजिये, छोटे-छोटे बच्चोंको भी पढ़ाने—लिखाने, विनीत और साक्षर बनानेमें साम, दान, भेद और दण्ड—इन चार उपायोंका प्रयोग करना ही पड़ता है। इनके प्रयोगका एक संक्षिप्त नमूना एक छोटेसे पद्यमें क्रमशः देखिये। एक पिता अपने पुत्रसे कह रहा है कि—

'अधीष्व पुत्रकाधीष्व, दास्यामि तव मोदकम्।
यद्वाऽन्यस्मै प्रदास्यामि, कर्णमुत्पाटयामि ते॥'
(मिताक्षरा, या० स्मृ० १–३४६)

अर्थात् पढ़ो बेटा, पढ़ो [प्रियवचन—साम]। पढ़ो, मैं तुमको यह लड्डू दूँगा ? [दान]। यदि तुम न पढ़ोगे तो फिर इस लड्डूको किसी दूसरेको दे दूँगा ? [भेद]। यदि तू न पढ़ेगा तो मैं तेरा कान उखाड़ डालूँगा ? [दण्ड]। कैसा सुन्दर, सरल, और सरस यह तरीका है—कार्य-सम्पादन करानेका ?

वस्, यही पद्धति छोटे-से लेकर बड़े-बड़े शासकों तक सबके लिए उपयोगी होती है। इस रीतिसे जिसमें अपने कुटुम्बका अनुशासन करनेकी सही-सही क्षमता आ जाती है, वही व्यक्ति फिर अपने पूरे ग्रामका भी शासन अच्छे ढङ्गसे कर सकता है। गाँव क्या है ? एक जगह रहनेवाले दस, बीस कुटुम्ब ही गाँव कहलाते हैं। अत एव इस तरह निष्पक्ष होकर न्यायतः सच्चाईसे, अपने ही कुटुम्बकी तरह राग-द्वेष और पक्षपातसे रहित पुरुष बड़े-बड़े समाजपर शासन करते-करते अन्तमें प्रान्त, राज्य और फिर सारे ही राष्ट्रका भी शासन कर सकनेमें पूर्ण क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। यही प्राचीन नृपतन्त्रका सिद्धान्त रहा।

आज इस लोकतन्त्रमें राजनीतिके पठन-पाठनकी समुचित प्रणाली तो सब लुप्त हो गयी हैं। किसी भी राष्ट्रमें शासकोंके लिए शासन प्रणालीकी योग्यताका

न तो कोई मौलिक कोर्स ही नियत है और न उसका कोई मापदण्ड ही है। सभी देशोंमें निराधार मन-गढ़न्त सिद्धान्तोंके आधारपर मनमानी रीतिसे प्रजा-शासन चल पड़ा है। और उसी पद्धतिका अनुसरण अपने यहाँ भी चल पड़ा है। इसीलिए राष्ट्रोत्थानका सही-सही प्रकार लोगोंको भासता ही नहीं है। राष्ट्रके अभ्युदयके विषयमें यहाँके कतिपय नेता अन्य राष्ट्रोंका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि—'रूस, जर्मनी और जापानने महायुद्धसे बर्बाद हुई अपनी अर्थ-व्यवस्था जो फिरसे खड़ी कर ली,—उसका श्रेय वहांकी जनताके चरित्र और श्रमको है।

यह बात सत्य है। परन्तु हमारे विचारशील नेताओंको यह बात भी अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिए कि उन राष्ट्रोंने अपनी वह उन्नति अपने निष्पक्ष, कर्मठ और—निःस्वार्थी नेताओंके चरित्र और ईमान्दारीके ही बलपर खड़ी की है। सच्चे नेतृत्वके बिना किसी भी राष्ट्रने न तो आजतक कहीं कोई उन्नति की है और न भविष्यमें कभी कोई राष्ट्र कर पायेगा। अस्तु।

कुछ उच्चकोटिके नेताओंका यह भी मत है कि—"मनुष्यके व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवनको मिलाना नहीं चाहिए।" यह कितनी दम्भभरी बात है? मनुष्यका जैसा व्यक्तिगत जीवन होता है, वैसा ही उसका व्यवहार भी होता है। जो व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवनमें आचारपूत न होगा, वह अपने सार्वजनिक जीवनमें चरित्रवान् कहांसे हो जायेगा? चरित्रके ही प्रभावसे तो लोग महान् बनते हैं। चरित्रके ह्राससे ही अनाचार और भ्रष्टाचारका प्रचार बढ़ता है। ऐसी अवस्थामें आत्मसंशोधन किये बिना राष्ट्रका संशोधन कैसे हो सकता है? राष्ट्रके नागरिकोंको बलवान् और चरित्रवान् तभी बनाया जा सकता है जबकि उनमें धर्म, सदाचार, संयम और देशप्रेमकी भावनाएँ भरी जांय? धर्मभीरुता, पापका भय, शुद्ध व्यवहार और अपनी उत्तम संस्कृतिका प्रसार ही राष्ट्रोंकी उन्नतिका कारण होता है। इन गुणोंके बिना किसी भी राष्ट्रकी उन्नति कथमपि नहीं हो सकती।

फिर भारतकी जैसी सच्ची, परिश्रमी, भोली-भाली और ईमान्दार जनता तो आज भी, संसारके किसी उन्नत राष्ट्रमें, ढूँढनेपर भी नहीं मिलेगी! तब भी यह राष्ट्र निर्भय होकर जो अपनी समुचित उन्नति नहीं कर पा रहा है, इसका प्रमुख कारण यही है कि यहांके कतिपय नेता और शासक प्रायः दम्भी, दुराग्रही और वर्गवादी बन गये हैं। यह सब दोष हमारी पुरातन राजनीतिविद्याके अज्ञान और उच्चकोटिकी धर्मशिक्षाके अभावका ही दुष्परिणाम है। आज हमारे राष्ट्रमें तरह-तरहके बर्ग और वाद उत्पन्न होकर, परस्पर संघर्ष मचाते हुए राज्यकी

शासन-व्यवस्थाको जो सुस्थिर नहीं होने दे रहे हैं, इसमें भी हमारी असफलताका मुख्यकारण हमारी विशुद्ध पुरातन राजनीतिका अज्ञान ही है। शासकोंमें चरित्रबल और आत्मबलकी कमी, दुर्गुण और दुराचार आदि दोषोंकी उत्पत्ति—यह सब राजनीतिके अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं। और जनतामें लोभ, क्षीणता, औदासीन्य, शासकोंपर अविश्वास और विरक्ति आदि सब दोष भी शासकोंकी ही अयोग्यताके कारण उत्पन्न होते हैं। इसीलिए राजनीतिके महान् मर्मज्ञ महर्षि शुक्राचार्यने स्पष्ट कह दिया है कि—

'भिन्नं राष्ट्रं बलं भिन्नं भिन्नोऽमात्यादिको गणः।
अकौशल्यं नृपस्यैतद्-अनीतेर्यस्य सर्वदा ॥'
(शु० नी० ३ अ०)

'अर्थात् राष्ट्रका छिन्न-भिन्न हो जाना, पुलिस, पलटन और सेनानायकोंमें फूट एवं मन्त्रिमण्डलमें परस्पर ऐकमत्य न होकर आपसमें वैमत्यका हो जाना—यह सब शासककी ही अकुशलता है। क्योंकि ये सब दोष उसीकी अनीतिके कारण उत्पन्न होते हैं।'

इसीलिए महर्षि कौटल्यने अपने अर्थशास्त्रमें कहा है कि—राज्यके शासनको अस्थिर अर्थात् डावाँडोल करके जन-विद्रोह मचाकर राष्ट्रको जर्जरित कर देनेवाले मुख्य-मुख्य [1]तीस कारण हैं, उन्हें अच्छी-तरहसे समझकर—जनताके मनमें शासन और शासकके प्रति अश्रद्धा, विद्रोह, द्वेष, अविश्वास और उदासीनताका भाव नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए और यदि ये दोष उत्पन्न हो जायँ तो इनका निराकरण तत्काल करना चाहिए—

'तस्मात् प्रकृतीनां क्षय-लोभ-विराग-कारणानि
नोत्पादयेत्, उत्पन्नानि च सद्यः प्रतिकुर्वीत।'
(कौ० अर्थशास्त्र—७ अधि०)

राजनीतिका मुख्य उद्देश्य

राजनीतिका प्रधान उद्देश्य है—प्रत्येक मानवको पूर्णतया सुशिक्षित अर्थात् चरित्रवान् बनाकर पुरुषार्थोंके सम्पादनमें प्रवृत्त कराना। यह बात 'राजनीति' शब्दमें जुड़े हुए 'नीति' शब्दसे ही सुस्पष्ट हो जाती है। नीति-शब्दकी व्युत्पत्ति

१—देखिए, कौटल्य-अर्थशास्त्र ७ अधिकरण, पाँचवें अध्यायके श्लोक २१५ से २२३ तक

है—'नयति इति नीतिः' अथवा 'नीयते पुरुषार्थफलाय सर्वं जगद् यया सा नीतिः।'

अर्थात् जो विद्या तरह-तरहकी अपनी युक्तियोंद्वारा इस सारे जगत्को, प्रत्येक मानवको उसके प्रधान उद्देश्योंकी ओर अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सम्पादनमें—सही-सही मार्गमें, ले चले, उसका नाम है—नीति। और राजा अर्थात् प्रजा-शासककी ऐसी जो नीति है, उसका नाम है—राजनीति—

'राज्ञो नीतिः राजनीतिः।'

चूँकि, पुरुषार्थोंका सम्पादन करना ही प्रत्येक मानवके जीवनका प्रधान उद्देश्य है और मानव-समाजकी इन आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिए तरह-तरहकी अपनी युक्तियोंद्वारा उन्हें सही-सही मार्गपर ले चलना ही 'राजनीति'का प्रधान उद्देश्य है। इसीलिऐ हमारे पुरातन धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, इतिहास और पुराणोंमें सर्व-प्रथम 'पुरुषार्थ' और उनके उपायोंका ज्ञान करानेवाली 'विद्याओं'का ही निरूपण किया गया है। इसीलिए देवगुरु आचार्य बृहस्पतिने अपने अर्थशास्त्रमें त्रिवर्ग-(अर्थात् धर्म, अर्थ और काम-) की प्राप्तिको ही नीतिका फल बतलाया है—

'नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः।' (बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र २ अ० ४३)

त्रिवर्गके सिद्ध हो जानेपर चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) तो फिर अपने आप ही स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतएव मनुष्योंसे उनके पुरुषार्थोंका सम्पादन करा देना ही राजनीतिका प्रधान उद्देश्य होता है। इसीलिए श्रीसोमदेव सूरीने अपने 'नीति-वाक्यामृत' में मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थके आदिमें अपने गुरु, देवता या ईश्वर, किसीको भी नमस्कार न करके—मनुष्योंके पुरुषार्थको सुलभ कर देना ही राज्यका प्रधान उद्देश्य मानकर, पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें राज्यका बहुत बड़ा महत्व समझकर, राज्यको ही नमस्कार किया है—

'अथ धर्मार्थकाममोक्षफलाय राज्याय नमः।'
(नी० वा० धर्म–समुद्देश)

सारांश, जो विद्या तरह-तरहकी अपनी युक्तियोंसे सम्पूर्ण राष्ट्र और राष्ट्रके निवासियोंका पालन-पोषण करती हुई मानव-समाजको सुख और सुख-साधनोंकी ओर ले चले—उस विद्याको 'राजनीति', 'दण्डनीति' अथवा 'पालन-विद्या' कहते हैं। इस विषयमें बृहद्-विवेचन, हमने शीघ्र प्रकाशित होनेवाली अपनी अगली पुस्तक–'विद्या-चतुष्टयी'में किया है। प्रस्तुत पुस्तक उसीकी पूर्व-पीठिका है। अस्तु।

इस पुस्तकमें मुख्यतया राजनीतिके प्रधान उद्देश्यको ही आधार मानकर चार पुरुषार्थोंका विवेचन किया गया है। अतएव प्रस्तुत-पुस्तकका मुख्य विषय पुरुषार्थ और उनका विवेचन है। इसमें प्रत्येक पुरुषके लिए चार पुरुषार्थोंकी उपादेयता अनिवार्य बतलाकर तरह-तरहके प्रमाणोंसे उनके उपार्जनके उपायोंका निरूपण करते हुए शास्त्रोक्त वचनोंके द्वारा उन्हें पुष्ट किया गया है। इसीलिए प्रस्तुत पुस्तकका नाम भी 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' रक्खा गया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों ही विषयोंका सर्वाङ्गीण एवं समन्वयात्मक विवेचन इसमें है।

इसमें वेदसे लेकर अर्वाचीन महापुरुषोंतकके वचनामृतोंके आधारपर चारों पुरुषार्थोंके लक्षण और उनकी परिभाषा एवं उनकी उपादेयता और उनसे होनेवाले फलोंका क्रमशः एक संक्षिप्त सर्वाङ्गीण प्रामाणिक विवेचन है।

धर्म और नीतिके विषयमें आज विश्वभरकी जनता इतनी भ्रान्त हो रही है कि उनका नाम भी सुनना सम्भ्रान्त पुरुषोंको अच्छा नहीं लगता। सभी लोग अर्थ और कामको ही अपने जीवनका ध्येय मानकर उन्हींके उपासक बन गये हैं और भ्रष्ट अर्थात् अवैध उपायोंसे उन्हें अपनाना चाहते हैं। मोक्षकी तो चर्चा ही कौन करे? यति अर्थात् संन्यासी भी आजकल व्यवहारको ही परमार्थ समझने लग गये हैं। राजनीतिका दम्भ भरनेवाले तो 'निज अज्ञान रामपर धरहीं' के अनुसार धर्म और नीतिको धूर्तता और षड्यन्त्र मानकर उन्हें राष्ट्रोन्नतिमें बाधक समझते हैं। इसीसे आज प्रत्येक राष्ट्र पतनोन्मुख होता चला जा रहा है।

धर्म और नीति कोई भी मजहब नहीं है। वह प्रत्येक जाति और प्रत्येक राष्ट्र-वालोंके लिए अत्यावश्यक उपादान है। पुरातन योगारूढ ऋषि-महर्षियोंने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा धर्म-अधर्म और उनके मूलस्रोत—सत्-असत् आचरणोंका परस्पर कार्य-कारण-भाव प्रत्यक्ष देखके, दयार्द्र होकर जीवोंके उद्धारके लिए अपने-अपने शास्त्रोंमें इनका निरूपण कर दिया है। लोभ, प्रलोभन या किसीको प्रतारण करनेकी भावनासे उन्होंने अपनी कृतियोंमें अपनी ओरसे कोई भी मन-गढ़न्त बातें नहीं लिखी हैं।

मनुष्योंके लिए कर्मोंका विधान धर्म और जीविकोपार्जनके लिए किया गया है। अर्थात् मनुष्योंके लिए कुछ कर्म तो धर्मोपार्जनके लिए विहित हैं और कुछ जीविकोपार्जनके लिए। तथा कुछ ऐसे भी कर्त्तव्य हैं, जिनसे कि धर्म और जीविका—दोनों ही उपार्जित होती हैं। जैसे कि ब्राह्मणके लिए याजन, अध्यापन और विशुद्ध प्रतिग्रह। क्षत्रियके लिए प्रजाका परिपालन और राष्ट्रकी सुरक्षा एवं

शूद्रके लिए समाजसेवा। धर्मके ह्रासका प्रमुख कारण है—सदाचारका परित्याग। सदाचारके परित्यागका कारण है—अनार्योंकी, हीन आचरणवालोंकी सङ्गति। अत एव विवेकियोंको चरित्रहीन लोगोंकी सङ्गति कदापि नहीं करनी चाहिए। इसीलिए शास्त्रकारोंने कहा है कि—बुद्धिमानोंको चाहिए कि वे अहङ्कारी, मूर्ख, क्रूरकर्मा, दुष्कृत्य करनेवालों और धर्माचरणसे हीन व्यक्तियोंसे मित्रता न करें—

'अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्र-साहसिकेषु च।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः॥'

ऐसे व्यक्तियोंकी सङ्गतिसे ही लोगोंको धर्म और नीतिपर अनास्था हो जाती है। धर्म और नीतिकी अवहेलना अपनी उन्नतिकी अवहेलना है। यह सब हमारे प्राचीन शास्त्रोंके पठन-पाठन और अधिकाधिक प्रचार न होनेका ही कुपरिणाम है। विश्व-मानवको सही-सही बातोंका ज्ञान ही नहीं है, और हमारे शास्त्रोंके बिना सच्ची बातोंका ज्ञान भी कौन करा सकता है? हमारे वेद, उपनिषद्, दर्शन, गीता और इतिहास-पुराणोंकी जोड़ीका कोई एक भी ग्रन्थ विश्वके किसी साहित्यमें क्या कहीं है? आज विश्व-मानव केवल विज्ञानकी ही चकाचौंधमें मोहित हो रहा है। परन्तु विवेकियोंको यह बात भी स्मृतिमें रखनी चाहिए कि विज्ञान 'विद्या' नहीं है, वह 'कला' है। विद्या और चीज है, कला और है—इन दोनोंमें, धरती और आसमानके समान, बड़ा अन्तर है। इसका विशद विवेचन हम अगली पुस्तक 'विद्या-चतुष्टयी'में विस्तारसे करेंगे। अस्तु।

वास्तवमें किसी भी मनुष्य और राष्ट्रका उत्थान धर्मके बिना कथमपि सम्भव नहीं है। कोई भी मनुष्य या राष्ट्र जब किसी भयङ्कर विपत्तिमें पड़ जाता है तो धर्म ही उससे उसका उद्धार कर सकता है। और कोई भी शक्ति धार्मिक राष्ट्रका बाल बाँका नहीं कर सकती है—

'अपारे व्यसनाम्भोधौ पतन्तं पाति देहिनम्।
सदा सविधवर्त्यैक- बन्धुर्धर्मोऽतिवत्सलः॥
रक्षोयक्षोरगव्याघ्र- व्यालानलगरादयः।
नापकर्तुमलं तेषां यैर्धर्मः शरणं श्रितः॥'
(यो० शा० ४–४५,१०१)

मनुष्य-जीवनके तीन अर्थ अर्थात् अभीष्ट फल और एक परम अर्थ यानी सर्वोच्च फल बतलाये गये हैं। इनमें भी परम अर्थके लाभके लिए ही इतर तीन अर्थोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है। यह परम अर्थ ही चतुर्थ-पुरुषार्थ (मोक्ष) है। धर्म, अर्थ और काम—ये तीन उसके साधन हैं। इन्हींका नाम

'त्रिवर्ग' है। इस त्रिवर्गके साथ मोक्षको जोड़-देनेसे यही चतुर्वर्ग कहलाता है। यही मनुष्योंके चार पुरुषार्थ हैं। इनका यथोचित सम्पादन करना ही मानव जातिका मुख्य उद्देश्य माना गया है। इसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिए हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षि, देवर्षि और राजर्षियोंने धर्म-शास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और राजशास्त्रोंकी रचना प्राचीन कालमें ही समय-समयपर की है। उन्हीं समुद्रकी भाँति गम्भीर ग्रन्थोंके आलोडनसे उत्पन्न नवनीत प्रस्तुत कृतिकी सम्पदा है।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी-भाषाको, अर्थात् अपनी राष्ट्रभाषाको उपहार देनेके लिए आजसे २३ वर्ष पूर्व ही लिखी जा चुकी थी। परन्तु तभीसे हमारी राष्ट्रभाषाके विषयमें तरह-तरहके कुतर्क, वैमत्य और कलहोंकी भरमार हो रही है। अतः विद्वानोंमें गुण-ग्राहिताका अभाव और ईर्ष्यालुता आदि दुर्गुणोंकी वृद्धि, राष्ट्रभाषा-की अवहेलना और देशकी वर्तमान दुरवस्थाओंको देखते-देखते अनुत्साहित हो जानेसे कतिपय लिखित उपयोगी साहित्य भी आजतक प्रकाशित नहीं हो पाया। और पूर्वनिश्चित ग्रन्थोंके लेखनका कार्य भी सब अधूरा ही रह गया।

सौभाग्य-वश हमारे उत्तराखण्डके महामनीषी, महर्षिकल्प श्रीमान् पण्डित महेशानन्दजी घिल्डियाल-[भूतपूर्व सेक्रेटरी, पब्लिक-सर्विस कमीशन, उत्तर-प्रदेश] महोदयने इधर कईबार मेरे लिखेहुए इन पुस्तकोंके कतिपय अंशोंको पढ़-सुनके प्रसन्न होकर, वर्तमान-समयमें इनकी अतीव उपयोगिता बतलाते हुए कई बार नवीन-नवीन प्रेरणा दे-देकरके मुझे इन पुस्तकोंको प्रकाशित करनेको प्रोत्साहित किया। उन्हीं महानुभावोंकी सत्प्रेरणासे गुणग्राही पाठकोंके सम्मुख सर्वप्रथम प्रस्तुत-पुस्तक प्रस्तुत की जारही है।

इसमें अपनी ओरसे कोई भी मन-गढ़न्त बात नहीं लिखी गयी है। जो कुछ भी इसमें लिखा गया है, वह सब हमारे पुरातन ज्ञान-निधि ऋषि-महर्षि, महाकवि और शास्त्रकार एवं सन्त-महात्माओंके ही वचनामृतोंको चुन-चुनकर उन्हें यथोचित स्थान देकर धर्म और नीतिके विषयमें उठीहुई आशङ्काओंका सही समाधान करनेका कुछ प्रयत्न किया गया है। चतुर्वर्गमें भी धर्म ही सबका मूल है। इसीलिए धर्मके विषयमें सबसे अधिक बातें लिखी गयी हैं। संक्षेप करनेपर भी ग्रन्थका आधास्थान धर्मने ही ले लिया है और शेष आधे-भागमें अर्थ, काम और मोक्षके विषयोंका निरूपण है। इतनेपर भी कुछ और विशेष आवश्यक बातें रह ही गयी हैं। यदि गुण-ग्राही अध्येता पुस्तकका समादर करेंगे तो दूसरे संस्करणमें इसमें कुछ और भी प्रमुख विषयोंका समावेश किया जायगा। अस्तु।

आभार

जगज्जननी संस्कृत-विद्या और उसके अनन्य उपासक ऋषि-महर्षि एवं प्रत्येक शास्त्रकारों तथा कवीश्वरोंका तो मैं जन्म-जन्मान्तरसे ही अधमर्ण हूँ। इनके अतिरिक्त जिन-जिन महापुरुषों और विद्वानोंकी कृतियोंसे प्रभावित होकर मैं इस पुस्तकको लिखनेमें प्रवृत्त होकर कुछ अंशमें सफल हुआ—उन सभी पुण्यात्माओंका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

इसके साथ ही इसके प्रकाशनमें आर्थिक सहयोग देकर मुझे उत्साहित करके भी अपना नाम और परिचय देनेकी अनुमति न देनेवाली उस पुण्यमयी उदार-चेता और धर्मप्राण माताजीका भी मैं बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने इस पुस्तकको गुणग्राही पाठकोंके सामने प्रस्तुत करनेमें सहायता की। भगवान् हमारे राष्ट्रमें ऐसे पुण्यात्माओंकी अभिवृद्धि करें।

अन्तमें जिनके कृपा-प्रसादसे मैं अपनी पवित्र, पुरातन विद्याके अध्ययन और अध्यापनमें प्रवृत्त होकर अपनी विद्याकी महिमाको यत्किञ्चित् जान सका हूँ, उन अपने माता-पिता, सद्गुरु और पार्वती-परमेश्वरका मैं जन्म-जन्मान्तरके लिए ऋणी होकर, उनके चरणाम्बुजोंमें अपनी करबद्ध श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

विनीत—

प्रेमवल्लभ त्रिपाठी
अध्यक्ष,
धर्मशास्त्र एवं कर्मकाण्ड-विभाग,
वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय,
वाराणसी

गीता-जयन्ती,
संवत् २०२७
(८-१२-१९७०)

पुरुषार्थ-चतुष्टय

[धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयोंमें शास्त्रोंका गम्भीर अध्ययन]

अनुक्रम :—

●

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
व्युत्पात्ति	व्युत्पत्ति	८	१७
अर्यात्	अर्थात्	,,	१८
रहनेवाले	रहनेवाला	१०	६
इनसे	उनसे	,,	१२
विद्ज्जन	विद्वज्जन	१३	१०
कामोक्षौ	काममोक्षौ	२०	१६
न्नयूता	न्यूनता	२५	३
व्यभिचग्ति	अव्यभिचरित	२७	५
दृथिव्यौ	पृथिव्यौ	,,	२५
हीनद्रुः । हीनदुः	हीनद्रूः । हीनद्रूः	४७	२३
वी०	नी०	५०	टिप्पणीमें
भा।	भाव	७८	२८
ररभते	रारभते	८९	९
यतार्थं	यार्थं	९७	२३
श्रम-म	श्रम	१०२	१८
उत्तराङ्ग	उत्तराध्ययन	१०३	२३
अर्धाचरण	अधर्माचरण	१२०	१४
ण्डे धर्मनि	ण्डैर्धर्मनि।	१४१	१४
ससार	संसार	१४६	१०
विडम्बम्	विडम्बनम्	३९७	८

●

मङ्गलाचरणम्

(१)

सिद्धिप्रदोऽखिलसुरासुरवृन्दवन्द्यो
निघ्नन् प्रचण्डकरदण्डखराभिघातैः ।
विघ्नान्, प्रसन्नवदनो वदनेऽम्बिकाया
दत्ताङ्गुलिर्विजयते शितिकण्ठसूनुः ।

(२)

वीणा-निक्वाणलीनाङ्गुलिरपि सहसाकृष्टचित्ता गुणेषु
वाग्देवी नृत्यतीव द्रुतपदगमना यन्मुखाब्जे स्मिताढ्ये ।
शान्त्येर्ष्यो वादिवृन्दः प्रणमति पुरतो यस्य तं स्रग्धराभि-
र्देवीभिर्वन्द्यमारादहमहमिकया पाणिपात्रं नताःस्मः ॥

(३)

विघ्ना द्रुतं व्रजत रे, मम सन्निधानाद्
युष्माकमस्ति मयि नात्र रुषोऽवकाशः ।
पूर्णप्रसादसुमुखः करपात्रभिक्षुः
सानुग्रहोऽस्ति मयि सम्प्रति दण्डहस्तः ॥

(४)

हस्ते मनस्यपि च वाचि गृहीतदण्डो
युष्मान् विनेष्यति दयालुरपि त्रिदण्डी ।
आबाल्यतः प्रतिदिनं यदहं विपन्नः,
युष्मत्प्रताडिततनुर्ननु तं प्रपन्नः ॥

(५)

एकस्य यस्य सकलः करणानपेक्ष-
ज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपञ्चः ।
पश्यञ् जगत् करतलामलकीफलाभं
लाभं स पुष्यतु परं परमेश्वरो नः[1] ॥

(६)

शश्वत्पुण्यहिरण्यगर्भरसना-सिंहासनाध्यासिनी
सेयं वागधिदेवता वितरतु श्रेयांसि भूयांसि नः ।
यत्पादामलकोमलाङ्गुलिनख-ज्योत्स्नाभिरुद्वेलितः
शब्दब्रह्मसुधाम्बुधिर्बुधमनस्युच्छृङ्खलं खेलति[2] ॥

(७)

धर्मादितत्वनिगमाय पुरातनानि
श्रुत्यादिशास्त्रवचनान्यवलम्ब्य सम्यक् ।
ग्रथ्नामि मानव-समाजसुखाभिलाषी
स्वान्तःसुखाय चतुरः पुरुषार्थभेदान् ॥

(८)

विद्यागुणविहीनेऽपि वात्सल्यं मयि यस्य सः ।
कोऽपि देवः कृपां कुर्यात् करुणावरुणालयः ॥

१—स्तुतिकुसुमाञ्जलेः । २—प्रकीर्णकः ।

विषय-प्रवेश

'धर्मार्थकाम इति यो ऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता ।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥'

(श्रीमद्भागवत-७-६-२६)

पुरुष और पुरुषार्थ

अर्थात्

मानव-समाज और उसकी इच्छाके प्रधान विषय

●★●

पुरुष

'पुरुष'-शब्दकी व्युत्पत्ति है—'**पूः = पुरं, शरीरं च । पुरि शेते इति—पुरुषः ।**' अर्थात् जो इस पुरमें—शरीरमें सोया हो, प्रवेश किया हो, शरीरमें अवस्थित हो, उस चैतन्यांश जीवको 'पुरुष' कहते हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार पुरुष शब्दका यौगिक अर्थ तो जीवमात्र है। किन्तु '**पुरुषत्वे चाविस्तरामात्मा ।**' '[1]**पुरुषत्वे च मां धीराः ।**' '**बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी[2] प्रिया ।**' '**पुरं [3]पुरुषमात्मवान् ।**' इत्यादि प्रसङ्गोंमें योग-रूढ़िके अनुसार पुरुष-शब्द मुख्यतया मनुष्यवाची है। अतः ऐसे शास्त्रीय प्रसङ्गोंमें पुरुष शब्दका अर्थ जीव-साधारण न होकर मनुष्य होता है। इसके अनुसार 'पुरुषार्थ' पदमें जुड़ा हुआ पुरुष शब्द मनुष्यवाची है। इसलिए यहाँ पुरुष शब्दका अर्थ—मनुष्य अर्थात् नर-नारी है।

पुरुषार्थ

'**अर्थ्यते प्रार्थ्यते सर्वैः इति अर्थः**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अभिलषित फलको (विषयोंको) अर्थ कहते हैं। और '**पुरुषाणाम् अर्थः पुरुषार्थः ।**' अथवा—'**पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः ।**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो पुरुषोंसे चाहा जाय, अर्थात् मनुष्य जिस फलकी इच्छा करें, उसका नाम है—'पुरुषार्थ ।' इस दृष्टिसे तो प्रायः संसार-भरके सभी विषय पुरुषोंके अभिलषित हैं, परन्तु वेद, शास्त्र एवं तदितर सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मयमें पुरुषके—मनुष्य-जीवनके, सभी अभीष्टोंमें मुख्य अभीष्ट केवल चार ही बतलाये गये हैं। अतः मनुष्यके जो प्रधान अभिलषित विषय हैं, उन्हें पुरुषार्थ कहते हैं। ये अभिलषित चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अतः इन्हींको चार पुरुषार्थ कहते हैं। इनके सम्पादन करनेकी शक्ति केवल [4]पुरुषमें ही विद्यमान है, अतः सभी जीव इनका

१—श्रीमद्भागवत—११-७-२१। २—७-११-२२। ३—३-२०-५०।

४—अर्थात् मनुष्यमें।

सम्पादन नहीं कर सकते हैं। केवल पुरुष ही (मनुष्य ही) इनका सम्पादन कर सकते हैं। इसीलिए इन्हें [1]"पुरुषार्थ' कहा जाता है।

सारांश, पुरुष अर्थात् मनुष्य यानी सभी नर-नारी जिन-जिन सुख और सुखके साधनोंकी विशेष अभिलाषा करते हैं, उनको पुरुषार्थ कहते हैं। वास्तवमें मनुष्य संसारमें उत्पन्न होकर जो भी चाहता है, उन सभीका लक्ष्य इन चारोंमें-से कोई न कोई होता है। कोई मनुष्य धर्मको लक्ष्यकरता है, कोई कामकी सिद्धिको चाहता है, और कोई मोक्षकी अभिलाषा करता है। भगवान् उनकी इच्छानुसार उन्हें यह चतुर्वर्ग फल प्रदान करते हैं।

'पुंसाममायिनां सम्यग् भजतां भाववर्धनः।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद् धर्मादिषु देहिनाम् ॥'
(श्रीमद्भाग० ४-८-६०)

अतः जगत्में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चतुर्वर्ग ही समस्त पुरुषों (मनुष्यों) की सम्पूर्ण चेष्टाओंका लक्ष्य है।

केवल पुरुष ही क्यों ?

चतुर्वर्गका अधिकारी केवल पुरुष ही क्यों है, इस प्रश्नका उत्तर यह है कि, जगद्-रचयिताने इस संसारमें असङ्ख्य योनियोंमें, तरह-तरहके एकसे-एक विलक्षण अनन्तानन्त जीव रचे। अद्भुत-अद्भुत शक्तिशाली दैत्य-दानव एवं दिव्यातिदिव्य देव-जातिका उसने निर्माण किया, तथापि इससे उसको सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि इन सब प्राणियोंमें अपने-अपने जीवनके व्यवहारोपयोगी विषयों तथा उन्हें प्राप्त करनेके उपायोंका परिज्ञान होते हुए, एक बातकी कमी थी—"जिस उद्देश्यसे ईश्वरने प्राणियोंकी सृष्टि की थीं—

'बुद्धीन्द्रिय-मनःप्राणान्, जनानामसृजत् प्रभुः।
[2]मात्रार्थं च [3]भवार्थं च [4]आत्मनेऽक[5]ल्पनाय च ॥'
(श्रीमद्भाग० १०-८७-२)

१—पुरुषों अर्थात् मानव-समाजके अभिलषित विषय। पुरुषेण प्रार्थ्यानि श्रेयांसि (फलानि)। २—मात्रार्थम्—मीयन्ते इति मात्राः, विषयाः, तदर्थम्। ३—भवार्थम्—भवो जन्मलक्षणं कर्म, तत्प्रभृति कर्मकरणार्थम्। ४—आत्मने—लोकान्तरगामिने, आत्मनः तत्तल्लोकभोगाय इत्यर्थः। ५—अकल्पनाय—कल्पनानिवृत्तये, मुक्तये इत्यर्थः। 'अर्थ-धर्म-काम-मोक्षार्थम्'—इति क्रमेण पादचतुष्टयस्य अर्थः।

[अर्थात् परमात्माने प्राणियोंके लिए बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणोंका निर्माण किया है। इनमेंसे प्राणोंके द्वारा वे जीवन-धारण, इन्द्रियोंके द्वारा सत्शास्त्रका श्रवण, मनके द्वारा तत्त्वका चिन्तन और मनन तथा बुद्धिके द्वारा तत्त्वका निश्चय करके आत्माका साक्षात्कार कर सकते हैं।]

—इन चार उद्देश्योंमेंसे—अन्तिम उद्देश्य—'अकल्पनाय' को पूर्ण कर सकनेकी साधन-सम्पत्ति पूर्ण-रूपसे उनमेंसे किसीमें भी विद्यमान नहीं थी।'' वस, इसी एक बड़ी भारी अपूर्णतासे उन्हें देखकर विधाताको सन्तोष नहीं हुआ। तब उन्होंने बहुत सोच समझकर आखीरमें पुरुषका अर्थात् मनुष्यका आविर्भाव किया, जिसे देखकर उनको अत्यन्त अधिक प्रसन्नता हुई। क्योंकि पुरुषके अन्दर उनको अपनी जीव-सृष्टिके मुख्य प्रयोजन—अर्थात् जीवकी उस अपूर्णताको दूर करके, उसे पूर्ण बना देनेकी साधन-संपत्ति, अर्थात् ईश्वरका साक्षात्कार कर लेनेकी बुद्धि दिखलायी पड़ी–

'सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तै-रतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥'

(श्रीमद्भागवत ११-९ २८)

बस, इसी एक बड़ी विशेषताके कारण केवल [1]पुरुष ही पूर्वोक्त चतुर्वर्ग के उपार्जनका मुख्य अधिकारी है और एकमात्र मनुष्य-योनि ही सब योनियोंमें श्रेष्ठ है। मनुष्यमें आत्म-कल्याणके एक-से-एक उत्कृष्ट साधन विद्यमान हैं। इसमें आत्म-साक्षात्कार कर सकनेकी बुद्धि है। इसीलिए जगत्के रचयिताको अपनी रची हुई एक-से-एक सुन्दर रचनाओंमें यह मनुष्य देह ही सबसे अधिक प्रिय लगा।

वास्तवमें जगद्रचयिताको यह पुरुष-शरीर सबसे अधिक प्रिय है। क्योंकि यह शरीर मुख्यतया (खासकर) उन्होंने अपने लिए बनाया है। श्रीमद् भागवतमें कहा है कि, जब ब्रह्माजी अपनेको कृतकृत्य-जैसा समझकर बड़ी प्रसन्न मुद्रामें थे, तब सारी सृष्टिके अन्तमें उन्होंने अपने मनसे, अर्थात् मनःशक्तिसे विश्वकी अभिवृद्धिकरनेवाले—मनुओंको रचकर उन्हें अपना वह पुरुषाकार शरीर (स्वीयं पुरं पुरुषं) दे दिया। तब मनुओंको उस पुरुषाकार शरीरमें, अर्थात् पुरुषाकृतिमें देखकर, उनसे पहले उत्पन्न

१—मनुष्य।

हुए देव, गन्धर्व आदि सबने मिलकर बड़े हर्षसे ब्रह्मदेवको धन्यवाद दिया कि—'प्रभो आपकी यह सृष्टि अर्थात् पुरुष-शरीरकी रचना बड़ी ही सुन्दर है—इससे अधिक उत्कृष्ट रचना कोई हो ही नहीं सकती है। इस पुरुष शरीरमें, अर्थात् नर-देहमें प्राणियोंके अभ्युदय और निःश्रेयसके सब [1]साधन विद्यमान हैं। अतः [2]इसकी सहायतासे [3]हमलोग भी अपना-अपना हविर्भाग ग्रहण कर सकेंगे।

'स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः ।
तदा मनून् ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान् ॥
तेभ्यः सोऽत्यसृजत् स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान् ।
तान् दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम् ॥
अहो एतज्जगत्स्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम् ।
प्रतिष्ठिताः क्रिया अस्मिन् साकमन्नमदामहे ॥'

(श्रीमद्भाग० ३-२०-४९,५०,५१)

अस्तु ।

उन, मनुष्य शरीरकी आकृतिवाले, मनुओंसे ही हम सब मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। इसलिए उसी समयसे—**मनोः अपत्यं मानवः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार सभी पुरुष अर्थात् मनुष्य[4] 'मानव' कहलाते हैं।

अतःपुरुषकी, मनुष्य-शरीरकी, इस विशेषता का वर्णन करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण' में कहा है कि—'यह पुरुष परमात्माका प्रकाश स्थान है, इसमें परमात्मा प्रकाशित होता है'—

"पुरुषे चाविस्तरामात्मा। स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमः। विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति ।...। पशवः - । न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति ।"

अर्थात् पुरुषमें (मनुष्य-शरीरमें) आत्माका आविर्भाव इतर सब प्राणियोंमें से अधिक है। उसमें ज्ञान भी है और प्रज्ञान भी है। जीवके

१—नित्य नैमित्तिक कर्म। २—मनुष्य शरीरकी। ३—सब देवता भी। ४—इसी अभिप्रायसे महर्षि यास्कने 'मनुष्य' शब्दका निर्वचन करते हुए निरुक्तमें कहा है कि—'मनुष्याः कस्मात् ? मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति—(ज्ञात्वा कर्माणि सीव्यन्ति—तक्ष्यन्तीत्यर्थः।)

अथवा—मनस्यमानेन प्रजापतिना सृष्टाः। मनस्यतिः पुनरयं धातुः मनस्वीभावे। मनस्वीभावो नाम प्रहृष्टेन = प्रहृष्यता प्रजापतिना एते सृष्टाः। अथवा मनोरपत्यानि मनुष्याः। (निरुक्त—३अ० २ पा० १)

आत्मज्ञानका प्रारम्भ मनुष्य योनिमें पहुँचनेपर ही होता है। मनुष्य जानता है, देखता है, बोलता है और साथ ही वह यह भी समझता है कि—मैं जान रहा हूँ, देख रहा हूँ, बोल रहा हूँ। पशु जानते हैं, देखते हैं, और बोलते हैं। परन्तु वे यह नहीं समझते कि हम जान रहे हैं, देख रहे हैं और बोल रहे हैं। इस तरह मनुष्य और इतर प्राणियोंमें ज्ञानके विकासका तारतम्य है। मनुष्यमें ज्ञानका अत्यन्त विकास है। इसी एक अद्भुत विलक्षणताके कारण परमात्माको यह देह सबसे अधिक प्रिय है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है कि—

"पुरुषमें अर्थात् मनुष्य-शरीर में विवेकी पुरुष इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति—आदिके आश्रयभूत मुझ आत्मतत्त्वका पूर्णतः साक्षात्कार कर लेते हैं। मैंने एक पैर, दो पैर, तीन पैर, चार पैर, बहुत पैर, और बिना पैरवाले—अनेकों प्रकारके शरीरोंका निर्माण किया है, परन्तु उन सबमें मुझे सबसे अधिक प्रिय यह पुरुषशरीर अर्थात् मनुष्य शरीर ही है। क्योंकि इस देहमें बुद्धिमान् पुरुष एकाग्रचित्त होकर, अनुमानसे अग्राह्य अर्थात् अहंकारके विषयोंसे भिन्न, सर्वप्रवर्तक ईश्वरका स्पष्ट साक्षात्कार कर सकते हैं—"

'पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्य-योग-विशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥
एक-द्वि-त्रि-चतुष्पादो बहुपादस्तथापदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥
अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गै - रग्राह्यमनुमानतः ॥'

(श्रीमद् भाग० ११–७–२१–२३)

अतः ईश्वरकी सारी सृष्टिमें, सबसे बुद्धिमान् प्राणी पुरुष ही है। और एकमात्र मनुष्य शरीर ही मुख्यतया आत्मज्ञानोपयोगी होनेसे सब योनिओंमें सर्वोत्तम माना गया है। इसी कारण यह चौरासी लाख योनियोंमें सबसे अधिक दुर्लभ है। संसारकी विविध विविध योनियोंमें भटकते हुए जीवको, अनेकानेक पुण्यकर्मोंके प्रभाव एवं परमेश्वरके महान् अनुग्रहसे ही यह शरीर प्राप्त होता है। भूत-प्रेत, पिशाच, पशु-पक्षी, यक्ष-राक्षस, देव-दानव—आदि कोई भी जीव पुरुषकी बराबरी नहीं कर सकते। अतः इस संसारमें मनुष्य जन्म पा लेना, जीवके लिए, सबसे बड़ा लाभ है। इसकी सर्वोत्कृष्टता और दुर्लभताके विषयमें भगवान्ने स्वयं ही कहा है कि—

अस्मिंल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया॥
स्वर्गिणोऽप्येतदिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम्॥

(भागवत—११-२०-११,१२)

अर्थात् इस मनुष्य शरीरमें रहनेवाले पुरुष निर्मल और निष्पाप होकर, अनायास ही विशुद्ध आत्म-ज्ञान अथवा मेरी भक्तिको प्राप्त कर लेता है। इसीलिए स्वर्ग-नरक आदि सभी लोकोंमें रहनेवाले सभी जीव इस शरीरको प्राप्त करना चाहते हैं। यह मनुष्य शरीर विधि-निषेधरूप कर्मोंका अधिकारी है; अतः यह अत्यन्त दुर्लभ है। इसी शरीरमें अन्तः-करणकी शुद्धि होनेपर ज्ञान और भक्ति प्राप्त होती है, अन्य सब शरीर भोगप्रधान हैं—अतः इनसे जीवोंका आत्म-कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए महर्षि व्यासने कहा है कि—

'एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः।
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते॥
विचित्रा देहसम्पत्ति—रीश्वराय निवेदितुम्।
पूर्वमेव कृता ब्रह्मन् हस्तपादादिसंयुता॥'

अर्थात् इस भयङ्कर संसृतिचक्रमें भटक-भटककर दुःखाकुल हुए जीवपर अत्यन्त करुणार्द्र होकर भगवान्‌ने उसके उद्धारके लिए ईश्वरसे आत्मनिवेदन करनेके लिए सुन्दर साधनोंसे सम्पन्न यह अत्यन्त विलक्षण मानव-देह बनाया है।

इसीलिए जैन-सम्प्रदायके तीर्थङ्कर श्रीमहावीर स्वामीने भी मनुष्य देहको महान् दुर्लभ बतलाया है। उन्होंने कहा है कि—

कम्म संगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो॥

(उत्तराध्यन-सूत्र ३–६)

'अर्थात् कर्मोंके संगसे मूढ हुए प्राणी अत्यन्त वेदना पाते हुए, दुःखी हो-होकर अमानुषी—मनुष्येतर योनियोंमें भटकते रहते हैं। और—

कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सयं॥

(उत्त० ३–७)

ऐसा करते-करते कर्मोंके क्रमशः क्षीण हो जानेपर, शुद्धिको प्राप्त हुए पुण्यात्मा जीव कदाचित्—बहुत लम्बे कालके बाद—इस मनुष्यभवको पाते हैं। अतएव—

'दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्व पाणि णं।
गाढा य विवाग कम्मुणो समयं गोमय मा पमाय ए॥'

(उत्त० १०–४)

'निश्चय ही यह मनुष्यभव बहुत दुर्लभ है और सभी प्राणियोंको यह बहुत दीर्घकालके बाद मिलता है। कर्मोंके फल बड़े गाढ—तीव्र होते हैं। इसलिए ए जीव, क्षणभरके लिए भी तू प्रमाद मतकर !'
अस्तु।

इसीसे देवी-भागवतमें कहा है कि, 'इस अस्थिर एवं अनित्य मानव देहको पा करके इसके द्वारा नित्य, शाश्वत सत्य-तत्त्वको जानकर अवश्य ही आत्म-कल्याण कर लेना चाहिए। क्योंकि मनुष्य जन्मका मुख्य कर्तव्य यही है'—

'दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षण-भङ्गुरः।
तस्मिन् प्राप्ते तु कर्तव्यं सर्वथैवाऽऽत्मसाधनम् ॥'

(६–३०–२४)

मनुष्य जीवन तत्त्वकी जिज्ञासा, सत्यके अन्वेषण करनेके लिए है ? केवल नश्वर सुखोंके उपभोगमात्रके लिए नहीं। इसका मुख्य फल है—धर्मका उपार्जन करके अखण्ड आध्यात्मिक सुखको, अर्थात् सच्चे सुखको, सच्ची शान्तिको प्राप्त कर लेना। इसीसे यह जीव जन्म-मरणकी अनादि दुःख-परम्परासे मुक्त होकर सर्वदाके लिए सुखी हो जाता है।

इसीलिए महर्षि शुक-मुनिने, श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—'यह मनुष्य योनि ज्ञान और विज्ञानका मूल-स्रोत है। जो इसे पाकर भी अपने आत्म-स्वरूप परमात्माको नहीं जान लेता, उसे फिर कहीं, किसी भी योनिमें शान्ति नहीं मिल सकती'—

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञान-विज्ञानसम्भवाम्।
आत्मानं यो न बुध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात् ॥

(६–१६–५८)

सारांश, संसारके अन्तर्गत जीवकी जितनी भी उन्नतियाँ हैं, वे सभी द्वैत एवं दुःखरूप होनेके कारण उनसे जीवको अनन्त सुख और चिर-शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति, अर्थात् मोक्ष-की प्राप्ति तो केवल एक आत्म-तत्त्वके साक्षात्कारसे ही हो सकती है। इसीलिए विवेकी पुरुष सांसारिक नश्वर पदार्थोंकी आसक्तिको त्यागकर मुख्यतया अखण्ड आत्मतत्त्वके ही अन्वेषणमें प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए श्रुतिने कहा है—

'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥'

आत्मा स्वरूपको जैसा मानता है, उसके अनुसार ही पुरुषार्थमें उसकी रुचि होती है। जीवात्मा स्व-स्वरूपको यदि देह समझता है, तो देहके अनुकूल खान-पानमें ही उसकी रुचि होती है—उसे ही वह पुरुषार्थ मानता है। यदि आत्मा स्वस्वरूपको देहादिसे व्यतिरिक्त, स्थायी तथा परलोकमें जाने-आनेवाला मानता है, तो पारलौकिक पुरुषार्थमें उसकी रुचि होती है—उसे ही वह पुरुषार्थ मानता है। अतः यह सिद्धान्त सबको मान्य है कि जीव आत्माभिमानके अनुसार ही पुरुषार्थ चुनता है।

अतः प्रत्येक पुरुषको अर्थात् प्रत्येक नर-नारीको यानी मनुष्य-समाजको, मानव-जीवनका लक्ष्य निश्चित करके उसे सफल करनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। उसकी सफलताके लिए प्रत्येक नर-नारीको शास्त्र-विधिके अनुसार अपने-अपने कर्तव्योंका यथोचित पालन करना चाहिए। स्वकर्तव्यके पालन करनेसे ही मनुष्योंका अन्तःकरण विशुद्ध होता है, उसीसे भगवान्‌की प्रसन्नता होती है। और भगवान्‌के अनुग्रहसे ही मनुष्य सर्वविध दुःखोंसे मुक्त होता है। समस्त संसार भगवान्‌का ही विराट् रूप है। सभी प्राणियों और सभी वस्तुओंमें भगवान् ही विद्यमान हैं। अतः प्रत्येक मनुष्यको सभी प्राणियोंके प्रति अपना शुद्ध कर्तव्यका आचरण करके, अपने सद्व्यवहारसे, परमात्माको प्रसन्न करना चाहिए। मनुष्य-जन्म पाकर दुष्कीर्ति दुराचार, और लोकापवाद आदि दोषोंसे बचना चाहिए। दुर्गुणों और दोषोंसे बचना बड़े भाग्यका फल है। जैसा कि सोमदेव सूरीने कहा है—

'स महाभागो यस्य न दुरपवादोपहतं जन्म।'

(नीतिवाक्यामृत, सदाचार समु०)

अतः विवेकी पुरुषोंको इस अतीव दुर्लभ मनुष्य जीवनके मुख्य उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर, उसके अनुकूल त्रिवर्गका उपार्जन अर्थात् निष्काम भावसे धर्मादिका आचरण करते हुए, आत्म-ज्ञानको सम्पादन करके इस मानवजीवनको सफल करके कृतकृत्य होना चाहिए। यही जीवोंके सकल दुःखोंकी निवृत्तका उपाय है। आत्म-ज्ञान ही विश्वके जीवोंको शाश्वती शान्ति प्रदान करता है—

'भूयश्चान्ते विश्व-मायानिवृत्तिः।'

वस, यही मानव-जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य है। इसकी सफलताके लिए मनुष्योंको सद्विद्याका अभ्यास, सच्छास्त्रोंका श्रवण और सत्पुरुषों एवं विद्ज्जनोंका सङ्ग करना चाहिए। इसीमें मानव जीवनका पूर्ण हित निहित है। अतः योग-वाशिष्ठमें वशिष्ठ महर्षिने पुरुषका यही कर्तव्य बतलाया है—

'बुद्ध्वैव पौरुषफलं पुरुषत्वमेतद्
आत्म-प्रयत्नपरतैव सदैव कार्या।
नेया ततः सफलतां परमामथासौ
सच्छास्त्र-साधुजन-पण्डित-सेवनेन॥'

(योग-वाशिष्ठ पु० प्र०)

पुरुषार्थमें प्रवृत्ति

पुरुषार्थमें पुरुषकी प्रवृत्ति सुखके लिए होती है। क्योंकि जीवमात्रको सुख अत्यन्त अभीष्ट है। सुख दो प्रकारका होता है—(१) विषयसुख और (२) आत्म-सुख। शरीरमें रहनेवाली ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्पर्क होनेसे जो सुख (दुःख-मिश्रित सुख) प्राप्त होता है, उसको कहते हैं – विषय-सुख, अर्थात् विषयानन्द। इन विषयों और क्रियाओंसे ऊबकर अर्थात् थककर—'मैं यह शरीर नहीं हूँ, प्रत्युत इन देह, इन्द्रिय आदिसे अतिरिक्त आत्मा हूँ'—ऐसा दृढ़ निश्चय होकर, सांसारिक विषयवासनाओंसे विरहित होकर अपने वास्तविक शुद्ध आत्मामें, अर्थात् स्व-स्वरूपमें पुरुषकी जो स्थिति है—उसको कहते हैं—ब्रह्मानन्द।

इस दृष्टिसे पुरुषके मुख्य अभिलषित अर्थ केवल दो ही हैं– (१) काम और (२) मोक्ष। इन दो पुरुषार्थोंके दो साधन हैं—(१) धर्म और (२) अर्थ। अतः इन उपेय और उपायरूप अर्थात् दो साध्य और दो साधन रूप जोड़ोंको, मिला देनेसे पुरुषके चार अभिलषित होते हैं। इनमें

से, अर्थका अभिप्राय है—धन। धनका अर्थ होता है—'**दधन्ति फलति इति धनम्**।' अर्थात् फलनेवाली वस्तु। यानी धन, धान्य आदि जीवन-व्यवहारोपयोगी समस्त भोग-वस्तुओंके विनिमयका साधन। सुपरिष्कृत काम-सुखकी सिद्धि विना धनके, अर्थात् बिना विविध प्रकारकी सम्पत्तिके हो ही नहीं सकती। अतः सुसंस्कृत विषय-सुखका (कामका) साधन अर्थ यानी धन है। और सभ्य मनुष्यका अनुरूप धन, बिना धर्मके सुस्थिर नहीं हो सकता, इसलिए दयामय परमेश्वरने कामरूप पुरुषार्थके तीन अङ्ग बना दिये हैं—धर्म अर्थ और काम। इन तीनोंमें भी सबसे अधिक जोर धर्मपर दिया है, उससे कम अर्थपर और सबसे कम कामपर। क्योंकि कामकी ओर तो मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वभावतः ही हो जाती है, उससे कम अर्थकी ओर और सबसे कम धर्मकी ओर। अस्तु।

इस त्रिवर्गकी सिद्धका नाम है—अभ्युदय। इसके अतिरिक्त चौथे पुरुषार्थ—मोक्षकी सिद्धिका नाम है—निःश्रेयस। संसारमें मनुष्यका अभितःउदय—सब ओरसे उदय होना, अर्थात् सब प्रकारसे उन्नतिको प्राप्त होना (उन्नत होना) 'अभ्युदय' कहलाता है। और '**नास्ति श्रेयान् यस्मात् तत् निःश्रेयसम्**।' जिससे बढ़कर और कोई भी श्रेयान् (= श्रेष्ठतम फल) न हो, उसकी प्राप्तिको 'निःश्रेयस' अर्थात् मोक्ष कहते है। अस्तु।

त्रिवर्गमें वैषयिक सुखोपभोगको 'काम' कहते हैं। काम दो प्रकारका है—दिव्य और अदिव्य, अर्थात् स्वर्गीय सुख और भूलोकका सुख। यह दोनोंही प्रकारका काम-सुख उपेय है, अर्थात् साध्य है। इसके साधन हैं—धर्म और अर्थ। अतः साध्य और साधनरूप इन तीनों पुरुषार्थोका, अर्थात् धर्म, अर्थ और कामका नाम—'त्रिवर्ग' है। इस त्रिवर्गके साथ चतुर्थ पुरुषार्थ—मोक्षको मिला देनेसे 'चतुर्वर्ग' हो जाता है—

'**त्रिवर्गो धर्मकामार्थः चतुर्वर्गः समोक्षकः**।'

(अमरकोश)

इस चतुर्वर्गको ही चार पुरुषार्थ कहा जाता है। ये चारों पुरुषार्थ ही मनुष्य-जीवनके मुख्य उद्देश्य हैं। इनमें से कोई मनुष्य तो अर्थको चाहते हैं, कोई कामको अर्थात् सुखको चाहते हैं और कोई इन दोनोंके मूल—धर्मको चाहते हैं। क्योंकि धर्मके प्राप्त हो जानेपर अर्थ और काम तो उससे अपने आप ही सिद्ध हो जाते हैं। कोई लोग धर्म, अर्थ, और

काम—इन तीनोंको चाहते हैं। इस प्रकार 'त्रिवर्ग' को तो सभी चाहते हैं। क्योंकि लौकिक तथा पार-लौकिक—जितने भी सुख हैं, उन सबकी प्राप्तिका एकमात्र साधन 'त्रिवर्ग' ही है। और त्रिवर्गका विधिवत् उपार्जन होनेपर पुरुष अन्तिम पुरुषार्थ (मोक्ष) को अनायास ही प्राप्त कर लेता है। अतः मनुष्यका मुख्य कर्त्तव्य त्रिवर्गका यथोचित अनुष्ठान करना है। इसीसे मानव-जीवनकी सफलता है। यही इस मानवजीवनको कृतकृत्य करनेकी कुञ्जी है।

त्रिवर्गमें तीन दोष

धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों ही पुरुषार्थ वस्तुतः निर्मल, निर्दोष हैं, अतएव इनके सम्यक् अनुष्ठानसे चतुर्थ पुरुषार्थ, (मोक्ष) अनायास ही सिद्ध हो जाता है। किन्तु इनका उपार्जन करनेवाले मनुष्योंकी विषयोंमें प्रायः रागात्मिका प्रवृत्ति होनेसे मनुष्योंकी कामात्मताके कारण, संसर्गके दोषसे उनके द्वारा अनुष्ठीयमान त्रिवर्गमें एक-एक मल, एक-एक दोष घुस जाता है। धर्ममें फलकी अभिलाषा अर्थात् सकामता, अर्थमें निगूहन, अर्थात् उसे दान और भोगमें व्यय न करना तथा काममें सम्प्रमोह, अर्थात् उसमें अधिकाधिक उत्कटमोह उत्पन्न हो जाना—ये तीन मल व्याप्त हैं—

'अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम।
सम्प्रमोहमलः कामो भूयस्तद्गुणवर्द्धितः॥'

(म० भा०, शा० पर्व १२३–१०)

इसीसे सूक्ष्मदर्शी पुरुष धर्मका अनुष्ठान सकामभावसे न करके निष्कामभावसे ही करते हैं। अर्थका उपार्जन **'त्यागाय संभृतार्थानाम्'** के अनुसार त्यागके लिए करते हैं। और कामका सेवन—**'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**—के अनुसार शरीरके रक्षणके लिए करते हैं।

—इस रीतिसे निर्मल, निर्दोष त्रिवर्गके अनुष्ठानसे चतुर्थ पुरुषार्थ—भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष अनायास ही सिद्ध हो जाता है। निर्मल त्रिवर्गका उपार्जन साक्षात् या परम्परया मोक्षकी ही प्राप्तिके लिए होता है। इससे सिद्ध है कि सबसे उत्कृष्ट, अक्षय पुरुषार्थ मोक्ष है। इसीलिए उसको परम पुरुषार्थ या अन्तिम पुरुषार्थ भी कहा जाता है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा है कि—

'तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥'

(४–२२–३५)

अतः मोक्ष ही मानवका सबसे उत्कृष्ट, सबसे अधिक अभीष्ट स्वार्थ[1] है। उसीको पाकर मनुष्य कृतार्थ होता है। इसीसे कहा गया है कि—

एतावानेव मनुजैर्योग - नैपुणबुद्धिभिः ।
[1]स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत् [2]परात्मैक-दर्शनम् ॥

(भागवत ६–१६–६३)

इस तरहसे मोक्षके लिए त्रिवर्गके अनुष्ठानका प्रकार दूसरा ही है। इसीलिए कहा गया है कि—

'मोक्षस्यापि त्रिवर्गोऽन्यः पृथगर्थः पृथग्गुणः ।

(शा० ५०)

इस चतुर्वर्गमें अर्थ, काम और मोक्ष—इन तीनों पुरुषार्थोंका मूल धर्म है। इसलिए अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिके लिए धर्म उपादेय है। धर्म और कामकी सिद्धिके लिए अर्थ उपादेय है। एवं शरीर-रक्षाका मुख्य साधन होनेके कारण, धर्म और अर्थोपार्जनमें उपयोगी होनेसे काम भी उपादेय है।

धर्मसे यद्यपि अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं, तथापि उसका वास्तविक फल मोक्ष ही है। अर्थ और कामकी प्राप्ति तो उसका आनुषङ्गिक (गौण) फल है। इसलिए धर्मका यथार्थ उपयोग मोक्षमें ही होना चाहिए—नश्वर अर्थ एवं कामके सम्पादनके लिए नहीं। धन-संचयका भी मुख्य फल धर्म है—केवल नश्वर विषय-सुखका उपभोग-मात्र नहीं, विषय-सुख तो उसका आनुषङ्गिक (गौण) फल है। अतएव अर्थका उपार्जन मुख्यतया धर्मके ही उद्देश्यसे होना चाहिए। इसी प्रकार कामप्राप्तिका (विषय-सेवनका) भी मुख्य फल जीवन-लाभ है—इन्द्रिय-तृप्ति नहीं। अर्थात् कामका सेवन मनुष्यको उतना ही करना चाहिए, जितनेसे कि जीवनका निर्वाह ठीक तरहसे हो सके—अर्थात् देह स्वस्थ रहे। इसी प्रकार जीवन-धारणका भी मुख्य उद्देश्य तत्त्व-ज्ञान है—नश्वर विषयोंका उपभोग नहीं—

१—अनिष्ट निवारक और इष्टका प्रापक।

२—परमात्मा और आत्माकी एकता।

'धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्व-जिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥'

(भागवत १-२ ९,१०)

इस प्रकार यथोचित रीतिसे पुरुषार्थ-चतुष्टयका सम्पादन करना ही मनुष्य-जीवनका मुख्य लक्ष्य है। अतएव जो भी काम, जो-जो कार्य, इन पुरुषार्थोंके अत्यन्त विघातक हों, उनपर मनुष्यको कभी भी, कथमपि अनुराग नहीं करना चाहिए—

'न कुर्यात् कर्हिचित् सङ्गं तमस्तीव्रं तितीरिषुः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥'

(भाग० ४-२२-३४)

धर्म और मोक्षके लिए प्रयत्नशील न होकर केवल अर्थ और काम-की ही चिन्ता करना—सम्पूर्ण पुरुषार्थोंसे ही हाथ धो बैठना है। क्योंकि इससे मनुष्य ज्ञान और विज्ञान—दोनोंसे च्युत होकर स्थावर योनिको प्राप्त हो जाता है। इसलिए महर्षि शुकमुनिने कहा है—

'अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् ।
भ्रंशितो ज्ञान-विज्ञानाद् येनाविशति मुख्यताम् ॥'

(भाग० ४-२२-३३)

अस्तु।

धर्म, अर्थ और काम—यह त्रिवर्ग उपाय (साधन) है; और चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष उपेय (साध्य) है। उपायका यथावत् अनुष्ठान होनेसे उपेय स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। अतः त्रिवर्गका अनुष्ठान यदि उचित रीतिसे हो, तो फिर मोक्ष तो अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। अतः मानव जीवनका साफल्य त्रिवर्गकी प्राप्तिमें है। इसलिए प्रत्येक गृहस्थ मनुष्यको धर्म, अर्थ तथा कामको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। त्रिवर्गके सिद्ध हो जानेपर गृहस्थको इसलोक तथा परलोक, दोनोंमें अभ्युदय प्राप्त होता है—

'त्रिवर्ग-साधने यत्नः कर्तव्यो गृहमेधिना ।
तत्संसिद्धौ गृहस्थस्य सिद्धिरत्र परत्र च ॥'

(महाभारत)

इसीलिए किसी भी गृहस्थको धर्म, अर्थ और कामसे—'मैं पूर्ण हूँ' ऐसा समझकर सन्तोष नही कर लेना चाहिए। क्योंकि मनुष्यकी सारी ही लोक-यात्रा इन तीनोंपर ही निर्भर है। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है—

न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः।
एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता॥

(शु० नी०)

अतः मनुष्यको त्रिवर्गका यथोचित सम्पादन करते ही रहना चाहिए **त्रिवर्गसे शून्य** कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए अर्थात् जिस कार्यको करनेसे न तो धर्म सिद्ध हो, न अर्थ हो और न काम ही सिद्ध हो—ऐसा निष्फल, निष्प्रयोजन कार्य कभी भी न करना चाहिए। साथ ही ऐसा भी काम नहीं करना चाहिए, जिससे कि धर्म, अर्थ और कामका परस्पर विरोध हो जाय, अर्थात् जिस धर्मके अनुष्ठानसे अर्थ और कामका विरोध हो—अर्थ और काममें बाधा पड़े, जिस अर्थके अनुष्ठानसे धर्म और कामका ह्रास हो जाय एवं जिस कामके सम्पादन करनेसे धर्म और अर्थमें बाधा पड़े—धर्म और अर्थका आगमन (स्रोत) बन्द हो जाय—ऐसे परस्पर विरोधी त्रिवर्गका उपार्जन भी नहीं करना चाहिए।

'त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत्तं चाविरोधयन्।'

(शु० नी० ३ अ० १५)

अस्तु।

त्रिवर्गके सम्पादनमें यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि—इननेसे किसी एकका ही अधिक अनुष्ठान होनेसे, वह स्वयं अपने तथा इतर दोनों पुरुषार्थोंको भी बाधा पहुँचाने लगता है। इसीलिए महर्षि कौटल्यने अपने अर्थशास्त्रमें इसपर बहुत विचार करके कहा है कि—

'एको हि अत्यासेवितो ह्येषाम् आत्मानमितरौ च पीडयति।'

(कौटिल्य अर्थ०)

अतः त्रिवर्गमें से किसी एकका अनुष्ठान इतनी अधिक मात्रामें नहीं होना चाहिए कि जिससे इन तीनोंमें परस्पर बाधा पहुँचे कामका सेवन इस प्रकारसे करना चाहिए कि उससे धर्म तथा अर्थमें बाधा न आए और विषय सुखका नितान्त परित्याग करके बिलकुल सुखहीन होकर रहना भी उचित नहीं है—

'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत न निःसुखः स्यात्।' (अर्थ०)

इसीसे अन्यत्र भी कहा गया है कि—

'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः।'

इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखते हुए महाकवि श्री भारविने त्रिवर्गके सेवनकी यह कैसी सुन्दर समन्वय-पद्धति बतलायी है। देखिए—

'असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्॥'

(किरातार्जुनीय १-११)

अस्तु।

चार पुरुषार्थोंमें अर्थ और कामको दोनों ओरसे—धर्म और मोक्षके द्वारा बाँध दिया गया है। स्वतन्त्र होकर उनकी प्राप्तिमें क्या क्या अनर्थ नहीं हो सकता? इसीलिए कामशास्त्रके उपदेष्टा महर्षि वात्स्यायनने धर्मके ही आचरणपर अधिक जोर देते हुए लिखा है कि—'जैसे हाथमें आये हुए अन्नको (अर्थात् बीजको) भविष्यमें होनेवाले बहुतसे अनाजके लोभसे त्याग दिया जाता है—अर्थात् उसे जमीनमें बो दिया जाता है, उसी प्रकार मोक्षके लिए अर्थ और कामको सङ्कुचित करके भी, धर्मका सेवन करना चाहिए—

'लोकयात्राया हस्तगतस्य च बीजस्य भविष्यतः सस्यस्यार्थे त्यागदर्शनाच्चरेद्धर्मान्।' (का० सू०)

इसीसे मर्यादा-पुरुष श्रीरामने युवराज भरतसे चित्रकूटके मिलनमें कुशल-प्रश्नके व्याजसे, उनका ध्यान त्रिवर्गके पारस्परिक विरोधके परिहारपर विशेष आकृष्ट किया है—

कच्चिदर्थेन वा धर्मम् अर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे॥
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे॥'

(वाल्मीकि रामा० अ० १०० ६२, ६३)

महाभारतमें भी त्रिवर्गमें सबसे अधिक महत्त्व धर्मको ही दिया है। क्योंकि समस्त पुरुषार्थोंकी जड़ वही है। धर्मात्माको इस लोक और परलोक—दोनों ही जगह सुख प्राप्त होता है—

धर्मे चार्थे च कामे च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिँल्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते[1] ॥

(शा० प० ९१-५२)

इसीलिए भगवान् मनुने कहा है कि—'मनुष्यको ऐसे अर्थ और कामका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए, जो कि धर्मसे रहित हों—

'परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।'

इस प्रकार विवेकी पुरुषोंके प्रधान इच्छाके विषय—धर्म-अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं। इनकी प्राप्तिका अव्यभिचरित उपाय धर्म ही है। अतः धर्मही इन सबमें प्रधान है। क्योंकि काम और मोक्ष तो केवल फल-स्वरूप हैं। अतः उनसे तो कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थ अल्पशक्तिमान् है और अनेक दोषोंसे दूषित है। अतएव सकल पुरुषार्थोंका साधक होनेके कारण 'धर्म' ही समस्त पुरुषार्थोंमें प्रधान है। इसलिए महर्षि जैमिनिने धर्मको ही प्रधान विषय मानकर उसीके विवेचनके लिए मीमांसा-शास्त्रकी रचना की है—

'धर्मादेव प्रयुक्तादभिदधति सतां धर्मकामार्थमोक्षान्
नान्यार्थौ काममोक्षौ धनमबहुफलं दोषवर्गान्वितं च।
इत्थं सिद्धान्तकारैर्धृति[']कृदयमतः सेव्यते सावधानै-
रादावेतन्निबन्धन् विषयफलयुतं शास्त्रमाविश्चकार॥'

(मीमांसा-पादुका)

इसीलिए श्रुतिने कहा है कि—'मनुष्यको धर्मके विषयमें कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए—

'धर्मान्न प्रमदितव्यम् ।'

अस्तु। इस तरहसे सम्पूर्ण मानव-समाजकी इच्छाके प्रधान विषय—ये चार पुरुषार्थ हैं। इन सबको प्राप्त करनेका अव्यभिचरित उपाय एकमात्र निज-निज कर्मोंके द्वारा परमेश्वरकी आराधना है। इसीसे कहा गया है कि—

'धर्म, अर्थ और काम—ये सब जिनके आश्रित रहते हैं, और जिनकी इच्छाके बिना किसीको मिल नहीं सकते हैं—उन निष्क्रिय, निरीह, आत्मस्वरूप भगवान् श्रीहरिका ही निष्काम भावसे आराधन करना चाहिए—

१—सुखकर।

तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः ।
भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥
(श्रीमद् भाग० ७–७–४८)

भगवत्कृपासे ही मनुष्योंके ये चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। इसीलिए प्रत्येक पुरुषको, प्रत्येक नर-नारीको, स्वकर्तव्यमें परायण होकर अपने-अपने सदाचरणसे भगवान्को सदैव सन्तुष्ट रखना चाहिए। उन्हींके अनुग्रहसे मनुष्यके सब पुरुषार्थ (सकल कामनाएं) परिपूर्ण होते है—

'धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः ।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम् ॥'
(श्रीमद्भागवत–४–८–३०)

इस प्रकार चार पुरुषार्थोंका सम्पादन करना ही मनुष्य जीवनका प्रधान लक्ष्य हैं। अतः उन्हींका यथाशक्ति विवेचन क्रमशः अब आगे किया जायगा।

धर्म

'धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः ।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम् ॥'

(म० भा० आ० प०-२-३९१)

'धर्म'

पुरुषका पहला अभीष्ट धर्म है। अतः पहला पुरुषार्थ धर्म है। प्रत्येक चेतनका यह स्वभाव है कि वह अपनी वर्तमान परिस्थितिमें सदैव न्यूनताका अनुभव करता है और उससे उच्च परिस्थितिको प्राप्त करनेके लिए लालायित रहता है। अतः संसारमें जो मनुष्य जहाँ भी, जिस परिस्थितिमें है, वहाँसे ऊपर उठनेकी, उन्नतिको प्राप्त करनेकी, अर्थात् अपने अभ्युदयकी लालसा उसको लगी रहती है। मनुष्यकी उस अभिलषित उन्नतिका जो मुख्य साधन है, वही [1]धर्म है। और जो इसके विपरीत फलवाला है, मनुष्यकी अवनतिका—अधोगतिका कारण है, उसका नाम है—अधर्म। इसीलिए महर्षि कपिलने मनुष्यकी उन्नति और अवनतिको धर्म और अधर्मका फल बतलाया है—

'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण।'

(सांख्य-कारिका)

यही बात वायुपुराणमें यों कही है—

'धारणाद् धृतिरित्यर्थाद् धातोर्धर्मः प्रकीर्तितः।
अधारणेऽमहत्त्वे च, अधर्म इति चोच्यते॥'

(५७ अ० ५८)

अस्तु।

उन्नति दो प्रकारकी होती है। एकका नाम है—[2]अभ्युदय और दूसरीका नाम है—[3]निःश्रेयस। विश्वमें, ब्रह्माण्डके अन्दर, प्रकृति-मण्डलमें अर्थात् प्रकृतिके दायरेमें रहकर मनुष्य अपने सदाचरणसे,

---

१—अर्थात् सत्कर्मसे उत्पन्न होनेवाला 'अपूर्व' (पुण्य) नामक आत्म-गुण। यह धर्म ही मनुष्यकी सर्वविध उन्नतिका कारण है।

२—अभ्युदयका अर्थ है—अभितः उदम—अर्थात् सब तरहसे आगे बढ़ना, उन्नतिको प्राप्त होना।

३—निःश्रेयसका अर्थ है—'निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्।' निश्चित फल अर्थात् जो कभी भी क्षीण नहीं होता—ऐसे परम आनन्दकी, सर्वोच्च लक्ष्यकी प्राप्ति, भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्षकी प्राप्ति। अथवा, नास्ति श्रेयान् यस्मात् तत् निःश्रेयसम्—जिससे बढ़कर और कोई उत्तम फल न हो।

सत्कर्मसे, जिस (ऐलौहकिक एवं पारलौकिक) उन्नतिको प्राप्त करता है, उसको 'अभ्युदय' कहते हैं। और प्रकृतिकी सीमाको भेदन करके—प्रकृतिकी परिधिसे, परिच्छिन्नतासे हटकर—ब्रह्माण्डके बाहर जो अपार सुखराशि है, अर्थात् ब्रह्मकी निःसीम, निरतिशय सुखानन्द-स्वरूप जो त्रिपाद् विभूति है, उसकी प्राप्तिको ही निःश्रेयस कहते हैं। इन दोनों प्रकारकी उन्नतियोंको प्राप्त करनेका जो एकमात्र साधन है, उसीको '[1]धर्म' कहते हैं।

धर्ममें अपार शक्ति है। वह मनुष्यको उसके अभ्युदय और निःश्रेयस—इन दोनों प्रकारकी उन्नतियोंमें पहुँचा देता है। धर्मके परिपालनसे ही मनुष्यकी मानवताका विकास होता है। अतः धर्म सभी पुरुषार्थोंकी कुञ्जी है।

धर्मका लक्षण एवं धर्ममें प्रमाण

किसी भी वस्तुकी सिद्धि उसके लक्षण और प्रमाणसे होती है। इसलिए धर्मका साक्षात्कार किए हुए महर्षियोंने, उसके अद्भुत प्रभावोंको देखकर, उसके भिन्न-भिन्न लक्षण बतलाते हुए, तरह-तरके प्रमाणोंसे उसे सिद्ध किया है। जैसे कि—

(१)—महर्षि कणादने धर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलपर दृष्टि रखते हुए—

'यतोऽभ्युदयनिः-श्रेयससिद्धिः स धर्मः' (वैशेशिक सूत्र)

इस सूत्रद्वारा धर्मका यह लक्षण बतलाया है कि—'जिससे मनुष्योंके ऐहलौकिक अभ्युदय तथा मोक्षकी सिद्धि होती है, उसको 'धर्म' कहते हैं।'

(२) महर्षि जैमिनिने धर्मके प्रमाण और फल—दोनोंपर दृष्टि रखते हुए उसका यह लक्षण बतलाया है कि—'मनुष्योंके सम्पूर्ण अभीष्टको सिद्ध करनेवाला जो वेद-प्रतिपादित अचूक साधन है, उसको धर्म कहते हैं—'

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'[2] (मी० सू० १-२)

(३)—महर्षि व्यासने धर्म शब्दकी—**'ध्रियतेऽनेन इति धर्मः'** इस प्रकारकी व्युत्पत्तिको हृदयमें रखते हुए **'धारको धर्मः'** अर्थात् 'जो

१—धर्मशब्द धृञ् धरणे, इस धातुसे बना है। इसका अर्थ होता है—धारण करनेवाला, पालन-पोषण करनेवाला। अथवा—अवलम्बन देनेवाला।

२—महर्षि गौतमका धर्मलक्षण भी इसी अभिप्रायको पुष्ट करता है।

प्राणियोंका धारण-पोषण करता है, जो सबका आधार है, यानी अवलम्बन है, वह धर्म है'—ऐसा लक्षण बतलाया है।

इन तीनों लक्षणोंके समन्वयसे सिद्ध होता है कि—(१) "प्राणियोंके जो सर्वविध अभ्युदय और मोक्षका साधन है, (२) शास्त्रोंसे प्रतिपादित सम्पूर्ण अभीष्टोंका व्यभिचरित[1] उपाय है, एवं (३) सम्पूर्ण जगत्का धारण और पालन-पोषण करनेवाला मुख्य आधार है, उस अपूर्व-तत्त्वको (पुण्यको) धर्म कहते हैं।"

धर्मके दो स्वरूप

धर्मके दो स्वरूप हैं, अर्थात् धर्म दो तरहका है। एक सिद्ध और दूसरा साध्य। जिसके सिद्ध होनेमें किसी भी क्रियाकी अपेक्षा नहीं होती, अर्थात् जो किसी भी उपायान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता—यानी जो स्वयं सिद्ध है—उसको **'सिद्ध-धर्म'** कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार **'रामो विग्रहवान् धर्मः'** **'कृष्णं धर्मं सनातनम्'** इत्यादि प्रमाणोंके अनुरूप पूर्ण पर-ब्रह्म परमात्माको ही सिद्धधर्म कहा जाता है। क्योंकि वह पुरुषोंके प्रयत्नसे साध्य नहीं है, वह पहलेसे ही सिद्ध है—नित्य-सिद्ध है और धर्मके पूर्वोक्त तीनों लक्षणोंसे युक्त भी है। अतः नित्य-सिद्ध परमेश्वर ही सिद्ध-धर्म है।

१. **सिद्धधर्म**—सिद्ध-धर्मरूप परमात्मा ही इस जगत्का मुख्य आधार है। उसीकी अपार शक्तिसे इस निरालम्ब आकाशमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह एवं नक्षत्र-मण्डल आदिके सहित यह स-समुद्रा पृथिवी—बड़े फैलावके साथ सुस्थिर हो रही है। इसीलिए सम्पूर्ण श्रुति और स्मृतियाँ सिद्धधर्मरूप परमात्माको ही जगत्का मुख्य आधार बतला रही हैं—

'एष सेतुर्विधरणः'। 'एषां लोकानामसंभेदाय।' 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः।'

एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।'

'द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः॥'

इन सब प्रमाणोंके अनुसार—(१) ईश्वर ही जगत्को धारण करता

१—अर्थात् सकल उन्नतियोंका अचूक साधन है।

है। अतः मुख्यतया वही जगत्‌का आधार है। और (२) [1]"**फलमतः, उपपत्तेः**' (ब्रह्म सूत्र—३-२-३८) इत्यादि वचनोंके अनुसार प्राणियोंके तत्-तत् कर्मोंका फलदाता होनेके कारण वह सम्पूर्ण फलोंका भी साधन है। क्योंकि धर्माचरण करनेवालोंको वह सङ्कल्पमात्रसे, अपनी इच्छामात्रसे ही, अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान कर देता है। और (३) साथ ही वह मनुष्योंके सम्पूर्ण अभीष्टोंको सिद्ध करनेवाला शास्त्र-प्रतिपादित अचूक साधन भी है। अतः धर्मके उक्त तीनों लक्षणोंसे लक्षित होनेके कारण सिद्धधर्मरूप ईश्वरको 'परम-धर्म' कहा गया है। अस्तु।

यह सिद्ध धर्म उपाय भी है और उपेय भी। चूँकि वह स्वयं-सिद्ध उपाय है, अतः उसमें कुछ करना नहीं पड़ता, केवल उसको जान लेनेसे, या उसकी [2]शरणागतिको स्वीकार कर लेनेसे ही जीवका कल्याण हो जाता है। उसके जाननेका जो प्रकार है, वह उत्तर-मीमांसाके (वेदान्त-दर्शनके) चार अध्यायोंमें निरूपित किया गया है। अतः उस प्रक्रियासे, अथवा उससे सरल उपाय—भगवद्भजन, [3]भगवत्कथाश्रवण या भगवत्-शरणागति—आदि के द्वारा भी, उसका साक्षात्कार हो जाता है। इस प्रकारसे सिद्धधर्मका साक्षात्कार कर लेना मनुष्यका [4]परमधर्म बतलाया गया है। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

१—अर्थात् जीवों के इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित रूप—त्रिविध कर्म-फलका दाता ईश्वर ही है। क्योंकि कर्म और उनसे उत्पन्न होने वाला अपूर्व—ये दोनों ही जड़ हैं। अतः ईश्वरकी प्रेरणाके बिना वे फल नहीं दे सकते। इसलिए कर्मोंका फलदाता ईश्वर ही है।

२—इसीलिए अर्जुनसे भगवान्‌ने कहा है कि, यदि तुम साध्यधर्मका यथोचित पालन नहीं कर सकते हो, तो फिर मेरी, अर्थात् सिद्धधर्मकी शरणमें आ जाओ—मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा अर्थात् सभी धर्मोंके अनुष्ठनका फल प्रदान करूँगा। (गीता)

३—"इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-
क्षपण-कथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम्॥' [वेदस्तुति ३]

४—श्रेष्ठधर्म।

'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ।'
(या० स्मृ० १-८)

२. **साध्य-धर्म**—सिद्धधर्मरूप परमात्माकी प्राप्ति या उसके साक्षात्कार-के लिए साक्षात् या परम्परया उपयोगी जो मनुष्योंके प्रयत्न-साध्य, शास्त्रोक्त प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप प्रतिनियत उपाय (साधन) हैं, उन [1]सत्कर्मों तथा उनके अनुष्ठानसे सम्पन्न होनेवाले अपूर्वको (पुण्यको) **'साध्य-धर्म'** कहते हैं। देश, काल, वर्ण, आश्रम, अधिकारी एवं उनकी शक्ति और विभिन्न-विभिन्न भावनाओंके अनुसार साध्य-धर्मके अनेक भेद होते हैं। इसीका निरूपण पूर्व-मीमांसाके बारह अध्यायोंमें किया गया है।

सारांश, सिद्ध-धर्मरूप परमात्माने असङ्कीर्णता अर्थात् बड़े विस्तारके साथ (अत्यन्त फैलावके साथ) इस जगत्को धारण करनेके लिए जो-जो नियम बनाये हैं, उन-उन नियमों के अनुकूल मनुष्योंकी कायिक, वाचिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नतिके साधनभूत, शास्त्रोक्त और अनिषिद्ध जो मनुष्योंके प्रयत्नसाध्य कायिक, वाचिक, और मानसिक शुद्ध आचरण (सदाचार) हैं, उनको साध्यधर्म कहते हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति, समाज, देश, जाति, राष्ट्र एवं विश्वके धारण-पोषण करनेवाले, सर्वत्र सुख-शान्ति सङ्घटन, सामञ्जस्य और सुव्य-वस्थाको स्थापित करनेमें नितान्त उपयोगी तथा परिणाममें हितावह जो ईश्वर-रचित नियम हैं, उनको धर्म कहते हैं। ईश्वर अपने स्वाभाविक ज्ञानके द्वारा धर्मको प्रत्यक्ष देखकर जीवोंके कल्याणके लिए उसका उपदेश देता है। उसकी उक्ति सब प्रमाणोंमें मूर्धन्य है। वह अत्यन्त उदार करुणाके अधीन हैं। अतः जीवोंको असत्य बातका उपदेश वह कदापि नहीं देता। अत एव विश्वके धारण और पोषणके अनुकूल शास्त्र-सम्मत सत्कर्म अर्थात् मनुष्योंके देह, इन्द्रिय और मनके सद् आचरण ही साध्य धर्म हैं।

धर्म और उन्नतिका कार्य-कारण-भाव

[2]धर्मका यथोचित आचरण होनेसे पुण्यकी उत्पत्ति होती है। पुण्यसे सिद्ध-धर्मरूप परमेश्वरमें प्रीति होती है। अतः साध्यधर्म पुण्यको

१—कार्य और कारणका अभेद मानकर, धर्मके साधनोंको भी धर्म कहा गया है। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दमो दया शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

२—साध्य-धर्मका ।

उत्पन्न करके उससे ईश्वरको प्रसन्न करते हुए उसके बनाये हुए नियमोंके अनुसार मनुष्यकी पूर्वोक्त उन्नतिमें पूर्ण सहायक होता है। और मनुष्योंकी मानवताका संरक्षण करते हुए इस प्रकारसे उनका धारण-पोषण करता है कि जिससे वे फिर दूसरे जन्ममें भी मानवतासे हीन न हों। इस प्रकारसे धर्म मनुष्योंकी मानवताका संरक्षण करते हुए उनके विकास एवं उन्नतिमें पूर्ण सहायक होता हैं। अत एव धर्म और उन्नतिका परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है। धर्मनिष्ठ होनेसे ही मनुष्य महान् बन सकता है। अतः धर्म मानव-समाजका एक महान् अवलम्बन है। इसीलिए भगवान् शङ्कराचार्यने धर्मका यह लक्षण बतलाया है कि—'जो इस जगत्की स्थितिका कारण एवं प्राणियोंके अभ्युदय और मोक्षका साक्षात् हेतु है, श्रेयके अभिलाषी ब्राह्मणादि वर्ण और आश्रमवाले लोग जिसका आचरण करते हैं, उसका नाम धर्म है।'[1]

अधर्मसे अवनति

इसके विपरीत, अर्थात् जगत्को धारण-पोषण करनेके लिए ईश्वरके बनाये नियमोंके प्रतिकूल, जो मनुष्योंके कायिक, वाचिक एवं मानसिक—यथेच्छ आचरण हैं, उनको 'अधर्म' कहते हैं। वे जगत्को धारण करनेके लिए ईश्वरके बनाये हुए नियमोंके विरुद्ध होनेके कारण विपरीत फलको (दुःखको) उत्पन्न करते हैं, और वैसा आचरण करनेवालोंको मानवतासे च्युत कर देते हैं, उनकी उन्नतिपर प्रतिबन्ध लगा देते हैं, और उनका अधःपतन[2] कर देते हैं। अर्थात् मनुष्यको नरक या पशु आदि योनियोंमें डाल देते हैं। इसीसे उनको अधर्म, पाप या पातक कहा जाता है। इसीलिए प्रतिकूल फलको उत्पन्न करनेके कारण ही वे शास्त्रोंद्वारा निन्दित और निषिद्ध किए गये हैं। अस्तु।

इस विवेचनसे सिद्ध हुआ कि जगत्को धारण करनेके लिए ईश्वरके बनाये हुए नियमोंके अनुकूल, एवं जीवात्माओंका धारण-पोषण और अभ्युदय करनेवाली मनुष्योंकी कायिक, वाचिक और मानसिक सत्-

---

१—'जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदय-निःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिश्च, श्रेयोर्थिभिरनुष्ठीयमानः।'

(गीताभाष्य, उपो०)

२—क्योंकि अधर्म और अवनतिका परस्पर कार्य-कारण भाव है।

क्रियाओंको 'धर्म कहते हैं। और इसके विपरीत उनके शास्त्र-विरुद्ध आचरणोंको (अर्थात् असत्-क्रियाओंको) अधर्म कहते हैं।

धर्माधर्मका ज्ञान

मनुष्योंके कौन-कौनसे कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म जगत्को धारण करनेवाले ईश्वरीय नियमोंके अनुकूल होते हुए उनके (जीवोंके) उन्नति-कारक होते हैं, और उनकी कौन-कौन-सी क्रियाएँ उनकी उन्नतिके प्रतिकूल होती हैं—यह बात प्रत्यक्ष एवं अनुमानके आधारपर स्थूलदर्शी अल्पज्ञ मनुष्य कदापि नहीं जान सकते, किन्तु ईश्वराज्ञारूप वेदादि शास्त्रों और अतीन्द्रिय पदार्थोंका साक्षात्कार कर लेनेमें समर्थ—योगारूढ महर्षियोंके वचनोंसे ही ये बातें यथावत् समझमें आ सकती हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानकेद्वारा यद्यपि किन्हीं कर्मोंकी उन्नति-साधनताका ज्ञान किसीको कुछ हो भी जाय, तथापि विलम्ब और परोक्षमें फल देनेवाले ऐहलौकिक तथा जन्मान्तरीय उन्नतिमें परिणत होनेवाले कर्मोंका, वैसी उन्नतिके साथ, कार्य-कारण भाव प्रत्यक्ष एवं अनुमानसे नहीं ज्ञात हो सकता। अत एव उस विषयमें तो एकमात्र वेद आदि शास्त्रोंकी ही शरण लेनी पड़ती है। इसीलिए महर्षि यास्कने निरुक्तमें कहा है कि—

"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्व-(विलम-) ग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः, वेदं च वेदाङ्गानि च ॥"

(निरुक्त १–६–५ खं)

'अर्थात् ऋषि-महर्षियोंने अपने दिव्य तपोबल एवं ज्ञानोत्कर्षके द्वारा धर्म-तत्त्वका साक्षात्कार किया। अतः धर्मको प्रकाशित करनेवाले

१—कार्य-कारणयोरभेदेन निर्देशात्, तद्धेतौ तद्भावः। इसी दृष्टिसे अर्थात् कारणमें कार्यका आरोप करके ही शास्त्रोंमें प्रायः धार्मिक-विधि, धार्मिक-क्रिया, संस्कार, यज्ञ, दान, सत्य, दया आदि प्रत्येक सत्कर्मके लिए 'धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए वेदकी—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' यह ऋचा भी इसी अर्थको प्रमाणित करती है। इसी अभिप्रायसे हिंसा, बैर, विद्वेष, असत्यभाषण आदि अनुचित कर्तव्योंके लिए 'अधर्म' शब्दका प्रयोग होता है।

सम्पूर्ण मन्त्र—वेद और वेदाङ्ग—भी उन्हें (बिना ही अध्ययनके) भासित हो गये। तब उन्होंने—जिनको धर्मका साक्षात्कार स्वयं नहीं हो सकता, उनके लिए मन्त्रोंका, अर्थात् शास्त्रोंका, उपदेश किया। उसके बाद जब लोग अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा आलसी होने लगे, तो फिर ऋषियोंने धर्मके ज्ञानके लिए वेद, वेदाङ्ग आदि शास्त्रोंकी रचना की'। अतएव सदाचार और उन्नतिका, तथा दुराचार और अवनतिका कार्यकारण-भाव वेदादि शास्त्र एवं योगारूढ़ ऋषि-महर्षियोंके अनुभवसे ही गम्य है।

शास्त्र ही श्रेयोमार्गके दर्शक

अतः मनुष्योंके अन्दर विकसित होनेवाली शक्तिकी उत्तरोत्तर अभि-वृद्धि जिस प्रकारसे हो सके, जिस प्रकार उसका दुरुपयोग न हो, और उसके सदुपयोगसे मनुष्य जिस प्रकार निरतिशय आध्यात्मिक उन्नतिको प्राप्त हों—उस प्रकारका, अर्थात् इस-इस तरहसे मानवशक्तिका सदुपयोग और इस-इस तरहसे उसका दुरुपयोग होता है, ऐसा—बोध कराके प्रत्येक मनुष्यको अवनतिके मार्गसे हटाकर उसे श्रेयोमार्गमें प्रवृत्त करानेके लिए ही वेद आदि शास्त्र अवतीर्ण हुए हैं। अतएव धर्म और अधर्मके ज्ञानके विषयमें एकमात्र वेद आदि शास्त्र ही हम लोगोंके आधार हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

'पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि॥'

'अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अज्ञात—धर्म, अधर्म, स्वर्ग, मोक्ष इत्यादि अदृष्ट विषयमें, तथा 'वह इसका साध्य है, यह इसका साधन है'—इस विषयमें भी भगवान्का वाक्यरूप वेद[1] ही देवता[2], पितर एवं

१—इसीलिए शास्त्रकारोंने वेद-शब्दकी यह व्युत्पत्ति बतलायी है कि 'धर्माधर्मौ वेदयतीति—वेदः।' 'वेदयन्ति, ज्ञापयन्ति धर्माधर्मौ इदि वेदाः।' (जयमङ्गलाटीका—नीतिसार—१) इसी अभिप्रायको हृदयमें रखकर वेदके भाष्यकार श्रीमन्माधवाचार्यजीने भी वेद-शब्दकी यह व्युत्पत्ति की है कि—

'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति (= ज्ञापयति) स वेदः। अत एवोक्तम्—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥' (ऋ० भा० भूमिका)

२—तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् (ब्र० सू० २१-३-२५) के अनुसार देवता भी शास्त्रोंमें अधिकारी हैं।

मनुष्योंके लिए सर्वोत्तम चक्षु है, अर्थात् चक्षुके समान ज्ञापक है। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—पुराण, मनुका धर्मशास्त्र, वेद, वेदाङ्ग और चिकित्साशास्त्र ये चारों आज्ञा-सिद्ध हैं। अतः इनकी कही हुई बातोंपर श्रद्धा रखनी चाहिए। इनके विषयमें प्रतिकूल तर्क नहीं करना चाहिए।

'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥'

अतः वेद आदि शास्त्र मनुष्योंके लिए श्रेष्ठ मार्ग-दर्शकका काम करते हैं। क्योंकि शास्त्रोंके द्वारा ही लोगोंको धर्म, अधर्म, स्वर्ग, मोक्ष आदि अदृष्ट वस्तुओंका बोध होता है और इस लोकमें भी किसका कौन साध्य है और क्या साधन है—इसका निर्णय भी वेद आदि शास्त्रोंसे ही होता है।

शास्त्रोंसे ही सत्-असत्का परिज्ञान

इसी तथ्यके आधारपर राजनीतिके मर्मज्ञ महर्षि शुक्राचार्यजीने राजनीतिमें भी इस विषयपर जोर देते हुए यह कितने भाव भरे शब्दोंमें कहा है—

'भवतीष्टं सत्क्रिययाऽनिष्टं तद्विपरीतया।
शास्त्रतः सदसज्ज्ञात्वा त्यक्त्वाऽसत्, सत्समाचरेत्॥'

(शु० नी–१ अ०)

'अर्थात् सत्कर्मके आचरणसे मनुष्यका अभीष्ट, अभ्युदय सिद्ध होता है और असत्कर्मोंके आचरणसे उसका अनिष्ठ, अधःपतन होता है। सत्कर्म कौन हैं और असत्कर्म कौन हैं—इसका बोध एकमात्र [1]शास्त्रसे ही होता है। अतः शास्त्रके द्वारा सत्कर्म तथा असत्-कर्मको ठीक-ठीक समझ करके मनुष्यको असत्कर्मोंका परित्याग करके, केवल सत्कर्मोंका ही आचरण करना चाहिए।

शास्त्रमें भी असार, अल्पसार, सार और सारतर अंशको छोड़कर केवल उसमें सारतम अंशको ग्रहण करना चाहिए—उसके सारतम शब्द और सारतम अर्थको ग्रहण करना चाहिए—

१—चारों पुरुषार्थोंके साधनका उपाय बतलानेवाले, शासन करनेवाले अर्थात् सिखानेवाले ग्रन्थोंको 'शास्त्र' कहते हैं। अतः मनुष्योंके उत्थानके लिए श्रेयोमार्गके निर्दोष उपायोंको—प्रतिनियत साधनोंको और उनके प्रकारोंको, जो बतावे, सिखावे, और उसका शासन करे—वह 'शास्त्र' कहलाता है।

'असारमल्पसारं च सारं सारतरं त्यजेत्।
भजेत् सारतमं शास्त्रे रत्नाकर इवामृतम्॥'

धर्ममें प्रमाण

धर्ममें कौन-कौनसे प्रमाण हैं—इस विषयका विवेचन करते हुए भगवान् मनुने कहा है कि—(१) वेद, (२) वेदमूलक स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र, (३) शास्त्र-मूलक सदाचार (शिष्टाचार[१]), और (४) इन तीनों प्रमाणोंके अविरुद्ध आत्म-तुष्टि[२]—ये चारों धर्ममें साक्षात् प्रमाण हैं। अर्थात् ये सब धर्मके स्वरूपको लक्षित करनेवाले हैं[३]—

'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥'
(मनु० २।१२)

मनुके ही मतका समर्थन करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है कि—

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्-सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥'
(या० व० स्मृ० १)

अस्तु। धर्म (अर्थात् साध्य धर्म) सत्कर्मके अनुष्ठानके बाद उत्पन्न होता है। अतः उसके पहले विद्यमान न होनेके कारण वह प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं है और फिर बादमें भी अमूर्त होनेसे, उसमें कोई रूप आदि न होने से वह इन्द्रियोंद्वारा नहीं दिखायी पड़ता। इसी कारण उसे [४]'अदृष्ट' कहते हैं। लिङ्गरहित होनेके कारण वह अनुमान प्रमाणका भी

१—शिष्ट-जनोंका आचार—आर्य लोगोंके आचार और व्यवहार।

२—वैकल्पिक विषयमें अपने मनकी सन्तुष्टि।

३—धर्मके विषयमें सन्देह करना अनर्थका हेतु होता है। महाभारतमें कहा है—

धर्मो यस्याभिशंक्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः।
वेदाच्छूद्र इवापेयात् स लोकादजरामरात्॥
पापीयान् स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशंकते॥
(वनपर्व ३१-७-११)

४—नेत्र आदि इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण धर्म और अधर्मको 'अदृष्ट' कहते हैं—'न दृश्यते इति अदृष्टम्'। दृश्+क्त।

विषय नहीं हो सकता। अतः एकमात्र वेद ही उसमें प्रमाण है। इसी बातका उपपादन करनेके लिए पूर्वमीमांसाकार महर्षि जैमिनिने—

'प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।'

(पूर्वमीमांसा–१–१–४)

—इस सूत्रके द्वारा धर्मकी प्रत्यक्ष-विषयताका निराकरण किया है।

वेदही मुख्य प्रमाण

अमुक सत्कर्मसे अमुक फल प्राप्त होता है, अतः अमुक सदाचार अमुक फलका साधन है—यह ज्ञान अनुमान प्रमाणसे संभव नहीं है। क्योंकि उसका कोई हेतु प्रत्यक्ष नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष प्रमाण तो इस विषयमें प्रत्यक्ष ही लाचार है। क्योंकि यज्ञ-याग, तपस्या आदि सत्कर्म करने वाला कोई भी व्यक्ति स्वर्गको जाते हुए किसीको भी दिखलायी नहीं पड़ता। इसीलिए मीमांसकोंने धर्म और अधर्मको वेदैक-वेद्य—अर्थात् एकमात्र वेदसे ही वेद्य माना है—

'धर्माधर्मार्थिभिर्नित्यं मृग्यौ विधि-निषेधकौ।'

(श्लोक वार्तिक–)

चूंकि, इस अदृष्ट-तत्त्वका ज्ञान मुख्यतया प्रवर्तक या निवर्तक रूप वेदवाक्योंद्वारा ही हो सकता है—इसलिए महर्षि जैमिनिने प्रमाण और फल, दोनोंके द्वारा धर्मको लक्षित करते हुए धर्माधर्मका यह लक्षण बतलाया है कि—

'[1]चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।'

(मीमांसा सूत्र १–२)

१—क्रियायाः प्रवर्तकं निवर्तकं वा यद्वाक्यं, सा चोदना। (आचार्य-चोदितः करोतीति दृश्यते)। लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्। (धूमो लक्षणम् अग्नेरिति हि वदन्ति)। चोदना लक्षणं (= प्रमाणं) यस्य सः, चोदनालक्षणः। चोदनया यो लक्ष्यते सोऽर्थः पुरुषं निश्रेयसेन संयुनक्ति। चोदना हि भूतं, भवन्तं, भविष्यन्तं, सूक्ष्मं, व्यवहितं, विप्रकृष्टं चेत्येवंजातीयमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्।

(शाबर भाष्य–१–२)

'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः।'
'प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत चोदनेत्यभिधीयते॥'

'अर्थात् जो [1]अर्थ वेदोक्त विधिवाक्यों द्वारा कर्त्तव्यरूपसे बोधित होता है, उसको 'धर्म' कहते हैं। तथा जो कर्त्तव्य वैदिक प्रवर्तक वाक्योंद्वारा बोधित नहीं हैं, प्रत्युत [2]निवर्तक वाक्योंद्वारा निषिद्ध है—ऐसे वर्जनीय-रूपसे बोधित होनेवाले [3]अनर्थका नाम 'अधर्म' है।

अतः वैदिक विधि-वाक्योंद्वारा कर्त्तव्यरूपसे बोधित जो अर्थ (यानी सत्कर्म) मनुष्यको उसके अभीष्टसे (अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयससे) संयुक्त कर देता है, उसको धर्म कहते हैं। और निषेध-वाक्योंद्वारा वर्ज्य-रूपसे प्रतीत होनेवाले जो अधर्म (अर्थात् असत्कर्म) मनुष्यकी अवनतिमें परिणत होते हैं—उनको 'अधर्म' कहते हैं। धर्म और अधर्मका ज्ञान वेद से ही होता है। क्योंकि मनुष्योंके भूत, भविष्य और वर्तमान तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट आदि जितने भी इष्ट-साधन और अनिष्ट-साधन हैं, उन सबका अवबोधन करानेमें एकमात्र वेद-शास्त्र ही समर्थ हैं। तदतिरिक्त चक्षु, मन और बुद्धि—कोई भी इन्द्रिय उनका बोध नहीं करा सकती, क्योंकि धर्म और अधर्म ये सब [4]अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। इसलिए इनके विषयमें मुख्यतया वेद ही सर्वोपरि प्रमाण है। इसीलिए मनुने कहा है कि—

श्रुत्युक्त-लिङ्-लोट्-तव्य-प्रत्ययलक्षण-लक्षिता।
चोदना सैव नान्या सा पुराणश्रुतिचोदिता॥'

(आङ्गिरस स्मृति—१–४)

[सारांश :—चोदना = प्रवर्तकं निवर्तकं च विधि-निषेधात्मकं वैदिकं वचनम्। तयैव धर्मो लक्ष्यते—साक्षाद् बोध्यते। सैव लक्षणं, प्रमाणं वा, यस्मिन् सः धर्मः। तथा च—'अग्निहोत्रं जुहुयात्'। 'सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि-विधिविहित-कर्तव्यताकम्—अग्निहोत्रादिकं कर्म धर्मशब्देन अभिधीयते। 'सुरां न पिबेत्'। 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इत्यादि निषेधवाक्यैर्निषिद्धकर्तव्यताकं सुरापानादिकम्—अधर्मशब्देन उच्यते। सूत्रे, अकारप्रश्लेषेण 'अधर्मोऽपि लक्ष्यते।]

१—अर्थ = अभीष्ट, श्रेयःसाधन, अर्थात् सत्कर्म।

'अर्थः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम्।'

अतएव य एव श्रेयस्करः सः एव धर्मशब्देन उच्यते। यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देन उच्यते।

२—निषेधविधि। ३—अनर्थ = अनभीष्ट, अनिष्ट-साधन, अर्थात् असत्कर्म।

४—इन्द्रियागोचर।

'वेदोखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥'
(म० स्मृ० २)

अस्तु ।

धर्मकी महिमा

धर्मकी महिमाके विषयमें भगवान् शङ्कराचार्यने अपने गीता-भाष्यके उपोद्घातमें कहा है कि—

'नारायणः परोऽव्यक्ताद् अण्डमव्यक्तसंभवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥'

"अर्थात् इस विश्वके रचयिता नारायण (परमात्मा) अव्यक्तसे, माया-से अर्थात् प्रकृतिकी सीमासे परे (अस्पृष्ट) हैं। यह ब्रह्माण्ड अव्यक्त (प्रकृति) से उत्पन्न हुआ है और प्रकृति-मण्डलके अन्दर है। ये भूः, भुवः, आदि सब लोक एवं यह सप्तद्वीपवती पृथिवी ब्रह्माण्डके अन्दर है।"

"इसने विशाल विश्वको रचकर जगत्पति परमात्माने इस जगत्की सुव्यवस्थाके लिए सर्वप्रथम [१]धर्म-तत्त्वको रचा। उस धर्मतत्त्वका उपार्जन प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दो प्रकारोंसे होता है। अतएव प्रवृत्ति-से साध्य होनेवाले धर्मको [२]प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिसे साध्य होनेवाले धर्मको [३]निवृत्तिधर्म कहते हैं। इस प्रकार लोगोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे साध्य होनेके कारण साध्यधर्म 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' भेदसे—दो तरहका है। इनमेंसे [४]लोक-संग्रहके लिए, ईश्वरने सर्वप्रथम प्रवृत्तिरूप धर्मके

१—अर्थात् पुण्यको। २—प्रवृत्तिमार्ग—'प्रवृत्तिर्लक्षणं यस्य सः प्रवृत्ति-लक्षणः = ऐहिकामुष्मिक-लोकप्रापक-कर्मानुष्ठानादौ प्रवृत्तिरेव स्वरूपं यस्य सः, पुरुषार्थत्रय-साधनरूपो धर्मः ।'

३—निवृत्तिमार्ग—'निवृत्तिः, निवृत्तिधर्मः = मोक्षधर्म इति यावत् । निवृत्तिः लक्षणं यस्य सः निवृत्तिलक्षणः । ऐहिकामुष्मिक-लोकप्रापक-कर्मानुष्ठानादिभ्यो या निवृत्तिः, तत्पूर्वको निवृत्तिधर्मः । (मोक्षधर्मः) ।

४—लोकस्य संग्रहः—स्वधर्मे प्रवर्तनम् । (नीलकण्ठी-टीका-गीता)

लोकानां स्वे स्वे धर्मे प्रवर्तनम्, उन्मार्गान्निवर्तनं च, लोक-संग्रहः ।
(मधुसूदनी टीका)

लोकस्य उन्मार्गप्रवृत्ति-निवारणं, लोकसंग्रहः । (भाष्योत्कर्ष-दीपिका)

प्रचार की इच्छासे, मरीचि आदि प्रजापतियोंकों रचकर, उन्हें वेदोक्त [1]प्रवृत्तिरूप धर्म ग्रहण कराया। फिर निवृत्तिरूप धर्मके प्रचारके लिए सनक, सनन्दन आदि निवृत्तिपरायण महर्षियोंको उत्पन्न करके उन्हें ज्ञान, वैराग्यरूप [2]निवृत्तिधर्मको ग्रहण कराया। इस प्रकार—प्रवृत्ति और निवृत्तिरूपसे दो प्रकारका धर्म, इस विश्वमें प्रवृत्त हुआ।"

धर्म ही जगत्का आधार

अतः प्रत्येक व्यक्तिके अभ्युदय और निश्रेयस—दोनों तरहकी उन्नतिका मुख्य साधन धर्म है। और धर्म ही इस विश्वका आधार है। इसीलिए श्रुति कहती है—

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति। धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।" (तैत्तिरीय आरण्यक)

'अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का आधार एकमात्र धर्म है। समस्त प्रजा धार्मिकके पास, अपने-अपने संशयोंको निवृत्ति करने के लिए जाती है। धर्मसे ही पापकी निवृत्ति होती है। इसलिए विश्वमें सबसे श्रेष्ठ तत्त्व धर्म है।'

धर्म शब्दके मुख्य अर्थ तीन हैं—(१) धारण करनेवाला, (२) पालन-पोषण करने वाला (३) अवलम्बन देने वाला। धर्म सम्पूर्ण जगत्को धारण करता है, सबका पालन-पोषण करता है और सबको अवलम्बन देता है। इसलिए सम्पूर्ण जगत् एकमात्र धर्मके ही बलपर सुस्थिर है। इसीलिए राजनीतिके महान् ऋषि चाणक्यने कहा है कि—

'धर्मेण धार्यते लोकः'

[चा० सूत्र० १अ०]

१—कर्तव्यरूप कर्मोंमें, अर्थात् यज्ञ, दान आदि सत्कर्मोंमें प्रवृत्ति।

२—शम, दम, दया, तितिक्षा आदिरूप मोक्षधर्मोंका अनुष्ठान।

[आनन्दगिरिटीका—द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः। (१) प्रवृत्तिलक्षणः, (२) निवृत्तिलक्षणश्चेति। यागदानादि - प्रवृत्तिसाध्यं धर्मम्। निवृत्तिरूपस्य, शमदमाद्यात्मनो गमकमाह—ज्ञानेति। विवेकवैराग्यातिशये शमदमाद्यतिशयो गम्यते। ततो विवेकादि तस्य गमकमित्यर्थः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मोऽभ्युदयार्थिनां साक्षादभ्युदयहेतु-निःश्रेयसार्थिनां परम्परया निःश्रेयस-हेतुः। निवृत्तिलक्षणस्तु साक्षादेव निःश्रेयसहेतुरिति विभागः।]

इस प्रकार मनुष्यके जीवनको सदैव सुखमय बनाकर उसे कृतकृत्य कर देनेवाला मुख्य पुरुषार्थ धर्म है।

ईश्वरकी जो शक्ति समस्त जगत्को धारण करती है, जिसमें विश्वको [1]धारण करनेकी शक्ति है, उस ईश्वरेच्छारूप अलौकिक शक्तिका नाम धर्म है—

'या बिभर्त्ति जगत्सर्वम् ईश्वरेच्छा ह्यलौकिकी।
सैव धर्मो हि सुभगे, नेह कश्चन संशयः॥'

इस अस्थिर जगत्में धर्म ही सारी प्रजाको धारण करता है। अतः सम्पूर्ण प्रजाको, विभिन्न प्रकारके समाजको, एकसूत्रमें सम्बद्ध करके धारण करनेके कारण ही धर्मकी धर्मता है। इसीलिए महाभारतमें महर्षि व्यासदेवने धर्मशब्दकी—**ध्रियतेऽनेन इति धर्मः**—इस तरहकी यौगिकी व्युत्पत्ति करते हुए धर्मको जगत्का धारण, पालन-पोषण करने वाला महान् आधार बतलाया है—

'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥'
(म० भा० क० प० ६९-५९)

इसी तथ्यके अनुसार जैन-सम्प्रदायके उद्भट विद्वान् श्रीहेमचन्द्रने कहा है कि—'इतनी बड़ी विशाल और विश्वकी एकमात्र आधार-भूमि यह वसुन्धरा जो इस निरालम्ब, निराधार, शून्य आकाशमें सुस्थिर हो रही है, इसमें धर्मसे अन्य और कोई भी कारण नहीं है। समुद्र जो इस पृथिवीको अपने अन्दर डुबा नहीं लेता, और मेघ जो इसे सींच-सींच करके हरा-भरा करता रहता है, यह सब प्रभाव भी एकमात्र धर्मका ही है। यह बात ध्रुव है'—

'निरालम्बा निराधारा विश्वाधारो वसुन्धरा।
यच्चावतिष्ठते तत्र धर्मादन्यन्न कारणम्॥
(योग-शास्त्र ४-८०)

'आप्लावयति नाम्भोधि-राश्वासयति चाम्बुदः।
यन्महीं, स प्रभावोऽयं ध्रुवं धर्मस्य नेतरः॥'
(योग-शास्त्र ४-९९)

१—अतएव लोकधारणाद् धर्म इति निरुच्यते।

अदृष्ट और अपूर्व

धर्मसे विपरीत फल देनेवाला अधर्म है। अधर्मको पाप या पातक भी कहते हैं। धर्म और अधर्मका, अर्थात् पुण्य और पाप, इन दोनोंका संयुक्त नाम है—'**अदृष्ट**।' मनुष्यके चक्षु, आदि इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष न हो सकनेके कारण धर्म और अधर्मको '**अदृष्ट**' कहते हैं—'**न दृश्यते, इति अदृष्टम्**'

अदृष्ट-शब्दके समान ही, मीमांसकोंके सम्प्रदायमें धर्माधर्मका संयुक्त नाम 'अपूर्व' भी है। '**सुकृत**' और '**दुष्कृत**' भी '**धर्म**' और '**अधर्म**'के ही नाम हैं। अस्तु।

[1]अदृष्टका बल

संसारमें प्राणियोंको जो भी सुख और दुःख प्राप्त हो रहा है, उसके मूल कारण धर्म और अधर्म—ये दो ही हैं। प्राणियोंके पूर्वोपार्जित धर्म और अधर्म ही उनके सुख और दुःखके निदान हैं। जो मनुष्य इस लोकमें जिस प्रकार और जितना धर्म या अधर्मका सञ्चय करता है, परलोकमें वह उसका उतना और वैसा ही फल भोगता है—

'येन यावान् यथा धर्मोऽधर्मो वेद समीहितः।
स एव तत्फलं भुङ्क्ते तथा तावदमुत्र वै॥'

(भाग० ६–१–४५)

यद्यपि एकमात्र ईश्वर ही सबके कर्मोंका फल-दाता है, किन्तु वह प्राणियोंके धर्माधर्मके अनुसार ही उनको फल देता है—धर्म और अधर्म-से निरपेक्ष होकर नहीं। यह सिद्धान्त सत्य एवं अविचल है। इसमें उलट फेर ईश्वर भी नहीं कर सकता, अर्थात् ईश्वरका सबके साथ समभाव है, निष्पक्षता है, अतः वह प्राणियोंके धर्म और अधर्मके फलका केवल न्यायोचित भुगतानमात्र कर देता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि वह सर्वथा स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् है, तथा—

'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'

के अनुसार अनन्तानन्त शक्तियोंका समुद्र है। इस कारण अपने परम स्वातन्त्र्य और अप्रतिहत शक्तिके बलपर वह जब चाहे तब, किसी धर्म-विमुख—अधर्मात्मापर भी निष्कारण ही कृपा करके चाहे जिस किसी-

---

१—अर्थात् धर्म और अधर्मकी शक्ति।

का भी कल्याण अवश्य कर सकता है। क्योंकि वह कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथा-कर्तुम् समर्थ है। उसकी इच्छापर प्रतिबन्ध लगानेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है। किन्तु, उसके विधानमें प्राणियोंको शुभाशुभ फल प्रदान करनेकी पूरी ‘अथारिटी’ मुख्यतया धर्म और अधर्मपर ही है। इसमें हस्तक्षेप करनेकी शक्ति किसीमें भी नहीं है। अतः इस ब्रह्माण्डमें अथवा इसके बाहर, कहीं भी कोई ऐसी वस्तु या जगह ही नहीं है, जिसपर कि इस अदृष्ट-विभागका—धर्म और अधर्मका, शासन न चल सके। इसीलिए राजनीतिके मर्मज्ञ आचार्य विद्वद्वर श्रीसोमदेव सूरीने कहा है कि—

‘किमपि हि नास्ति तद् वस्तु, यत्राऽनैश्वर्यम् अदृष्टाधिष्ठात्र्याः[1]।”

अस्तु।

धर्मसे ही योग-क्षेम

प्राणियोंकी लोक-यात्राका, (अर्थात् योग-क्षेमका) भी धर्मके साथ अति-घनिष्ट सम्बन्ध है। क्योंकि संसारमें जितने भी सुख विद्यमान हैं, उन सबका स्रोत धर्म ही है। इसीलिए महर्षि चाणक्य ने कहा है कि—

‘सुखस्य मूलं धर्मः। (चा० सूत्र—१ अ० १)

इसी अभिप्रायको हृदयमें रखते हुए जैन-सम्प्रदायके आचार्य श्रीसमन्त-भद्रने धर्मका यह लक्षण बतलाया है कि—जो प्राणियोंको संसारके समस्त दुःखोंसे हटाकर उन्हें उत्तम सुखमें, आनन्दधाममें पहुँचा देता है—उसे धर्म कहते है—

‘देशयामि समीचीनं धर्मं कर्म-निबर्हणम्।
संसार-दुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे पदे॥’
(रत्नखण्ड, श्रावकाचार—१,२)

इसी आश्रयसे महापुराणमें भी कहा है—

‘स धर्मो विनिपातेभ्यो यस्मात् सन्धारयेन्नरम्।
धत्ते चाभ्युदयस्थाने निरपाय-सुखोदये॥’
(महापुराण, २ पर्व—२७)

इसीलिए कणाद महर्षिने धर्मसे उत्पन्न होनेवाले फलपर दृष्टि रखते

१—(नीतिवाक्यामृत—धर्मसमुद्देश)

हुए, धर्मका यह लक्षण बतलाया है कि—'जिससे प्राणियोंको [1]अभ्युदय और [2]निःश्रेयस प्राप्त हो, अर्थात् जो ईश्वरीय शक्ति मनुष्यका ऐहलौकिक अभ्युदय करती हुई, अन्तमें उसको निःश्रेयसमें (अर्थात् उन्नतिकी पराकाष्ठामें—मोक्षमें) पहुँचा देती है, उसे धर्म कहते हैं—

'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धि स धर्मः ।' (वैशेषिक दर्शन १–१)

प्रारम्भमें बताया गया है कि, उन्नतिको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका परम लक्ष्य है। अतः उन्नतिकी इच्छा भी स्वाभाविक है। उसकी पूर्तिका एकमात्र साधन धर्म है। अतएव आत्मा, धर्म एवं उन्नतिका परस्पर अटूट सम्बन्ध है।

अतः प्राणियोंके योगक्षेमका भी मुख्य साधन धर्म ही है। यह बात धर्मशब्दकी व्युत्पत्तियोंसे भी सिद्ध होती है।

धर्म शब्दकी व्युत्पत्ति

धर्म शब्दकी व्युत्पत्ति कई तरहकी है—(१) **'धनानि स्रौति, इति धर्मः।'** अर्थात् जो शक्ति प्राणियोंकी सुख-समृद्धिके लिए सब प्रकारके धन-धान्य आदि अभीष्ट वस्तुओंके स्रोत उत्पन्न करती है, उसे धर्म कहते हैं। धर्मका एक नाम 'वृष' भी है। अतः वृष-शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार भी धर्म-शब्दका यह अर्थ परिपुष्ट होता है—(२) **'वर्षति अभीष्टान् कामान् इति वृषः।'** अर्थात् प्राणियोंकी सुखशान्तिके लिए, उनके अभिलषित पदार्थोंकी, जो वृष्टि करता है—उसको 'वृष' (=धर्म) कहते हैं। अथवा—(३) **'धारयते लोकम्, इति धर्मः।' 'ध्रियते लोकोऽनेन इति धर्मः।' 'धरति लोकम् इति वा धर्मः।'** इत्यादि व्युत्पत्तियोंके अनुसार 'धृ धरणे' धातुसे 'मन्' प्रत्यय होकर धर्म शब्द निष्पन्न हुआ है। तदनुसार जो तत्त्व प्राणियोंका धारण, पालन-पोषण करता हुआ उन्हें सुख-शान्तिसे आप्यायित करता है, उसको धर्म कहते हैं। धर्म अकर्तव्यकी, पापकी, अर्थात् दुराचारकी [3]सीमाका अन्त कर देता है। इसीलिए महाभारतमें कहा है—

१—अभ्युदयका अर्थ है—अभितः उदय होना, आगे बढ़ना, उन्नतिको प्राप्त होना, सुखी होना।

२—निःश्रेयसका अर्थ है—निश्चित फलको प्राप्त करलेना, सुखकी पराकाष्ठाको प्राप्त हो जाना।

३—पराकाष्ठा।

'धनाति स्नौति धर्मो हि धारणाद् वेति निश्चयः।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः॥'
(शा० प० ९०—१८)

धर्मका नाम 'पुण्य भी है। पुण्य-शब्द 'पुञ् पवने' धातुसे 'डुण्य' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। पुण्य-शब्दकी व्युत्पत्ति है—(४) 'पुनाति, इति पुण्यम्, अर्थात् जो प्राणियोंके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और कर्मको पवित्र कर दे, उसको 'पुण्य' कहते हैं।

धर्म आत्मगुण

नैयायिक और वैशेषिकोंके मतमें धर्म और अधर्म आत्माका गुण है। जैन-सम्प्रदायके सिद्धान्तमें भी धर्मको आत्माका ही गुण माना गया है—

'वत्थु-सुहावो धम्मो।' (= 'वस्तु-स्वभावो धर्मः।')

साङ्ख्य-योग और वेदान्तमतवाले दार्शनिकोंने धर्माधर्मको बुद्धिका धर्म माना है। क्योंकि उनके मतमें कर्तृत्व बुद्धिका धर्म है। अतः '[1]**शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि**' इस न्यायसे अदृष्ट-तत्त्वकी उत्पत्ति बुद्धिमें होती है। अस्तु।

धर्मकी उत्पत्ति

धर्मकी उत्पत्ति कर्मसे होती है। इसीलिए महर्षि गौतमके मतानुसार धर्मकी यह परिभाषा है कि—

कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः, अपूर्वाख्य आत्मगुणोः धर्मः।'
(गौतमधर्मसूत्र, मिताक्षरावृत्ति)

अर्थात् कर्मसे उत्पन्न, अभ्युदय और निःश्रेयका साधन, अपूर्व नामक जो आत्म-गुण है, वह 'धर्म' है। अतः वर्णाश्रमके नियमानुसार शास्त्र-प्रतिपादित अपने-अपने कर्तव्यके आचरणसे मनुष्योंकी बुद्धि या आत्मामें धर्मकी उत्पत्ति और अभिवृद्धि होती है। अतएव धर्म और अधर्म इन दोनोंकी उत्पत्तिका कारण कर्म है। कर्म सत् और असत् रूपसे—दो प्रकारके होते हैं। सत्कर्मोंके आचरणसे पुण्यकी उत्पत्ति,

---

१. अर्थात् शास्त्रोंद्वारा उपदिष्ट कर्म-फल कर्म करनेवालेको ही मिलता है—दूसरे व्यक्तिको नहीं, (कहीं-कहीं—श्राद्ध आदि कर्मोंमें, दूसरोंको भी मिलता है।)

असत्कर्मोंके आचरणसे पापकी उत्पत्ति होती है। इसीलिए इनको 'सुकृत' और 'दुष्कृत' भी कहते हैं। धर्म और अधर्मका साधारण नाम कर्म है। हमारी कृतिसे, अर्थात् हमारे कर्तव्यसे उत्पन्न होनेके कारण पुण्य और पाप—ये दोनों ही, कर्म नामसे अभिहित होते हैं।

ईश्वरने शास्त्रोंद्वारा हम लोगोंको यह स्पष्ट समझा दिया है कि—"यह कर्म अच्छा है, तथा यह कर्म बुरा है—अर्थात् यह कार्य करने योग्य है, अपना कर्तव्य है, इसे करना चाहिए और यह कार्य नहीं करने योग्य है—अतः इसे नहीं करना चाहिए।"

अतः शास्त्रोंने जिसके लिए जिन कर्मोंको करनेका विधान किया है, उनका आचरण करनेसे उसके लिए धर्मकी उत्पत्ति होती है। तथा जिन कर्मोंके आचरण करनेका निषेध किया है, उनके आचरणसे उसके लिए पापोत्पत्ति होती है। इसीसे न्याय-दर्शनमें धर्म और अधर्मकी यह परिभाषा बतायी गयी है कि—

'विहित-कर्मजन्यो धर्मः। अविहित-कर्मजन्योऽधर्मः।' अस्तु।

धर्मके विरोधी भाव-पदार्थको 'अधर्म' कहते हैं। शास्त्र-विरुद्ध, धर्म-विपरीत—प्राणिहिंसा, असत्य-संभाषण, चौर्य आदि दुष्कर्मोंको करना तथा शास्त्र-विहित कर्मोंको न करना अधर्म है।

अतः शास्त्रोक्त नियमानुसार जिसके लिए जिन कर्मोंसे धर्मोत्पत्ति होती है, वे उसके धर्म कहलाते हैं। तथा जिन कर्मोंके आचरणसे अधर्म-की उत्पत्ति होती है, वे उसके अधर्म कहलाते हैं। यानी धर्मोपार्जनकी, अर्थात् धर्मको प्राप्त करनेकी, [1]साधन-पद्धतिको भी 'धर्म' कहते हैं। अचूक साधन ही साध्य कहलाने लगता है। जैसे कि घृत आयुर्वर्द्धक होनेसे, आयुका साधन होनेसे—'आयु' कहलाता है। इसी तरह धर्मो-पार्जनके तत्-तत् साधन भी धर्म कहलाते हैं तथा अधर्मके साधन अधर्म कहलाते है। 'आयुर्घृतम्'—इत्यादिके समान कारणमें कार्यका उपचार किया गया है।

सारांश, जिसके लिए जिन कर्मोंके आचरणसे धर्मोत्पत्ति होती है, उनको उसके धर्म कहते हैं। जैसे कि—'यह ब्राह्मणधर्म है।' 'यह क्षत्रिय धर्म है।' 'यह स्त्री-धर्म है।' 'यह संन्यासि-धर्म है।' 'यह राज-धर्म है।' इत्यादि इत्यादि। एवं जिनके आचरणसे जिनके लिए अधर्मोत्पत्ति होती

१—कार्य और कारणमें अभेद मानकर।

है, उन्हें उनके लिए अधर्म[1] कहते हैं। इसी सिद्धान्तके अनुसार वायु पुराणमें धर्म और अधर्मका यह लक्षण बतलाया गया है—

'धर्माधर्माविह प्रोक्तौ शब्दावेतौ क्रियात्मकौ।
कुशलाकुशलं कर्म धर्माधर्माविति स्मृतौ॥'

(५९ अ० २७ श्लो०)

इसलिए धर्मको उत्पन्न करनेवाले, अपने कर्त्तव्य कर्मोंके आचरणसे धर्म (=पुण्य) उत्पन्न होता है। धर्मसे प्राणियोंको सुखकी प्राप्ति होती है। और अधर्मको उत्पन्न करनेवाले, निषिद्ध कर्मोंसे पापकी उत्पत्ति होती है। पापसे प्राणियोंको तरह-तरहका दुःख प्राप्त होता है।

इसीलिए योगारूढ, तत्त्ववेत्ता महर्षियोंने अपने अखण्ड तपोबलसे समाधिस्थ होकर, मनुष्यकी उन्नति और अवनतिमें—उसका आचरण ही कारण है—अर्थात् सत् कर्मोंके करनेसे मनुष्यकी उन्नति और दुष्कर्म करनेसे उसकी अधोगति होती है—इस बातको, यानी सदाचार और उन्नति तथा दुराचार और अधोगतिके कार्य-कारण भावको, प्रत्यक्ष देख, समझकर ही—उन्नतिके मूल सदाचारको अपनाकर दुराचारको निषिद्ध घोषित किया है।

धर्म और आर्य

सदाचार-निष्ठ पुरुषोंको आर्य (श्रेष्ठ) कहते हैं। मनुष्योंके जीवनमें, उनके शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्धि एवं उनके सुखोपभोगकी वस्तुओंमें, पशुओंकी अपेक्षा विशेष परिष्कार (अर्थात् संस्कार) अपेक्षित है। इनमें पूर्णतया संस्कृत पुरुष ही आर्य कहलाते हैं। यहाँ तक कि—जब तक मनुष्य उचित संस्कारोंसे पूर्ण-संस्कृत (विशुद्ध) न हो जाँय, तब तक वे सच्चे आर्य नहीं कहला सकते। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'मनुष्य सदाचारसे ही आर्य होता है, धन और विद्यासे नहीं—

'वृत्तेन हि भवत्यार्यो न धनेन न विद्यया।'

(उ० प० ९०-५३)

अतः जो अनिन्द्य आचरणवाले चरित्रवान् पुरुष होते हैं, वे लोग 'आर्य' कहलाते हैं। और निन्द्य-कर्म करनेवालोंको 'अनार्य' कहते हैं।

१—इसीलिए युद्धके समय अर्जुनकी दयाकी गणना अधर्ममें हुई—
'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।'

आर्यता मानव-जीवनका सुपरिष्कृत स्वरूप है। वह मनुष्यका सर्वोत्तम गुण है। राजनीतिमें भी आर्यताको मनुष्यका सर्वोत्तम गुण बतलाया है—**'आर्यता पुरुषज्ञानम्'** इत्यादि। 'आर्य' शब्द **'ऋगतौ'** धातुसे ण्यत् प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। इसकी व्युत्पत्ति है—**'अर्यते सेव्यत्वेन गम्यते, इति आर्यः।'** अर्थात् जिनके सच्चरित्रसे प्रभावित होकर संसारके लोग उनके सेवक वन जाते हैं, उनके सद्गुणोंको ग्रहण करते हैं, उन्हें 'आर्य' कहते हैं।

अथवा—आराद् यातः—आर्यः, अर्थात् जो ग्राम्यदोषोंसे, असभ्यतासे दूर हो गया हो' यानी पूर्ण सभ्य बन गया हो, वह आर्य कहलाता है। इसीलिए शास्त्र-कारोंने कहा है—

'कर्तव्यम् आचरन् कामम्, अकर्तव्यम् अनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः॥'

(वसिष्ठ स्मृति)

'कुलं शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता।
अद्रोह इति येष्वेतत् तान् आर्यान् सम्प्रचक्षते॥'

(भरतः)

इसीलिए भगवान् शङ्कराचार्यने आपस्तम्ब धर्म-सूत्रमें आर्य शब्दकी व्युत्पति करते हुए अपनी व्याख्यामें कहा है कि—[1]आर्याणां भावः = अक्षुद्रता।

सारांश, क्षुद्रताको अनार्यता कहते हैं, महत्ताको आर्यता। इसीलिए महाकवि भारविने कहा है—

'समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः।'

आर्य-शब्दके १० अर्थ होते हैं—१. पूज्य, २. श्रेष्ठ, ३. गुरु, ४. उदार-चरित्र, ५. स्वामी, ६. श्रेष्ठ-कुलोत्पन्न, ७. मित्र, ८. सम्मान्य, ९. शान्तचित, और १०. सङ्गत।

इसीलिए हमारे संस्कृत-वाङ्मयमें [2]आर्यदेश, आर्यधर्म[3], आर्यपथ,[4]

१—(भगवान् शंकराचार्य, आप० ध० सू० का १ प्र० ८ पटल २३ क० १४-६)। तथा—आर्याणां भावः आर्यम् = शिष्टाचारानुपालनम्। (आ० ध० सू० उज्ज्वलवृत्ति।)

२—आर्याणां वासार्हो देशः आर्यावर्तादिः। ३—आर्याणां धर्मः = सदाचारः।

४—आर्याणां पन्थाः।

आर्यवृत्त[1], आर्यवेश[2], आर्यप्राय[3] इत्यादि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इसीलिए मनुने कहा है।

'जाङ्गलं सस्यसम्पन्नम् आर्यप्रायमनाविलम्।
वश्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत्॥'

(मनुः)

महर्षि वाल्मीकिने मर्यादा-पुरुष रामको 'आर्य' कहा है—

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः **सर्वसमश्चैव सदैक-प्रियदर्शनः॥**

(वा० रा० बा० काण्ड १–१६)

इस श्लोककी व्याख्यामें गोविन्दराजने लिखा है कि—आर्यइति। **आङ् पूर्वाद् ऋगतौ इत्यस्माद्धातोः कर्मणि यत् प्रत्ययः। 'अर्तुं योग्यः आर्यः।' अभिगन्तुम् अर्ह इत्यर्थः। किं सतामेव? नेत्याह—सर्व-समः। जातिगुणवृत्त्यादितारतम्यं विना सर्वेषामाश्रयणीयत्वे तुल्यः।**

इसीलिए तिलकने यहाँ अपनी टीकामें आर्यशब्दका अर्थ—सर्व-पूज्य लिखा है—आर्यः = सर्वपूज्यः।

महर्षि चाणक्यने कहा है कि—

"स्वल्पोपकारकृतेऽपि प्रत्युपकारं कर्तुमार्यो जागर्ति।"

(चा० सू० ६–३२)

"अनार्य-सङ्गाद् वरमार्यशत्रुता॥ (,, ,, ७–१२)

चूँकि आर्य-पुरुष सदैव सत्कर्मोंके ही आचरणमें प्रवृत्त रहते है, दुराचार, अर्थात् निषिद्ध आचरणको हीन, हेय अर्थात् निन्द्य समझकर वे उससे घृणा करते हैं। इसीलिए आर्य लोग हिन्दू कहलाने लगे— **हीनं दूषयति—गर्हयति, इति हीनदुः। हीन-दुः** शब्द ही कालान्तरमें लोगोंके उच्चारण दोषसे हिन्दू हो गया। इसीलिए महर्षि आपस्तम्बने धर्म और अधर्मकी यह परिभाषा बतायी है कि—

'यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति, स धर्मः। यं गर्हयन्ति सोऽधर्मः।'

(आप० ध० सू० १–७–९)

१—आर्यस्य वृत्तम्। आर्यं श्रेष्ठं वृत्तं यस्य सः

'सत्यधर्मार्यवृत्ते च शौचे चैवारमेत् सदा।' (मनुः)

२—आर्याणां वेशः, आर्याः प्रायो यत्र सः।

३—आर्यवृन्दैः।

'अर्थात् आर्य लोग जिस कर्मके आचरणकी प्रशंसा करते हैं, वह धर्म है और वे लोग जिस कर्मकी निन्दा करते हैं, वह अधर्म है।'

जैन-सम्प्रदायके आचार्य श्रीसमन्तभद्रने भी इसीसे मिलता जुलता धर्माधर्मका लक्षण माना है। उन्होंने कहा है कि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्यको ही धर्म कहते हैं, इसके विपरीत, अर्थात् मिथ्या-दर्शन, मिथ्या-ज्ञान एवं मिथ्या-चारित्र्यको ही 'अधर्म' कहते हैं—

'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय-प्रत्यनीकानि भवन्ति भव-पद्धतिः॥'

धर्ममें ऐकमत्य

इस प्रकार धर्मके लक्षण और उसकी परिभाषामें वेदसे लेकर समस्त शास्त्रकार महर्षियों, एवं तदनुयायी तत्-तत् सम्प्रदायोंके आचार्यों तक—सभी दार्शनिकोंका पूर्ण ऐकमत्य है तथा पूर्वोक्त एवं अन्याय सभी सूरियोंके धर्म-लक्षणों और उनकी तत्-तत् परिभाषाओंमें परस्पर समन्वय एवं सामञ्जस्य भी स्वतः सिद्ध है। अस्तु।

पुण्य और पाप

जगत्में जितने भी पुण्य-पापरूप कर्म होते हैं, उन सबका मूल कारण राग-द्वेष आदि दोष हैं। ये दोष विश्वको ब्रह्मात्मक न समझनेसे ही उत्पन्न होते हैं तथा **'अयं निजः परो वेति'** ऐसा भेदभाव बढ़नेपर और भी सुदृढ़ हो जाते है। अतः इस भेदभावको दूर करनेके लिए ही वेदने सम्पूर्ण विश्वको एकात्मक, ब्रह्मात्मक, कहा है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्माके यथार्थ स्वरूपको समझकर उसका अनवरत चिन्तन करनेपर शोक, मोह इत्यादि सभी सांसारिक दोष निवृत्त हो जाते हैं। इसीलिए वेदने कहा है—

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥'

कर्मका प्रभाव

हमारी आत्माका, अर्थात् बद्ध-जीवात्माके रूपमें रहनेवाले हम लोगोंका स्वरूप भी परमात्माके ही स्वरूपके समान वास्तवमें अत्यन्त विशुद्ध है और सर्वविध ज्ञान एवं शक्तियोंसे सम्पन्न है। परन्तु हमारा

कर्म, हमारे ही उन गुणोंको छिपा देता है। वह स्थूलरूपसे अथवा सूक्ष्म-रूपसे रहनेवाले प्रकृतिनामक जड़-पदार्थके साथ हमारे स्वरूपका घनिष्ठ सम्बन्ध करा देता है। कर्म हम लोगोंको जो कुछ कष्ट देता है, वह इस प्रकारके जड़-पदार्थके सम्बन्धद्वारा ही देता है। हम लोगोंके मन, वचन और शरीरसे सम्पन्न होनेवाला कोई भी कर्म व्यर्थ नहीं जाता। अति-क्षुद्र कर्मका भी कुछ-न-कुछ फल अवश्य होता है और उसको हमें भोगना पड़ता है। अच्छे एवं बुरे कर्म भले ही तुरन्त फलित न हों, तो भी किसी-न-किसी समय वे अवश्य ही फलित होते हैं—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।'

कर्म तत्काल फल न देनेपर भी, किसी समयपर फल देनेके लिए प्रतीक्षा करते रहते हैं। इस प्रकार इकट्ठे हुए कर्मोंको 'सञ्चित-कर्म' कहते हैं। उन कर्मोंको 'प्रारब्ध-कर्म' कहा जाता है कि, जिनके फलस्वरूप हमें यह शरीर मिला है और जिनके फल-स्वरूप हमें सुख-दुःख भोगना पड़ रहा है, अर्थात् जो कर्म हमें इस समय अपना फल दे रहे हैं—वे प्रारब्ध कहे जाते हैं। इन दोनोंसे अन्य—उत्तर-कालमें किये जानेवाले कर्म 'क्रिय-माण'—आगामि-कर्म कहलाते हैं।

यह नहीं कहा जा सकता कि, 'इस प्रकारके कर्म सर्वप्रथम हम लोगोंमें कबसे होने लगे?' क्योंकि संसार अर्थात् हम लोगोंकी यह जन्म-मरण-परम्परा अनादि है; अर्थात् आदि-हीन है। अस्तु।

ईश्वर सबके विषयमें सम रहता है। उसका कोई प्रिय हो, तथा कोई शत्रु हो—यह बात नहीं है। ऐसा होनेपर भी वह कई जीवोंको मनुष्य जन्म, तथा अन्यान्य जीवोंको पशु, पक्षी, मृग, गुल्म, लता, वृक्ष आदि योनियोंमें जन्म देता है। मनुष्योंमें भी कइयोंको बुद्धि और ऐश्वर्य-सम्पन्न बना देता है। कइयोंको मूर्ख एवं दरिद्र बना देता है। उसके इस प्रकार विषम-सृष्टि करनेका कारण—'कर्म' ही है। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—

कर्मैव कारणं चात्र सुगतिं दुर्गतिं प्रति।'

(शुक्रनीति—१-३७)

मनुष्यका कर्म, अर्थात् कर्मसे उत्पन्न अदृष्ट, मनुष्यके मरनेके बाद उसके साथ-साथ चलता है। इसीसे श्रुतिने कहा है कि—

'[1]तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।'

(बृह० उप० ४।४।२, शतपथ ब्रा० १४।७।२)

इसी अभिप्रायको महर्षि चाणक्यने बड़े सुन्दर शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि—'जैसे छोटे-छोटे बच्चे अपनी माँके पीछे-पीछे चलते हैं, ठीक वैसे ही सुख और दुःख अर्थात् कर्मके फल भी उनके कर्ताके साथ-साथ ही चलते हैं—

'मातरमिव वत्साः सुखदुःखानि कर्तारमेवानुगच्छतः।'

(चाणक्यसूत्र ६—८)

जिसप्रकार खेतमें हल चलाकर, नाना प्रकारके बीज बोकर, जल डाल देनेसे उसमें नाना प्रकारके धान्य उत्पन्न होते हैं। वहाँ जल साधारण रूपसे सबकी सहायता करता है। बीजोंमें होनेवाला भेद ही धान्योंमें होनेवाले भेदका कारण होता है। उसीप्रकार ईश्वर इस सृष्टिका साधारण कारण है। प्रत्येक आत्माके कर्म भिन्न-भिन्न प्रकारके होने के कारण प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न रूपमें जन्म लेता है। इसी अभिप्रायको लेकर महर्षि शुक्राचार्य कहते हैं, कि—

'न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव वा।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता [2]गुणकर्मभिः॥'

(शु० नी० १-३८)

अतएव इसमें ईश्वरका कोई भी दोष नहीं है। क्योंकि वह पक्षपात नहीं करता। राज्यमें अच्छे कार्य करने वालोंका पुरस्कार और दुष्ट कर्म करने-बालोंको दण्ड मिलता है। दण्ड देनेवाले शासकोंको दण्डनीय व्यक्तियोंपर करुणा न आती हो—ऐसी बात नहीं। उनके विषयमें भी उनकी करुणा उसी प्रकार बनी रहती है, जिस प्रकार कि निर्दोष व्यक्तियोंके विषयमें। ऐसा होनेपर भी अपराध करनेवाले लोग उनकी करुणाका लाभ नहीं उठा पाते—यह उनका दोष है। ऐसे ही संसारमें बहुतसे लोग अनेक

१—अर्थात् मरनेके बाद जीवात्माका ज्ञान, कर्म और अनुभूत विषयोंकी वासना भी उसके साथ-साथ जाते हैं।

२—'सत्त्वस्य तमसः साम्यान्मानुषं जन्म लभ्यते।
यद् यदाश्रयतें मर्त्यस्ततुल्यो दिष्टतो भवेत्॥'

(शु० नी० १-३६)

महाक्लेशोंको भोगते रहें—यह उनके कर्मोंका फल है। इससे भगवान्‌को करुणा-हीन कहना उचित नहीं। वे अपनेमें विद्यमान करुणाको प्राणियोंमें लगानेका अवसर (मौका) न पाकर उसके लिए कालकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। अस्तु,

सदाचार

प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप—दोनों ही प्रकारके धर्मका मूल है—सदाचार अर्थात् शिष्टाचार। मानवताके पूर्ण विकासके लिए प्रत्येक मनुष्यके आचरणमें संस्कार अर्थात् परिष्कारकी नितान्त आवश्यकता है ! अतः प्रत्येक वर्ण, आश्रम एवं वर्णाश्रमसे विहीन लोगोंके जो विशुद्ध आचरण हैं, उन्हींको सदाचार कहते हैं।

सदाचार मनुष्य-जीवनका शुद्ध, परिष्कृत, आचरण है। आर्यजनोंके प्रत्येक आचरण शास्त्रीय-पद्धतिसे संस्कृत अर्थात् सुपरिष्कृत होते हैं। अतः भद्र-पुरुषोंका सारा ही जीवन सदाचारमय होता ह। भारत-भूमिमें तत्रापि आर्यावर्त प्रदेशमें, तो सर्वत्र आर्यजनोंका ही प्राधान्य रहा है। इसीलिए भगवान् मनुने सदाचारका यह लक्षण बताया है कि—'भारतके आर्यावर्त प्रदेशमें चारों वर्ण, चारों आश्रम एवं वर्णाश्रमसे हीन जातिवाले लोगोंके जो-जो निज-परम्परागत, प्राचीन सुसंस्कृत आचार यानी कर्तव्य हैं, उन्हींको 'सदाचार' कहते हैं'—

'तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥'

(म० स्मृ० २–१८)

चूँकि, भारतवर्ष सदासे ही सदाचारका प्रमुख केन्द्र रहा है। अतः अन्यान्य देश-वासियोंको भी धर्म और सदाचारकी शिक्षा, यहींसे प्राप्त होती रही।

वेद

क्योंकि, सत्यका अन्वेषण करनेपर यह पता चलता है कि विश्व-मानवकी सभ्यता, संस्कृति, सदाचार एवं धर्मका परम प्राचीन मूल-ग्रन्थ 'वेद' है। आजकलके विभिन्न धर्म-ग्रन्थोंमें वेदकी प्राचीनताको सब विद्वानोंने एक-स्वरसे स्वीकार किया है। वेदसे ही परम प्राचीन मानवोंने शिक्षा पायी है। वह शिक्षा वैदिक ब्राह्मणोंद्वारा विश्वमें फैली है। अतएव मनुका यह कथन है कि—

'एतद्देश-प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥'

—सही प्रतीत होता है। वैदिक ब्राह्मणोंद्वारा जिन-जिन देशवासियोंने काल-क्रमसे शिक्षा लेना बन्द कर दिया था, ऐसे विभिन्न देशवासी वेद एवं वैदिक कर्मोंसे होन हो जानेसे शूद्र कहलाये। जैसा कि मनुने कहा है—

'शनकैस्तु क्रियालोपाद् इमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चोड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥'

(म० स्मृ० १० अ० ४३, ४४)

सारांश यह है कि विश्वमें सर्वप्रथम वेद ही सर्वमान्य धर्मग्रन्थके रूपमें विराजता था। वैदिक विभिन्न शाखाएँ भी विभिन्न देशोंमें प्रचलित थीं, जो कालक्रमसे लुप्त हो गयी हैं। वैसे देशोंमें, उत्तर-कालमें, विभिन्न विशिष्ट व्यक्ति धर्माचार्यके रूपमें प्रकट होकर परम्परा-प्राप्त धर्मका संशोधन करके, प्रचार कराए—जिसके बलपर ही इसलाम, ईसाई इत्यादि विभिन्न धर्म अस्तित्व पाये।

वह परम प्राचीन विश्वमान्य धर्मग्रन्थ वेद अपौरुषेय अथवा ईश्वर-प्रणीत होनेसे त्रैकालिक सर्व अर्थोंसे परिपूर्ण रहता है। अतएव मनुने कहा है—

'भूतं भवद् भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ।'

(म० स्मृ० १२–९७)

ईश्वराज्ञारूप वह वेद सर्वदेश और सर्वकालके सात्त्विक, राजस और तामस—ऐसे विभिन्न प्रकृतिके सभी मनुष्योंके हितावह मार्गका दर्शन करानेके लिए उस-उस परिस्थितिके अनुसार उन-उन मनुष्योंके हितावह अर्थोंका प्रतिपादन करता है—अधिकारियोंकी प्रकृति एवं रुचिके अनुसार उनके अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धिके लिए उपायोंका निरूपण करता है। अधिकारी पुरुष अपने अधिकारके अनुसार कर्त्तव्य चुन लें—यही उचित है। अतएव यह अत्यन्त ध्रुव और निर्विवाद है कि प्राचीन समयमें सारे जगत्‌का, सभी देशोंका धर्म और शिक्षा-गुरु हमारा यह भारतवर्ष ही था।

इसीलिए महर्षि वशिष्ठने अपनी स्मृतिमें कहा है कि—

'तस्मिन् देशे ये धर्मा ये चाचारास्ते सर्वत्र प्रत्येयाः।'

(व० स्मृ० १-८)

'अर्थात् भारतमें, आर्यावर्त-प्रदेशमें जो-जो धर्म एवं शिष्टाचार (शिष्ट-लोगोंके परम्परा-प्राप्त आचार और व्यवहार) हैं, उन्हें विश्वके सभी देशवासियोंको अपनाना चाहिए। क्योंकि वे सभीके लिए कल्याण-कारी हैं।'

अतः भारतभूमिके ब्राह्मणादि वर्ण, आश्रम तथा वर्णाश्रमसे रहित—सभी शिष्टजनोंके—अहिंसा, शौच, सत्य-संभाषण, आदि कायिक, वाचिक और मानसिक जो-जो सत् आचरण हैं, जिनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य सुख-पूर्वक धर्मोपार्जन कर सकते हैं—उन भारतीय पुरुषोंके शुद्ध आच-रणोंको 'सदाचार' कहते हैं। अतः विष्णुपुराणमें सदाचारका यह लक्षण बतलाया है कि—

'साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥'

(३-११-३)

अर्थात् सत् शब्दका अर्थ है—साधु। साधु वही होते हैं, जो दोष-रहित हों। ऐसे साधु, अर्थात् शिष्ट-जनोंके जो लोक-हित साधु आचरण (सत्कर्म) हैं, उन्हींको सदाचार कहते हैं।

ये सदाचार अर्थात् अपने-अपने शुद्ध कर्त्तव्य धर्मोंके मूल (उद्गम क्षेत्र) हैं। क्योंकि सदाचारसे ही सब धर्म उत्पन्न होते हैं। इसीसे सदाचारको धर्मका जनक कहा गया है—

'आचारप्रभवो धर्मः'

जैसे पर्वतोंसे नदियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे ही सदाचारसे धर्मकी उत्पत्ति होती है। अतः धर्मका मूल-स्रोत सदाचार है। सदाचार परि-वर्तनशील नहीं है, वह शाश्वत है—अनादि परम्परासे, सदासे ही चला आ रहा है। अतएव वह आधुनिक नहीं है, सनातन है। इसीलिए भगवान् मनुने सदाचारको शाश्वत कहा है—

'चतुर्णामपि वर्णानाम् आचारश्चैव शाश्वतः।'

(म० स्मृ० १-१०७)

इसीलिए मनुष्य-समाजमें, सभी जातिवालोंके सर्वविध व्यवहारोंमें—सर्वत्र ही सदाचारका समावेश किया गया है। इसी कारण मानवमात्रके लिए भगवान् मनुका यह उपदेश है कि—'सदाचार धर्मका मूल है। इसीलिए श्रुति और स्मृतियोंद्वारा सम्यक् प्रकारसे, उसका निरीक्षण और परीक्षण करके उसे मनुष्योंके समस्त कर्मोंका मुख्य अङ्ग मानकर, उनके प्रत्येक कर्ममें उसका समावेश किया गया है। अतः प्रत्येक मानवको अपने-अपने सदाचारपर सदैव दृढ़ रहना चाहिए'—

'श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ् निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥'

(मनु० ४–१५५)

'सदाचार' शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारकी है—(१) [1]**संश्चासौ आचारः=सदाचारः।** और (२) **सताम्[2] आचारः=सदाचारः।**

इन विग्रह-वाक्योंद्वारा (१) सम्यक् अर्थात् समीचीन आचार एवं शिष्ट-पुरुषोंके आचार—ये दो अर्थ सदाचार शब्दके होते हैं। सारांश—

'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः।'

इस श्रुतिकेद्वारा ब्रह्मवेत्ताओंको 'सन्त' कहा गया है। इसलिए (१) शास्त्रोंद्वारा अनुमत और (२) शास्त्रनिष्ठ [3]सन्तोंके आचारको सदाचार—शिष्टाचार कहते हैं।

यह सदाचार कायिक, वाचिक और मानसिक—भेदसे तीन प्रकारका होता है। जैन-सम्प्रदायके आचार्योंने इसीको (१) **सम्यक् ज्ञान,** (२) **सम्यक् दृष्टि** और (३) **सम्यक् चारित्र्य**—नामसे तीन प्रकारका माना है—

सद्दृष्टिज्ञान वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥'

स्नानादिसे शरीरकी शुद्धि, सरल स्वभाव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, परोपकारमें प्रवणता, देव-पूजन, इत्यादि—ये सब शारीरिक सदाचार हैं।

१—सम्यक्चासौ आचारः। अर्थात् समीचीन आचार, यानी अच्छे आचरण।

२—शिष्टानाम्, यानी सत्पुरुषोंके आचरण (अर्थात् शिष्टाचार। देखिए म० भा० का वनपर्व १ अ०)

३—अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओंके आचरणको।

सत्य और प्रियभाषण अर्थात् असत्य और अप्रिय न बोलना, सद् ग्रन्थोंका अध्ययन, ईश्वरस्तवन, इत्यादि—ये सब वाचिक सदाचार हैं। प्रसन्नता, सौम्यता, कारुण्य, मनोजय, धैर्य, स्थैर्य, भावशुद्धि, क्षमा एवं काम-क्रोधादिसे प्रभावित न होना,—इत्यादि ये सब मानसिक सदाचार हैं। ये तीनों ही प्रकारके सदाचार (यानी समीचीन आचरण या सत्पुरुषोंके आचरण) धर्मके मूल हैं।

इससे विपरीत—क्रूरता, असत्य-भाषण, छल-कपट, धूर्तता, राग-द्वेष, दम्भ, अभिमान आदि—जो दुष्ट आचार अर्थात् दुष्टजनोंके आचरण हैं, वे सब—दुराचार, अनाचार, पातक या भ्रष्टाचार आदि नामसे कहे जाते हैं। दुराचार ही अधर्मके मूल हैं। उनसे ही अधर्मकी उत्पत्ति होती है।

दुराचारसे ही मनुष्यका अधःपतन होता है। दुराचार मनुष्यको नीचेकी ओर ढकेल देता है। वह मनुष्यका अभ्युदय नहीं होने देता। इसीलिए जो मनुष्य दुराचारी हो अर्थात् सदाचारसे हीन हो, उसके द्वारा किया जानेवाला सारा ही धर्मानुष्ठान [1]तुष-कण्डन-न्यायसे, सब बेकार चला जाता है—कुछ भी फल नहीं देता। अत एव जो व्यक्ति सदाचारका पालन नहीं करता, वह धर्मानुष्ठान करनेका अधिकारी ही नहीं है। उसका सारा ही शास्त्राध्ययन तथा धर्माचारण व्यर्थ चला जाता है—कुछ भी फल नहीं देता। महाभारतमें स्पष्ट कहा है कि—

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदा यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥'
(म० भा०)

अस्तु।

उन्नति और अवनति

मनुष्यकी उन्नति और अवनति उसके आचरणोंपर ही निर्भर हैं अर्थात् सदाचारसे मनुष्यका [2]अभ्युदय एवं दुराचारसे उसका अधःपतन होता है। इसीलिए मनुने मानवके लिए सदाचारका पालन करना अनिवार्य बतलाया है—

'आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग् भवेत्॥'
(१–१०९)

१—भूसीको कूटना।

२—सदाचार और उन्नति तथा दुराचार और अवनतिका परस्पर अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। क्योंकि इनका परस्पर कार्य-कारण भाव है।

जो मनुष्य सब सुलक्षणोंसे हीन होते हुए भी सदाचारनिष्ठ होता है, उसकी आयुकी अभिवृद्धि होती है। अतः सदाचार मनुष्यके दीर्घजीवी होनेमें भी एक प्रमुख साधन है। मनुने कहा है कि—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(मनु ४–१५८)

सदाचार केवल दीर्घजीवी होनेका साधन है—इतना ही नहीं, अपितु मनुष्यके देहमें रहनेवाले सभी कुलक्षणोंको (दोषोंको) भी वह मिटा देता है, यानी निष्फल कर देता है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यम् आचारो हन्त्यलक्षणम्॥'

(मनु ४।१५६)

इसीलिए सदाचारका ऐसा महत्त्व, अलौकिक प्रभाव देखकर ही शास्त्रकारोंने इसको परमधर्म बतलाकर इसपर बड़ा जोर दिया है—

'आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः।'

(मनु० १–१०७)

सदाचारमूलक होनेके कारण ही सब धर्मोंको सदाचारकी अपेक्षा रहती है—यह बात ब्रह्मसूत्रके—

'आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्।'

(ब्र० सू० ३–१–१०)

इस वचनसे भी सिद्ध है। अत एव आचारसे ही धर्मकी प्राप्ति होना देखकर, अर्थात् धर्म और सदाचारका कार्य-कारणभाव देख करके ही योगारूढ़ - ऋषिमहर्षियोंने सब तपस्याओंके, समस्त धर्मोंके मूल—सदाचारको अपनाया—

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलम् आचारं जगृहुः परम्॥

(मनु— -११०)

अस्तु।

माता-पिताकी सेवा, गुरुभक्ति, बन्धु-प्रेम, कर्तव्य-निष्ठा, इन्द्रिय-संयम, परहित-प्रवणता, देश-भक्ति, स्वार्थत्यागपूर्वक परार्थ-साधनकी

प्रवृत्ति, समस्त प्राणियोंमें साम्य-दर्शन, अपने पूर्वजोंमें विशेष श्रद्धा, स्वदेश और स्वधर्ममें अभिमान, न्यायमें पक्षपात और भगवद्भक्ति— इत्यादि ये सभी गुण एकमात्र सदाचारकी ही भित्तिपर प्रतिष्ठित होकर चिरस्थायी होते हैं।

किं बहुना, सदाचार-निष्ठ पुरुषोंकी कोई भी क्रिया कभी भी व्यर्थ नहीं होती। क्योंकि सदाचरणके प्रभावसे उनपर मनुष्य या देवता लोग भी बाधा नहीं पहुँचा सकते हैं। इसीसे भगवान् मनुने कहा है—

[1]मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते॥
(म० स्मृ० ४-१४६)

'संस्कृति और सदाचार'

संस्कृति और संस्कार—ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक 'कृञ्' धातुसे भाव अर्थमें 'क्तिन्' प्रत्यय होकर 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न होता है। और [2]उसी धातुसे [3]उसी अर्थमें 'घञ्' प्रत्यय होकर 'संस्कार' शब्द सिद्ध होता है। अतः 'संस्कृति' और 'संस्कार'—इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है—'संस्करणं = संस्कृतिः। संस्करणं = संस्कारः।'

'कृञ्' धातुका अर्थ कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार होता है। 'सम्' उपसर्गका अर्थ होता है—समीचीन। अतः मनुष्यके [4]समीचीन कायिक, वाचिक और मानस व्यापार संस्कृति एवं संस्कार-शब्दोंसे कहे जाते हैं। ये त्रिविध व्यापार तथा पूर्वोक्त सदाचार—वास्तवमें एक ही हैं। इस तरहसे 'संस्कृति' 'संस्कार' तथा 'सदाचार' शब्दका अर्थ एक ही है।

परन्तु इस समय, समाजमें तत्-तत् राष्ट्रोंके सामाजिक और वैयक्तिक कुछ विशेष आचार और व्यवहार ही संस्कृति-शब्दसे व्यवहृत होने लगे

१—अर्थात् जो नित्य सद्आचरणमें तत्पर होकर पवित्र-चित्त हो जाते हैं, जो जप और हवन किया करते हैं, उनको कोई भी दैवी या मानुषी आपत्ति बाधा नहीं पहुँचा सकती है।

२—सम् उपसर्ग पूर्वक कृञ् धातुसे। ३—भाव अर्थमें।

४—कौन-कौनसे कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार समीचीन हैं, और कौन-कौन असमीचीन हैं—इस बातका निर्णय एकमात्र धर्मग्रन्थोंसे ही हो सकता है। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—'शास्त्रतः सदसज्ज्ञात्वा'।

हैं—जो कि इतर समाज एवं राष्ट्रोंमें नहीं उपलब्ध होते और विशेष समाज एवं अन्य राष्ट्रोंके असाधारण होते हैं। ऐसे आचार-विचार-दृष्टिसे समीचीन और असमीचीन होते हुए भी, वर्तमान समयमें, 'संस्कृति'—शब्दसे लोकमें प्रचलित होने लगे हैं। इसी प्रकार विभिन्न-विभिन्न वेष-भूषा, पारस्परिक व्यवहार शैली—आदि रीतियाँ भी लोकमें संस्कृति शब्दसे व्यवहृत होने लगी हैं। परन्तु इनको भी संस्कृति-शब्दसे कहना तभी उचित होगा, जब कि ये अनिष्ट फलके संसर्गसे विरहित होकर अभीष्ट फलके साधन हों। क्योंकि अनिष्ट सम्पर्कसे शून्य होकर अभीष्ट साधनरूप होना ही आचरणोंकी समीचीनता है। समीचीन आचरण ही सदाचार है। इस रीतिसे 'संस्कृति', 'संस्कार' और 'सदाचार' इन तीनों शब्दोंका अर्थ एक ही है और यह सदाचार ही धर्मका मूल है। अस्तु।

चारों वर्ण, आश्रम एवं तदितर जातियोंके जो श्रेष्ठ अर्थात् शास्त्रानुकूल सामान्य और विशेष आचरण (यानी सत्कर्म) हैं, उन्हींको सदाचार कहते हैं। चूँकि सदाचारसे ही धर्मोत्पत्ति होती है, अतः धर्मकी जड़ सदाचार है, सदाचारका ह्रास होनेसे ही धर्मका ह्रास होता है। इसलिए सम्पूर्ण धर्मोंको विनाशसे बचानेके लिए, प्रत्येक राष्ट्रमें सदाचारकी सुरक्षा नितान्त अपेक्षित होती है। सदाचारकी सुरक्षाके लिए ही राज्यकी आवश्यकता होती है। अतः लोगोंके सदाचारकी रक्षाके निमित्त ही विश्वमें [1]राजधर्म प्रवृत्त होता है। कौटल्य महर्षिने कहा है—

चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजधर्मः प्रवर्तकः॥

(कौ० अर्थ० ३—)

सुखका मूल सदाचार है और दुःखका मूल दुराचार। अतः श्रेष्ठ पुरुष वहीं हैं, जिनमें सदाचार दिखलायी पड़ता है। सदाचारनिष्ठ पुरुष ही सन्त, सज्जन, साधु, महात्मा, आदि नामसे विख्यात होते हैं। सदाचार ही सन्त पुरुषोंका लक्षण है।

सदाचारसे ही मनुष्योंके [2]कुल उत्कृष्टताको प्राप्त होते हैं और

१—सम्यग् व्यवहार-दर्शन।

२—इसीलिए कहा है कि—'आचारः कुलमाख्याति।'

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः।

दुराचरणसे ही हीनताको प्राप्त हो जाते है। इसीलिए उच्च कुलमें उत्पन्न पुरुष भी सदाचारसे हीन हो जानेपर [1]अकुलीन हो जाते हैं और हीन-कुलवाले व्यक्ति भी सदाचारनिष्ठ होनेपर कुलीन बन जाते हैं। अतः कुलकी श्रेष्ठता और हीनता भी मनुष्योंके आचरणपर ही निर्भर है। कुलोंमें तारतम्य सदाचारके ही तारतम्यसे होता है। सर्वत्र उच्च-नीच, इस भेद-भावका कारण सदाचारके आचरणका ही तारतम्य है। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि–

'कुलं वृत्तेन रक्ष्यते।'

(म० भा० विदुरनीति)

सदाचार मनुष्य-जीवनका शुद्ध आचरण है। सदाचारसे, चरित्रके बलसे, मनुष्योंका आत्मबल बढ़ता है। दुराचारसे, चरित्रकी हीनतासे, लोगोंका आत्मबल क्षीण हो जाता है। सदाचारनिष्ठ पुरुषोंकी सभी क्रियाएँ सफल होती हैं। [2]देवता भी सदाचारनिष्ठ लोगोंका आदर करते हैं।

इसके विपरीत दुरात्माओंकी, दुराचारियोंकी कोई भी क्रिया फलवती नहीं होती। सूरी सोमदेवने कहा है कि—

'न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयांसि प्रसूते।'

(नी० वा० ध० समु०)

इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—

'अनाचाराद् धर्महानिः।'

(शु० नी० ३–२१४)

सदाचारसे, चरित्रबलसे शत्रु भी प्रभावित हो जाते हैं, अर्थात् सदाचारीके सामने अपना मस्तक झुका देते हैं। इसोसे महर्षि चाणक्यने कहा है कि आचरणसे मनुष्य अपने शत्रुके भी हृदयको जीत लेता है—

'शत्रुं जयति सुवृत्तता।'

(चा० सूत्र० ३–३८)

इसीलिए उन्होंने कहा है कि—[3]म्लेच्छ पुरुष भी यदि सद् आचरण

१—इसीसे मनुने कहा है—'कुविवाहैः क्रियालोपैः वेदानध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च॥'

२—तमातपक्लान्तमनातपत्र-माचारपूतं पवनः सिषेवे। (रघु० २–)

३—'म्लेच्छानामपि सुवृत्तं ग्राह्यम्।'

करते हों, तो उस विषयमें उनका अनुकरण करना चाहिए अर्थात् उनसे सदाचारको ग्रहणकर लेना चाहिए। किसीके भी [1]गुणोंपर मत्सर करना उचित नहीं है।

दुराचार

प्राणियोंके दुःख और अवनतिका मूल कारण अधर्म है—सब तरहके अधर्मकी उत्पत्तिका कारण है दुराचार[2]—दुराचारसे असत्कर्मोंके आचरणसे ही अधर्मकी उत्पत्ति होती है। जो व्यक्ति दुराचरण करते हैं, वे दुर्बुद्धि और दुस्साहसी होते हैं। वैसे ही लोग दुष्ट, दुर्जन, दुष्टात्मा, खल और पापी इत्यादि नामसे प्रसिद्ध होते हैं—

'दुराचारा दुर्विचेष्टा दुष्प्रज्ञाः प्रियसाहसाः।
असन्तस्त्विति विख्याताः सन्तश्चाचार-लक्षणाः॥'

(श० प० १९३)

आचरणकी हीनतासे मनुष्यके सद्विचार, प्रतिभा और व्यक्तित्व—सब नष्ट हो जाते हैं। अतः दुराचारीका चित्त कुविचारोंसे ही चलायमान रहता है। वह लोकमें सदैव निन्दित होता है और अधर्म-ग्रस्त होनेसे सदैव दुःखभागी, रोगग्रस्त एवं अल्पायु होता है—

'दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥'

(मनु० ४.५७)

मनुष्यद्वारा किया गया दुष्कर्म निरन्तर उसका पीछा करता रहता है; और समय आनेपर वह उसकी प्रतिभा, उसकी प्रगति और उसके जीवनके सौन्दर्यको भस्मसात् कर देता है। जो लोग दुराचार, भ्रष्टाचार करनेमें, अधर्मके आचरणमें, आत्म-कल्याण समझते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि वास्तविक कल्याण किसमें है—वे अविवेकी अन्तमें अधोगति-को प्राप्त होते हैं। क्योंकि भ्रष्ट उपायोंसे अर्थात् अवैध उपायोंसे अर्थ

१—'गुणेषु न मत्सरः कार्यः।' (चा० सू० ५-१०, ११)
इसीलिए मनुने कहा है कि—
'यदि हि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित् समाचरेत्।
तत्सर्वमाचरेद् युक्तो यत्र चास्य रमेन् मनः॥' (म० स्मृ०)

२—दूषित आचरण, निन्द्य कर्मोंका आचरण।

और कामकी लिप्सा होनेपर आत्माकी उन्नति कदापि नहीं हो सकती, प्रत्युत भयंकर अधोगति होती है। अतः प्रत्येक मनुष्यको यह बात हमेशा ध्यानमें रखनी चाहिए कि जो काम हम करते हैं, वह सुखकी अपेक्षा अधिक दुःख न दे। अस्तु।

मनकी मलिनता या दुर्वासनाओंके बिना, ठगाईकी ओर किसीकी भी रुचि नहीं हो सकती मनकी मलिनतासे ही दूसरोंको ठगनेकी प्रवृत्ति होती है। दूसरोंको ठगनेसे अपनी आत्माका सबसे बड़ा अहित होता है, अतः अनाचार और भ्रष्टाचारसे आत्माका अहित हुए बिना नहीं रहता। दुराचारसे मनुष्यका मन दिनोंदिन मलिन होता जाता है। जो लोग मनके मैले होते हैं, दिन-रात- दुष्कर्म किया करते हैं—दुराचार और दुष्कर्मोंका आचरण करनेमें डरते नहीं हैं अर्थात् लुच्चाई, बेईमानी, दगाबाजी, उचक्कापन और चोरी-डकैती आदि निन्द्य कर्म करके दूसरोंको ठगते हैं, वे लुटेरे अन्तमें स्वयं बुरीतरहसे बरबाद हो जाते हैं। आज प्रत्येक राष्ट्रमें सर्वत्र यही हो रहा है। इसीलिए भारतके पूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय डा० राजेन्द्र-प्रसादने कहा है कि—"भ्रष्टाचार मिटानेमें ईश्वर और धर्मपर विश्वास अत्यन्त सहायक है। इसलिए बालकोंके लिए धार्मिक शिक्षा अनिवार्य कर देनी चाहिए।" अस्तु।

दुराचारी पुरुष संसारमें कभी भी सुखी नहीं रहता। वह अपनी आत्माका महान् अहित करता है। अतः वह अपनी आत्माके लिए सबसे बड़ा शत्रु है—वह अपने आप अपनी हत्या करनेवाला है, वह आत्म-हत्यारा है। इसीलिए इस विषयमें जैन-सम्प्रदायके तीर्थंकर श्रीवर्धमान महावीरने, दुराचारीपर अत्यन्त तरसते हुए कहा है कि—

'न तं अरी कण्ठछेत्ता करेई जं से करे अप्पणियाँ दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहंतु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥'

(उत्त० सू० २०।४८)

'अर्थात् दुरप्पा, दुरात्मा यानी दुराचारी पुरुष स्वयं अपना जितना अनिष्ट करता है, उतना अहित तो कण्ठच्छेदन करनेवाला वैरी भी नहीं करता। अतः दुराचारी पुरुष अपनी आत्माके लिए सबसे अधिक दयाविहीन होता है। पहले तो उसको अपने कर्मोंका भान ही नहीं होता, परन्तु जब वह मृत्युके मुँहमें पहुँचता है, तब फिर बहुत ही पछताता है।'

आचरण

मनुष्यके आचरणका सम्बन्ध उसकी आत्मासे है। क्योंकि प्रत्येक कर्मका, प्रत्येक आचरणका फल-भोगनेवाला वह स्वयं है। अनाचारका फल दुःख है, अतः बुद्धिमान् व्यक्तिको अनाचरण करके अपनी आत्माका अहित स्वयं नहीं करना चाहिए।

आत्मा ही स्व-पदार्थ है। वही अपना स्वरूप है। आत्मासे अतिरिक्त समस्त पदार्थ जड़ एवं नाशवान् हैं, पराधीन हैं अर्थात् कर्मसत्ताके अधीन हैं। वे सब दुःख-परम्पराको बढ़ानेवाले हैं और अशान्तिके कारण हैं। आत्मा शाश्वत है, अमर है। शरीर धोखा है—नाशवान् है। आज शरीरका जितना मोह है, उतना आत्माका नहीं। दुराचारी लोग शरीरके ही सुखोंपर ध्यान रखते हैं, आत्मापर नहीं। महाभारतमें कहा है कि देवता और अन्तर्यामी पुरुष मनुष्योंके कर्तव्यको बड़ी बारीकीसे देखते रहते हैं।

अतः शरीर और आत्माको पृथक्-पृथक् समझकर आत्माकी उन्नति पर हमेशा ध्यान रखते हुए मनुष्यको सदैव सदाचारनिष्ठ होना चाहिए। क्योंकि स्वकी—आत्माकी उन्नतिमें ही, पर—की, अर्थात् देहादिकी, उन्नति है। परकी, देहकी उन्नतिमें आत्माकी उन्नति कथमपि नहीं है। अतएव विवेकी मानवको अपनी आत्माको सदैव दुःखोंसे बचाना चाहिए। हमेशा आत्माकी उन्नतिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए, आत्मोन्नतिके लिए जो पुरुषार्थ है, वही धर्म है। अतः मोक्षके हेतु धर्माचरण करनेवाला व्यक्ति ही सच्चा पुरुषार्थी है।

इसीसे महाभारतमें कहा है कि मनुष्यको सबसे अधिक ध्यान अपने [१]आचरणपर रखना चाहिए। वित्त तो आता है और जाता है। वित्तसे क्षीण हो जानेपर भी वृत्त अर्थात् आचरण यदि ठीक हो, तो मनुष्यकी कोई हानि नहीं होती। परन्तु वृत्तसे हीन हो जानेसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है—

१—देखिए—म० भा० वनपर्व—२०७–५४। आदिपर्व—७५–२८, २९ अनुशासनपर्व–२–७३, ७४। मनुस्मृति–८० अ० ८५·८६, ९१,९३।

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं मनश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये यमश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥'

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

अतएव बुद्धिमान् पुरुषको, विवेकशील व्यक्तिको आत्मवञ्चना कथमपि न करके अनीति, अत्याचार, दुराचार, दगाबाजी—आदि दोषोंका सर्वथा परित्याग करके अपने सत्कर्मसे, सदाचारसे, जो भी मिलता हो, उसीमें आत्म-सन्तोष करना चाहिए। सुकृत कर्मोंके ही आचरणसे मनुष्य अपने जीवनको कृतकृत्य कर सकता है। अतः मनुष्यको प्रतिक्षण दुष्कृत्योंसे बचकर सत्कर्मोंका ही आचरण करना चाहिए। देश, काल, जाति, वर्ण, आश्रम—आदिके भेदसे, तत्प्रयुक्त सदाचारमें भी कई भेद होते हैं। चूँकि सदाचारसे ही धर्म-तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिए सदाचार ही सामान्य-धर्म एवं विशेष-धर्मके नामसे कहे जाते हैं। सद्वृत्त अर्थात् सदाचारको ही [1]शील कहते हैं। सदाचारके उत्कर्षसे ही दुराचारकी [2]निवृत्ति होती है।

अतः आत्माकी उन्नतिकी इच्छा रखनेवालेको आत्म-निरीक्षण करते रहनेकी आदत डालकर आत्म-शुद्धि, अर्थात् अपने मनकी शुद्धि करते ही रहना चाहिए। आत्म-शुद्धिके लिए, आत्म-निरीक्षणकी जितनी आवश्यकता है, उतनी ही आवश्यकता अपने किये हुए पापोंके पश्चात्ताप-की भी है। पश्चात्तापके विना भी मनकी मलिनता नहीं हटती। अतः मनुष्यको अपने किये दुष्कर्मोंके लिए पश्चात्ताप भी करते रहना चाहिए।

सारांश, मानवको दीर्घदर्शी होकर सदैव सदाचारनिष्ठ होना चाहिए। दीर्घदर्शी न होनेसे ही मनुष्य अधर्मके आचरणमें, भ्रष्टाचारमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिए मानव-समाजको दीर्घदर्शी बननेकी विशेष आवश्यकता है। श्रुति भी यही कहती है—

'दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वम्।'

दुराचारसे राष्ट्रकी क्षति

दुराचारसे, चरित्रकी हीनतासे राष्ट्रकी बड़ी भारी क्षति होती है। दुराचारी व्यक्ति अनियन्त्रित हो-होकर लोक-मर्यादाओं, राष्ट्रकी मर्यादाओं तथा राष्ट्रकी सम्पत्तियोंको नष्ट करके राष्ट्रका विध्वंस कर डालते हैं। अतः लोक-रक्षाके लिए राजाका, शासकका, यह कर्त्तव्य बतलाया गया

१—शीलं स्वभावे सद्वृत्ते। (कोश)

२—दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलम्। (मा० पु० ८१ श्लो० २१)

है कि वह दुराचारियोंपर, भ्रष्टाचार करनेवालोंपर एवं राष्ट्र-सम्पत्तिको नष्ट करनेवालोंपर अत्यन्त कड़ी नजर रक्खे और उनके ऊपर पूरा नियन्त्रण रखे। यदि वह वैसा नहीं करता, तो फिर प्रजापर उसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, और कोई भी सत्-पुरुष उसका आदर नहीं करते, अन्तमें इसका ऐसा दुष्परिणाम होता है कि उसके राष्ट्रका विप्लव हो जाता है और वह नष्ट हो जाता है। इसीलिए महाभारतमें कहा है—

दुराचारान् यदा राजा प्रदुष्टान् न नियच्छति।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव॥
तं प्रजा नानुमन्यन्ते ब्राह्मणा न च साधवः।
ततः संशयमाप्नोति तथा वध्यत्वमेति च॥

(शा० प० १२३ अ० १७, १८)

इसी कारण महर्षि कौटल्यने दुराचारके इन गम्भीर परिणामोंपर दृष्टि रखते हुए कहा है कि, 'इतर लोगोंकी तो बात ही क्या है, सर्वोच्च आश्रमवाले—विरक्त, संन्यासी भी यदि अपने सदाचारसे विरुद्ध आचरण करें, अर्थात् स्वेच्छाचार; दुराचार और दम्भका आचरण करें, तो राजाका अर्थात् शासकका कर्त्तव्य है कि उन्हें उसका उचित दण्ड देकर, उस अनाचारसे बलात् रोके। क्योंकि अनाचार और दुराचारसे ही राष्ट्रमें अधर्म फैलता है। अतः शासक यदि उसकी उपेक्षा करता है, उसका निवारण नहीं करता है, तो फिर वह अनाचार धर्मको कलुषित करके अन्तमें शासक और राष्ट्रको ही विनष्ट कर देता है'—

'प्रव्रज्यासु वृथाचारान् राजा दण्डेन वारयेत्।
धर्मो ह्यधर्मोपहतः शास्तारं हन्त्युपेक्षितः॥'

(कौ० अर्थशास्त्र)

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों वर्ण देवता, ऋषि और पितरोंका ऋण लेकर पैदा होते हैं और यज्ञ, अध्ययन एवं सन्तानोत्पत्तिसे उन्हें इन ऋणोंसे छुटकारा मिलता है। अतः उनसे उऋण हुए विना ही जो अपनी घर-गृहस्थीका परित्याग करता है, उसका पतन हो जाता है—

ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितॄणां प्रभो।
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन् पतेत्॥

(भाग० १०-८४-३९)

ऐसे पथ-भ्रष्टोंके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि—'जिसने अपने मन और इन्द्रियोंपर विजय नहीं पायी है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूपी सारथी बिगड़े हुए हैं, जिसके हृदयमें न तो ज्ञान है और न वैराग्य है—वह पुरुष संन्यासीका वेष धारण करके लोगोंमें पूज्य बनकर केवल जीविकोपार्जन करता है। वह संन्यास-धर्मका सत्यानाश करता है। वह स्वधर्म-त्यागी यज्ञादिके परित्यागसे देवताओंको, लज्जा और शीलसे भोगोंमें सङ्कोच न करके अपने आपको एवं ज्ञान न होनेके कारण अपनी अन्तरात्मा, मुझ परमात्माको भी वञ्चित करता है। अर्थात् इन तीनोंको ठगता है। उस संन्यासीकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं। वह अशुद्ध-हृदयवाला दम्भी इस लोक और परलोक—दोनोंसे हाथ धो बैठता है, अन्तमें कहींका नहीं रहता'—

'यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः।
ज्ञानवैराग्य - रहितस्त्रिदण्डमुपजीवति॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते॥'

(भाग० ११-१८-४०,४१)

[1]सदाचारका महत्व

इसी कारण आर्य-पुरुषोंका इस बातपर बहुत ध्यान रहता था कि हमारा आचार उत्तम रहना चाहिए। श्रुति, स्मृति, इतिहास-पुराण आदि सभी शास्त्रोंमें मनुष्यके लिए आचरणपर बड़ा जोर दिया है। संक्षेपमें सारांश यही है कि ब्राह्मणमें भी यदि सच्छील—सदाचार न हो तो फिर वह ब्राह्मण नहीं—अर्थात् उसके साथ ब्राह्मणका-सा व्यवहार न करके शूद्रका-सा व्यवहार किया जाय। महाभारतमें यक्षके प्रश्नके निम्न-श्लोक बहुत महत्वके हैं—

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

१—महाभारतके वनपर्व, उद्योगपर्व, शान्तिपर्वके १२४ अ० में, विष्णुपुराण—३-८ और ३-११में भी सदाचारका पर्याप्त वर्णन है।

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तो स शूद्रादतिरिच्यते।
अग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
(वनपर्व ३१३ अ० १०८, १०९,१११)

इस वर्णनसे ज्ञात होता है कि महाभारतके समय शुद्ध व्यवहारका कितना भारी मूल्य था। ब्राह्मणके लिए केवल कुल, स्वाध्याय अथवा विद्वत्ता ही कारण नहीं है। चारों वेद पढ़ा हुआ ब्राह्मण भी यदि दुर्वृत्त, दुचारी हो तो वह शूद्रसे भी निन्द्य है। सम्पत्ति और ऐश्वर्यका मूल सदाचार ही है। इसीसे विष्णु-पुराणमें कहा है कि—सदाचारवान् पुरुष दोनों ही लोकोंको जीत लेता है—

'सदाचारवता पुंसा जितौ लोकावुभावपि।'
(वि० पु० ३–११–२)

शुद्ध आचरणवाला पुरुष ही भगवान्‌की आराधनाका अधिकारी है। भगवान् सदाचारनिष्ठ मनुष्यपर ही प्रसन्न होते हैं।

'तस्मात् सदाचारवता पुरुषेण जनार्दनः।'
आराध्यते स्ववर्णोकधर्मानुष्ठान - कारिणा॥'
(वि० पु० ३–८–११)

आचारकी महिमाके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि "भौतिक द्रष्टिसे भूमि आदि वस्तुओंके एक समान होनेपर भी मनुष्योंके अन्तःकरण-को शोधनेके लिए उन वस्तुओंमें 'यह योग्य है अथवा अयोग्य ?' इस तरहका संशय उत्पन्न करके मनुष्योंकी विषयोंमें होनेवाली स्वाभाविक प्रवृत्तिको नियन्त्रित (संकुचित) करनेके लिए अर्थात् विषयोंमें प्रवृत्तिको रोकनेके लिए, धर्मोपार्जनके लिए प्रत्येक वस्तुमें [1]शुद्धि-अशुद्धिकी कल्पना की गयी है। लोक-व्यवहारके लिए [2]गुण और दोषकी कल्पना की गयी है तथा जीविकाके लिए उनमें शुभ और अशुभकी कल्पना की गयी है। ज्ञान अथवा भक्तिके अनधिकारी कर्मासक्त लोगोंके लिए यह आचार मैंने ही मनु आदि ऋषि-महर्षियोंके द्वारा बतलाया है। इससे यह लाभ होता है कि मनुष्य अपनी वासना-मूलक सहज प्रवृत्तियोंको नियन्त्रित करके अपनी इन्द्रिय और मनको वशमें कर लेता है।"

१–योग्यता और अयोग्यता। २–उपादेयता और अनुपादेयता।

'ब्रह्मासे लेकर स्थावर-पर्यन्त सभी प्राणियोंके शरीर पृथिवी, जल तेज, वायु और आकाश—इन पाँच धातुओंके बने हुए हैं। अतः देह-दृष्टिसे सबके शरीर एक समान हैं। आत्मदृष्टिसे भी सबमें समानता ही है। क्योंकि सब जीवोंमें एक ही आत्मा है। इसलिए समान कारण होनेसे सब वस्तु एक समान है।'

—इस तरह यद्यपि सबके शरीरोंमें पञ्चभूत समान है, फिर भी वेदोंने इनके वर्णाश्रम आदि अलग-अलग नाम और रूप बतलाकर—"यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है" इत्यादि भेद इसलिए बना दिये हैं कि ये अपनी वासना-मूलक प्रवृत्तियोंको नियन्त्रित करके; उन्हें संकुचित करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको भलीभाँति सिद्ध कर सकें।

देश, काल, फल, निमित्त और अधिकारी एवं धान्य आदि वस्तुओंके गुण-दोषोंका विधान भी इसीलिए किया गया है कि कर्मोंमें लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति न हो—मर्यादाका भङ्ग न होने पावे।

देशोंमें जहाँ कृष्णसार मृग स्वभावतः नहीं विचारता, जहाँके लोग ब्राह्मणभक्त न हों, वह देश अपवित्र है। कृष्णसार मृगके रहते हुए भी जहाँ सत्पुरुष न हों, वह देश तथा कीकट (मगध) अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग आदि प्रदेश, असंस्कृत अर्थात् सत्-संस्कारोंसे शून्य म्लेच्छ-प्रचुर या मलिन और ऊषर प्रदेश अपवित्र ही होते हैं।

समय वही पवित्र है, कि जिसमें कर्म करने-योग्य सामग्री मिल जाय और शान्तिसे पुण्योपार्जन हो सके। इसके विपरीत जिस कालमें धर्मोपार्जन करनेकी सामग्री न मिल सके, द्रव्यके अलाभ या राष्ट्र-विप्लवके कारण अथवा आशौच आदिके कारण कर्मानुष्ठान नहीं किया जा सके, वह काल कर्मानुष्ठानके अयोग्य होनेसे अशुद्ध बतलाया गया है।

द्रव्यकी—वस्त्रादि पदार्थोंकी शुद्धि और अशुद्धि (१) द्रव्य, (२) वचन, (३) संस्कार, (४) काल, अथवा (५) न्यूनता और अधिकतासे एवं (६) शक्ति, अशक्ति, (७) बुद्धि और (८) वैभवसे होती है। (१) जैसे—किसी पात्रादिकी जल आदिसे शुद्धि और मूत्रादिसे अशुद्धि होती है। (२) किसी वस्तुके विषयमें 'यह शुद्ध है या अशुद्ध ?' ऐसा सन्देह हो जानेपर ब्राह्मण कह दे कि—'यह शुद्ध है' तो उसकी शुद्धि हो जाती है। और विपरीत-वचनसे अर्थात् 'यह अशुद्ध है' कहनेसे वह वस्तु अशुद्ध समझी जाती है। (३)—संस्कारसे अर्थात् जल-प्रोक्षणादि

से पुष्प आदिकी शुद्धि और सूँघनेसे अशुद्धि हो जाती है। (४) कालसे, दस दिनके बाद नवीन उदक आदिकी शुद्धि और तीन दिनतक अशुद्धि होती है। अथवा तत्काल पकाये हुए अन्न आदिकी शुद्धि और वासी अन्नकी अशुद्धि होती है।

ऐसे ही (५)—अधिकता या न्यूनतासे भी वस्तुओंकी शुद्धता और अशुद्धता हो जाती है। जैसे स्पर्श आदि दोषोंसे बड़े जलाशयोंकी शुद्धि और छोटे-छोटे जलाशयोंकी अशुद्धि होती है। इसी प्रकार (६)—शक्ति और अशक्तिसे भी शुद्धि और अशुद्धि हो जाती है। जैसे कि स्वस्थ-पुरुषकी स्नानादिसे शुद्धि और ज्वरादिसे अस्वस्थ व्यक्तिकी, असमर्थकी स्नानादिके बिना भी शुद्धि मानी जाती है। इसी तरह (७)—बुद्धि अर्थात् ज्ञानसे भी शुद्धि और अशुद्धि होती है। जैसे कि किसी व्यक्तिको बन्धुबान्धवोंके जन्म-मृत्युका दश दिनके बाद ज्ञान होनेपर शुद्धि और दस दिनके भीतर ज्ञान होनेसे अशुद्धि होती है। ऐसे ही (८)—वैभवसे भी शुद्धि और अशुद्धि होती है। जैसे वैभवशालीके लिए वही सूतकान्न अशुद्ध और दरिद्रके लिए वही शुद्ध होता है। अस्तु।

ये द्रव्य, देश, वचन आदि भी आत्माके लिए जिस अशुद्धिके हेतु होते हैं, वह उसमें देश, काल, अवस्था आदिके अनुसार होती है, सर्वदा नहीं। जैसे कि निर्भय प्रदेशमें ही स्नानादिसे शुद्धि होती है, व्याघ्रादिके भयसे आक्रान्त प्रदेशमें तो स्नानके बिना भी शुद्धि ही है। तथा रोगादिसे व्यतिरिक्त युवावस्थामें ही स्नानादिसे शुद्धि होती है। बाल्यावस्था और रोगादि अवस्थामें तो स्नानादिके बिना भी अशुद्धि नहीं होती।"[1]

लोकाचार

आचार दो प्रकारका होता है—(१) शास्त्रीय और (२) लौकिक अर्थात् लोकाचार। अतः जो अपना हित चाहे, उसे दोनों ही तरहके आचारोंका पालन करना चाहिए—उनका अनादर नहीं करना चाहिए।

१—इसीलिए स्मृतिमें कहा है कि—

'देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम्।
सम्पत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत् ॥'

देखिये, श्रीमद्भागवतके ११ स्कन्धका—२१वाँ अध्याय, याज्ञवल्क्यस्मृति, मिताक्षरा सहितका द्रव्यशुद्धिप्रकरण और मनुस्मृतिका ५वाँ अध्याय।

क्योंकि उनके आचरणसे धर्मोत्पत्ति होती है, जिससे प्राणियोंका मङ्गल होता है।

अतः ग्रामधर्म, जातिधर्म, देशधर्म और कुलधर्म—जितने भी आचार हैं, उनका आदर करना चाहिए—उल्लंघन कदापि नहीं करना चाहिए। इसीलिए देवीभागवतमें कहा है कि—

आचारो द्विविधः प्रोक्तः शास्त्रीयो लौकिकस्तथा।
उभावपि प्रकर्त्तव्यौ न त्याज्यौ शुभमिच्छता॥
ग्रामधर्मा जातिधर्मा देशधर्माः कुलोद्भवाः।
परिग्राह्या नृभिः सर्वे नैव ताँल्लङ्घयेन्मुने॥
(दे० भा० १–१–१६,१७)

क्योंकि लोकाचारसे धर्म, अर्थ और कामकी उत्पत्ति होती है। महाभारतमें कहा है कि—'उत्तम, प्रसिद्ध एवं धर्मनिष्ठ पुरुषोंने लोकमें धर्म, अर्थ, और कामकी उत्पत्तिके हेतुभूत जो वेदोक्त गुण अर्थात् साधन बताये हैं, वे ही सब लोकाचारके रूपमें प्रकट हुए हैं—लोगोंद्वारा काममें लाये जाते हैं। और शिष्ट-पुरुष उनका आदर करते हैं'—

'अनीचैर्नाप्यविषयैर्नाधर्मिष्ठैर्विशेषतः।
ये गुणाः कीर्तिता लोके धर्मार्थकामसंभवाः।
लोकाचारेषु संभूता वेदोक्ताः शिष्टसंभवाः॥'
(वनपर्व १ अ० ३१)

अतएव विवेकी मनुष्योंको देशाचार, कुलाचार और [1]लोकाचारका भी यथोचित आदर करना चाहिए। क्योंकि इन सब आचारोंसे भी धर्मका उपबृंहण होता है।

सदाचारके सम्प्रवर्तक

मानव-समाजके सर्वविध सदाचारके प्रथम प्रवक्ता एवं सम्प्रवर्तक मुख्यतया सप्तर्षिगण, स्वायंभुव आदि मनु तथा प्रजापति लोग हैं। भगवान्‌की प्रेरणासे ये सब लोग विश्व-व्यवस्थाके सञ्चालनके लिए

१—इसीलिए कहा है कि—

'येषु स्थानेषु यच्छौचं धर्माचाराश्च यादृशाः।
तत्र तन्नावमन्येत.............................॥'

विश्वमें सर्वविध सदाचारका प्रचार करते हैं। उन ऋषि, महर्षि आदि महापुरुषोंकी परम्परासे ही इस विश्वमें सब प्रकारके सदाचार और लोकाचारका प्रसार होता चला आया है। इसीसे विष्णु-पुराणमें कहा है—

'सप्तर्षयोऽथ मनवः प्रजानां पतयस्तथा।
सदाचारस्य वक्तारः कर्तारश्च महीपते।।'

(३–२१–४)

इसी परम्परागत सदाचारको शासक लोग अपने अपने राष्ट्रोंमें, स्वयं आचरणके द्वारा, जनतामें (सारे समाजमें) प्रसारित करते हैं। और उसी परम्परागत सदाचारका प्रचार प्रातःस्मरणीय, चरित्रवान् विद्यागुरु अपने आचरणोंके द्वारा, अपनी-अपनी शिक्षा-दीक्षाओंसे जगत्में करते चले आ रहे हैं। उदात्त-चरित्रशाली, आदर्शभूत आचार्यजनोंके पुनीत आचरणोंसे ही प्रभावित हो-हो करके, उनके अन्तेवासियोंके, शिष्योंके मनमें ऐसी पवित्र श्रद्धा और धारणाएँ उत्पन्न होती हैं कि—'हम भी इन्हींके समान बन जायँ।' तब वे भी उनके विशुद्ध आचरणका अनुकरण करते हुए, उनके सदाचारको अपनाते हुए स्वयं भी वैसा ही बननेका प्रयत्न करते हैं। और—**प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्**' के अनुसार उन्हींके सदृश, किं वा उनसे भी बढ़कर, गौरवशाली महामानव बन जाते हैं। क्योंकि आदर्श उच्चकोटिका होनेसे मनुष्य उसी कोटिका बन जाता है। मनुष्यका ऐसा स्वभाव है कि, जैसा उसको आदर्श मिलता है, वैसा ही वह बन जाता है। अतः मनुष्यका आदर्श उच्चकोटिका होना चाहिए।

इसीलिए सद्गुरुका आचार्य नाम अन्वर्थक है। महर्षि आपस्तम्बने अपने धर्म-सूत्रमें आचार्यका यह लक्षण बतलाया है कि—'शिष्य-गण जिसके चरित्रसे प्रभावित होकर, जिससे धर्मका, सदाचारका सञ्चय करें—उस चरित्रवान् विद्वान्को 'आचार्य' कहा जाता है—

'आचिनोति धर्मान् यतः स आचार्यः।'

(आ० ध० सू०)

इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्यने शिष्योंको शौच और सदाचारकी अनिवार्य शिक्षा देना आचार्यका मुख्य कर्तव्य बतलाया है—

'शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।' (या० स्मृ० १ अ०)

इस प्रकारसे प्रत्येक व्यक्ति, समष्टि—समाज, एवं समस्त विश्वकी सर्वविध समुन्नतिका मूल कारण—सदाचार है और सर्वविध अवनतिका मूल कारण है—दुराचार। क्योंकि विश्वकी उन्नति और अवनतिके प्रधान कारण हैं—धर्म और अधर्म। धर्माधर्मके मूल हैं—सदाचार और दुराचार। धर्म और सदाचार का, अधर्म और दुराचारका, कार्य-कारण भाव है।

इसीलिए दुराचारकी ओर किसीकी कभी भी, किसी प्रकार भी प्रवृत्ति न हो,—सबकी प्रवृत्ति सर्वदा ही सदाचारमें रहे—इसी हितके उद्देश्यसे शिष्य-वत्सल चरित्रवान् आचार्यजन विद्या-ग्रहण करनेके अनन्तर, समावर्तनके समय अपने प्रिय अन्तेवासियोंको—"**धर्मं चर, सत्यं वद**"—इत्यादि उपदेश देनेके अनन्तर सबसे अन्तिम उपदेश यही देते हैं कि—

'यानि मे सुचरितानि, तानि त्वया उपास्यानि, नो इतराणि।'
(तैत्तिरीय उप०)

संगति

उक्त रीतिसे सदाचारका सर्वोत्कृष्ट महत्व होते हुए तथा दुराचारके दुष्परिणामोंको अच्छी तरह समझते हुए भी लोग जो दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं, इसका मुख्य कारण है—सङ्गति अर्थात् दुराचारियोंकी सङ्गति। सज्जन एवं दुर्जनोंकी सङ्गति ही मनुष्यके सत् और असत् आचरणमें प्रवृत्तिका कारण होती है। सङ्गसे प्रभावित होकर ही प्रत्येक नर-नारी सद्आचरण तथा दुराचरणमें प्रवृत्त होते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्यका उत्थान और अधःपतन—यह सब उनकी सङ्गतिपर ही निर्भर रहता है, विद्या और गुणोंपर नहीं। अतः मनुष्य जैसे लोगोंकी सङ्गति करता है, ठीक वैसा ही वह बन जाता है। इसीलिए शास्त्रकारोंने बड़ी छानबीन करके कहा है कि—

यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः॥'

अर्थात् मनुष्य जैसे लोगोंके साथ उठता-बैठता है, जैसे लोगोंकी सेवा-शुश्रूषा करता है और जैसा वह खुद बनना चाहता है, ठीक वैसा ही वह बन जाता है।'

अतः यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्यके मनपर उसकी सङ्गतिका बड़ा भारी असर पड़ता है। महाभारतके वन-पर्वमें इस विषयपर बड़ा सुन्दर विवेचन है। वहाँ कहा है कि—

'[१]संसर्ग अर्थात् सङ्ग लोगोंके अन्तःकरणमें शुभ और अशुभ विषयोंकी भावनाओंका संक्रमण करके लोगोंमें गुण और दोषोंको उत्पन्न कर देता है। जैसे पुष्पोंके संसर्गसे, उनकी सुगन्धसे वस्त्र, जल, तिल और भूमि भी सब सुगन्धित हो जाते हैं, वैसे ही संसर्गसे अर्थात् अच्छे, बुरे लोगोंकी संगतिसे मनुष्योंके अन्दर गुण और दोष उत्पन्न होते हैं।'

'[२]मूर्खजनोंके संसर्गसे मोह अर्थात् अज्ञान उत्पन्न होता है और साधु-सज्जनोंके संगसे धर्म और सदाचारकी नित्य उत्पत्ति होती रहती है। इसीलिए मनुष्यको सदैव विद्वान्, वृद्धजन, उत्तम-स्वभाव वाले, शान्त और तपस्वी पुरुषोंका ही सङ्ग करना चाहिए।'

'[३]जिन पुरुषोंके—विद्या, जाति और कर्म यानी आचरण—ये तीनों ही उज्ज्वल हों, उनकी सङ्गति और सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। क्योंकि ऐसे लोगोंकी सङ्गति शास्त्रोंके स्वाध्यायसे भी बढ़कर होती है।'

१—'श्रूयतां चाभिधास्यामो गुणदोषान् नरर्षभाः।
शुभाशुभाधिवासेन संसर्गः कुरुते यथा॥
वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं गन्धो वासयते यथा।
पुष्पाणामधिवासेन तथा सँसर्गजा गुणाः॥'
(वनपर्व १-२३, २४)

२—'मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागमः।
अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः॥
तस्मात् प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभिः।
सद्भिश्च सह संसर्गः कार्यः शमपरायणैः॥'
(वनपर्व १—२५, २६)

३—'येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
ते सेव्यास्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी॥'
(„ „ —२७)

[1]इसके विपरीत—दुष्टजनोंका दर्शन, स्पर्श होनेसे, उनके साथ वार्तालाप अथवा उठने-बैठनेसे लोगोंके धार्मिक आचारोंकी—सदाचारकी हानि होती है। और वैसे लोगोंके मनोरथ भी सिद्ध नहीं होते।

[2]नीच पुरुषोंके—दुराचारियोंके संगसे मनुष्यकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। मध्यम श्रेणीवालोंके संगसे मध्यम और उत्तमकोटिके अर्थात् सदाचार-निष्ठ पुरुषोंके संगसे श्रेष्ठताको प्राप्त होती है।'

सत्सङ्गकी महिमाके विषयमें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है कि—जिसने, जिस सयय, जहाँ-कहीं भी जिस-किसी प्रयत्नसे बुद्धि, कीर्ति, सद्गति; विभूति (अर्थात् ऐश्वर्य) और भलाई पायी है, वह सब सत्सङ्गतिका ही प्रभाव समझना चाहिए। इनकी प्राप्तिका दूसरा और कोई उपाय लोक और वेदमें—कहीं नहीं है—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहिं पाई।
सो जानब सतसङ्ग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ॥

अस्तु,

सदाचार मनुष्यके उत्थानका मूल है। सदाचरणके अभावसे ही आजका मानव दानव बनता जा रहा है। दुराचारके कारण ही आज सर्वत्र चोरबाजारी, घूसखोरी, एवं अनुशासन-हीनताका प्रसार बढ़ रहा है।

अतः धर्मोपार्जनके लिए सदाचार, संयम, त्याग और सन्तोषकी बड़ी आवश्यकता है। दुराचारी, असंयमी, लोभी, असन्तोषी और ईर्ष्यालु व्यक्ति धर्मकी छायाको भी नहीं ग्रहण कर सकते। मनुने कहा कि—

'वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥'

(२-९७)

१—'असतां दर्शनात् स्पर्शात् संजल्पाच्च सहाशनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥'
(वनपर्व १—२५, २९)

२—'बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात्।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः॥'
(„ „ —३०)

'अर्थात् जिसका मनोगत भाव पवित्र नहीं है, अन्तःकरण स्वच्छ नहीं है, उसको वेदाध्ययन, त्याग, यज्ञ, नियम और तपस्या आदिसे कभी भी सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती।'

अतएव अभ्युदय और परमसुखके मूल—धर्मको प्राप्त करनेके लिए पहले अपने अन्तःकरणको विशुद्ध करना अत्यावश्यक है। परन्तु अन्तःकरणके स्वच्छ होनेका साधन भी धर्मके सिवाय दूसरा कोई नहीं है। शुद्ध-भावसे अनुष्ठित धर्ममें ही वह शक्ति है कि अर्थ और कामकी दुर्वासनाओंसे मलिन और विक्षिप्त अन्तःकरणको भी स्वच्छ करके वह उसे ब्रह्मसाक्षात्कारके योग्य बना देता है। इसीलिए आचार्य सोमदेव सूरीने इस विषयमें गम्भीर विचार किया है। वह कहते हैं कि—

'लोग जिस तरहसे हर समय अपना कुशल-चिन्तन करते रहते हैं, उसी तरह दूसरोंकी भी भलाई सोचते रहना; अर्थात् किसीका भी अनिष्टचिन्तन न करना तथा यथाशक्ति त्याग और तप करना ही धर्म-प्राप्तिके उपाय हैं'—

'आत्मवत् परत्र कुशल-चिन्तनं शक्तित-
स्त्याग-तपसी च धर्माधिगमोपायाः।'

(धर्म-समु०, नी० १)

इसी उद्देश्यसे जिमेरमानने कहा है कि—"आप खूब खुशियाँ मनाइये, खूब मजे लूटिये; बस, सावधानी इतनी बरतिये कि, दूसरोंको नुकसान न हो!"

अतः धर्मार्जन करने वालोंको दूसरोंकी ईर्ष्या, निन्दा, असूया, अनिष्ट-चिन्तन आदि दोषोंसे बहुत ही सावधान रहना चाहिए। परन्तु मनुष्यका ऐसा विशुद्ध मनोभाव बिना भगवत्कृपाके हो नहीं सकता और बिना भगवद्भक्तिके उनकी कृपा नहीं होती। तथा बिना धर्माचरण किये भगवद्भक्ति भी नहीं प्राप्त हो सकती। अतः ये सब बीजाङ्कुरकी तरह परस्पर आश्रित हैं। अस्तु,

मनुष्यका अन्तःकरण जब अधर्मकी दुर्वासनाओंसे अत्यन्त दूषित हो जाता है, तो फिर वह साधारण धर्मानुष्ठान, अथवा साध्यधर्मके अनुष्ठानसे शीघ्र नहीं शुद्ध हो सकता। जैसे देहके अन्दर दूषित व्रण केवल ऊपरी औषधिके लेपसे अच्छा नहीं हो सकता, वैसे ही दुराशय

दुर्जनोंका अधर्म-दूषित हृदय भी केवल ऊपरी धर्मानुष्ठानसे शुद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि उनका वह धर्मानुष्ठान बाह्य औषधिलेपके समान, दम्भरूपमें परिणत होकर सब व्यर्थ हो जाता है। साध्यधर्मकी, ऐसे दुराशयोंके दूषित अन्तःकरणको पवित्र करनेकी शक्ति कुण्ठित (अवरुद्ध) हो जाती है। पर धन्य है—उस सिद्ध-धर्मको, जो कि ऐसे दूषित अन्तःकरणको भी पवित्र कर देता है और क्षणभरमें पवित्र कर देता है—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥'

(गीता)

इसीलिए श्रीमद्भागवतमें सिद्धधर्म-स्वरूप परमात्माके गुणगानके विषयमें कहा है—

'पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥'

(२-२-३७)

'शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः।
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्॥'

(११-६-९)

वास्तवमें बिना भगवद्भक्तिके, अर्थात् सिद्धधर्ममें अनुराग हुए बिना, धर्म (अर्थात् साध्यधर्म) पूर्णरूपसे विकसित नहीं हो सकता। इसीलिए श्रीभगवान्‌ने कहा है कि—'जो मेरी भक्तिसे वञ्चित हैं, उनके चित्तको सत्य और दयासे युक्त धर्म एवं तपस्यासे युक्त विद्या भी भलीभाँति नहीं पवित्र कर सकते'—

'धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥'

(श्रीमद्भागवत० ११-१४-२२)

अतः यह बात भी निश्चित है कि बिना भगवद्भक्तिके धर्मका पूर्ण-विकास नहीं हो सकता है। इसलिए भगवत्प्रसन्नता ही धर्मको पूर्ण सफल करनेकी कुञ्जी है—

'अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः।
स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥'
(श्रीमद्भागवत-१-२-१३)

× × ×

धर्मोपार्जनके अनधिकारी

कितने ही लोग बड़ी श्रद्धा और विधिसे गङ्गास्नान, व्रत और भगवद्भजन आदि तो करते हैं, परन्तु मनुष्योंसे ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य आदि भेदभाव रखते हैं, ऐसे लोगोंको उन सत्कर्मोंसे भी कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती, क्योंकि यह बतलाया जा चुका है कि सामान्य-धर्मोंका ठीक तरहसे पालन किए बिना, कोई भी विशेष-धर्म फल नहीं देता। सबके साथ प्रेमभाव, समता, निर्वैर आदि—ये सामान्य धर्म हैं। अतः जो व्यक्ति दूसरोंके साथ मानवोचित व्यवहार नहीं कर सकता, अर्थात् जो सामान्य-धर्मोंका पालन नहीं करता, वह मनुष्य ही नहीं है। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा है कि—'जो लोग मनुष्योंसे द्वेष रखते हैं, उन्हें भगवद्-उपासनासे भी कोई सिद्धि नहीं मिल सकती'—

'ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया।
उपासत, उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम् ॥'
(७ स्कन्ध-१४-४०)

क्योंकि दुष्ट उद्देश्यसे, दूषित मनोभावसे, किया गया धर्म भी अधर्म हो जाता है। जैसा कि महाभारतमें कहा है—

'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।'
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कः, तान्येव भावावधृतानि कल्कः ॥'
(आ० प० १-२७५)

'अर्थात् तपस्या, वेद आदि शास्त्रोंका अध्ययन, स्वाभाविक वैदिक कर्म, भूख-प्यास सह करके शिल और उञ्छ वृत्तिसे जीविकोपार्जन करना पाप अर्थात् अनुचित नहीं है, बहुत ही उत्तम है। परन्तु ये ही कर्म यदि दुष्टभावसे किये गये हों, तो फिर ये सब अधर्मरूपमें परिणत हो जाते हैं।' क्योंकि कर्मोंके फलदाता भगवान्का ऐसा विशुद्ध स्वभाव है, कि उन्हें जरा-सा भी छल-कपट अच्छा नहीं लगता। उन्होंने स्वयं कहा है कि—

'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल-छिद्र न भावा ॥'

अतः भगवान्‌को प्रिय न लगनेके कारण—प्राणियोंमें द्रोहभाव रखनेवालोंकी कोई भी शुभक्रिया इसलोक और परलोकमें फलीभूल नहीं हो सकती।

'न खलु भूतद्रुहां कापि क्रिया प्रसूते श्रेयांसि परत्रेह च।'

(नी० वा० सदा०)

अतएव सम्पूर्ण प्राणियोंपर हृदयका समान-भाव होना ही हृदयकी शुद्धि है। वही सम्पूर्ण सदाचारका सार है—'समस्त प्राणियोंके साथ समताका बर्ताव रखना ही श्रेष्ठ सदाचार है'

'सर्वसत्त्वेषु समता हि सर्वाचरणानां परमं चरणम्।'

(नी० वा०—धर्मसमुद्देश)

अतः जो लोग मनमें किसीका अनिष्ट-चिन्तन नहीं सोचते, उन महापुरुषोंका व्रतसे रिक्त भी आचरण स्वर्ग-प्राप्ति करा देता है। सोमदेवसूरीने कितना सुन्दर कहा है—

'अजिघांसुमनसां व्रतरिक्तमपि चरितं स्वर्गाय जायते।'

(नी० वा०, धर्मसमु०)

इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'समस्त प्राणियोंके लिए मनद्वारा किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है। अतः मनीषी पुरुषोंका कथन है कि—मनुष्यको मनसे सम्पूर्ण जीवोंका कल्याण सोचते रहना चाहिए'—

'मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत्॥'

(शा० प० १९३–३१)

दुःखी नजरोंके सामने हो, और उसका दुःख दूर करनेकी शक्ति हो, तो भी अपनी शक्तिको छिपाकर जो दुखीकी उपेक्षा करता है, वह धर्मको प्राप्त होने योग्य नहीं है। यदि ऐसा व्यक्ति धर्ममें लग भी जावे, तो उसमें टिक नहीं सकता। दुःखीके प्रति दया, दुःखीके दुःखको दूर करनेकी इच्छा भी भगवान्‌की ही आराधना है। दयासे भगवान् बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं—

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केन वा।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः॥

(भाग० ४–३१–१९)

भगवान् निश्छल-भावसे, भलीभाँति भजनेवाले लोगोंके भावको बढ़ाते हैं और उन्हें उनकी इच्छानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फल प्रदान करते हैं—

'पुंसाममायिनां सम्यग् भजतां भाववर्धनः।
श्रेयो दिशत्यभिमतं यद्धर्मादिषु देहिनाम्॥'

(श्रीमद्भागवत० ४-८-६०)

इसके विपरीत जिनकी इन्द्रियाँ और मनोवृत्ति नियमित न हों, हृदय शुद्ध न हो, उनका किया हुआ धर्माचरण कभी भी शुद्ध और फलप्रद नहीं होता। वैसा धर्म सब दम्भरूपमें परिणत होकर मदमत्त हाथीके स्नानके समान व्यर्थ चला जाता है, कुछ भी फल नहीं देता। नीतिवाक्यामृतमें कहा है—

हस्तिस्नानमिव विफलं सर्वमनुष्ठानम्, अनियतेन्द्रियमनोवृत्तीनाम्।

(धर्म-समुद्देश)

इसी अभिप्रायसे शिवपुराणमें यह कितना सुन्दर कहा है—

'भावशुद्धिः परं शौचं प्रमाणं सर्वकर्मसु।
अन्यथाऽऽलिङ्ग्यते कान्ता भावेन दुहिता तथा॥
मनसो भिद्यते वृत्तिरभिन्नेष्वपि वस्तुषु।
अन्यथैव सुतं नारी चिन्तयत्यन्यथा पतिम्॥'

(शिवपु० ५–उमा-संहिता–२३ अ० २१, २२ श्लोक)

इसीसे 'याज्ञवल्क्य-स्मृति'के अनुपम व्याख्याकार, सकलशास्त्रोंके मर्मवेत्ता आचार्य विज्ञानेश्वरने—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त—इन सबका सार हृदयशुद्धिकी ओर संकेत करते हुए, उक्त ग्रन्थकी अपनी मिताक्षरा टीकाके अन्तमें यह कितना सुन्दर पद्य लिखा है, देखिये—

'अन्तर्मुखानि यदि खानि तपस्ततः किं,
नान्तर्मुखानि यदि खानि तपस्ततः किम्।
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं,
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥'

× × ×

क्रियासे हृदयका भाव श्रेष्ठ है, उत्तम क्रियाके साथ उत्तम-उत्तम भाव भी होना चाहिए। उत्तम क्रिया और पापी मनोवृत्ति—यह योग

अनर्थकारी होता है। जैसी भावना, वैसा परिणाम होता है। अतः आवश्यक धर्म-क्रियाओंके प्रति असावधान व्यक्ति धर्मात्मा नहीं, मनका मैला है। यदि मन शुद्ध हैं तो शुद्ध क्रियाकी उपेक्षाका क्या कारण है। शुद्ध मनोभाव धर्मका प्राण है। अतः भाव-शुद्धिकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। भाव-शुद्धिके लिए इन्द्रिय-संयम और मनः-संयम होना आवश्यक है। अविधिसे धर्माचरण निष्फल हो जाता है। अतः पूजाकी विधिका भी पूरा ध्यान रखना चाहिए। अस्तु,

जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त पर्वतोंके ढेरके बराबर मट्टी और सारे ही गङ्गाजलसे देहको भले ही धोता रहे, पर वह कदापि शुद्ध नहीं हो सकता—यह बात शिवपुराणमें बड़े विस्तारसे कही है—

'गङ्गातोयेन सर्वेण मृद्भारैः पर्वतोपमैः।
आमृत्योराचरेत् शौचं भावदुष्टो न शुद्धयति॥
तीर्थस्नानैस्तपोभिर्वा दुरात्मा नैव शुद्धयति।
श्वदतिः क्षालिता तीर्थे किं शुद्धिमधिगच्छति॥
अन्तर्भावप्रदुष्टस्य विशतोऽपि हुताशनम्।
न स्वर्गो नापवर्गश्च देह-निर्दहनं परम्॥"

(शि० पु० उ० ५ सं० २३ अ० १७-१९)

अतएव धर्मोपाजनके लिए चित्तकी शुद्धि अत्यन्त अपेक्षित है।

चित्तकी शुद्धि

चित्तकी शुद्धि आहार-शुद्धिपर निर्भर है। देवी भागवतमें कहा है कि,

'आहारशुद्धया नृपते चित्तशुद्धिस्तु जायते।
शुद्धे चित्ते प्रकाशः स्याद् धर्मस्य नृपसत्तम॥'

(६-११-५०)

यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत—इत्यादि सभी पुण्य-कर्मोंके अनुष्ठानमें शुद्धिकी अपेक्षा होती है। क्योंकि ये सब क्रियाएँ द्रव्य-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि एवं मनः-शुद्धिकी अपेक्षा रखते हैं। कदाचित् किसीके द्रव्यकी शुद्धि हो जाती है और क्रियाकी भी शुद्धि हो जाती है। परन्तु मनकी शुद्धि तो सभीको सर्वदा ही दुर्लभ है। क्योंकि मन अत्यन्त चञ्चल है, वह अनेक विषयोंकी वासनाओंसे आक्रान्त एवं तरह-तरहकी दुर्भावनाओंसे घिरा

रहता है। साथ ही काम, क्रोध, मद, मात्सर्य और अहंकार आदि दोषोंसे भी भरा रहता है। ये सब दोष ही मनुष्यके तप, जप, तीर्थयात्रा, व्रत आदि शुभ-कार्योंको सिद्ध नहीं होने देते। अतएव इन दोषोंके दूरीकरणके लिए मनुष्यमें अहिंसा, सत्य, धैर्य, क्षमा, इन्द्रिय-संयम आदि गुणोंका होना नितान्त आवश्यक हैं। यह सब बातें देवी-भागवतके निम्नाङ्कित श्लोकोंमें कितने भाव-भरे शब्दोंमें उपदिष्ट हैं। देखिए—

'तीर्थानि नृप दानानि व्रतानि च मखास्तथा।
तपांसि पुण्यकर्माणि सापेक्ष्याणि महीपते॥
द्रव्यशुद्धिं क्रियाशुद्धिं मनःशुद्धिमपेक्ष्य च।
पावनानि हि तीर्थानि तपांसि विविधानि च॥
कदाचिद् द्रव्यशुद्धिः स्यात् क्रियाशुद्धिः कदाचन।
दुर्लभा मनसः शुद्धिः सर्वेषां सर्वदा नृप॥
मनस्तु चञ्चलं राजन् नानाभावसमाश्रितम्।
कथं शुद्धं भवेद्राजन् नानाभावसमाश्रितम्॥
कामक्रोधौ तथा लोभो ह्यहङ्कारो मदस्तथा।
सर्वविघ्नकरा ह्येते तपस्तीर्थव्रतेषु च॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।
स्वधर्मपालनं राजन् सर्वतीर्थफलप्रदम्॥'

(दे० भा० ६–१२, १६–२१)

धर्माचरण करनेके लिए प्रत्येक मनुष्यको वक्ष्यमाण धृति आदि धर्मोंका पालन करते हुए अति गम्भीर, धैर्यशाली एवं शीलवान् होना परम आवश्यक है। अपनी मान-बड़ाई और तुच्छ स्वार्थसिद्धिके लिए अपने धर्मको ख्यापन नहीं करना चाहिए। धर्मको अर्थसे अधिक गोप्य समझना चाहिए। क्योंकि बखान करनेसे वह कपूरकी तरह उड़ जाता हैं, व्यर्थ चला जाता है। नीति-वाक्यामृतमें गम्भीर विवेचनके साथ कहा है कि—'अमूल्य रत्नके समान, अपना धर्म किसीके आगे नहीं प्रकाशित करना चाहिए' :—

'अन्तःसारमिव स्वधर्मा न प्रकाशनीयः'

(व्यवहार समुद्देश — २७ वाक्य)

इसी कारण कुलीन, महापुरुष परोपकार करके मूक हो जाते हैं— उसे ख्यापन नहीं करते—

'उपकृत्य मूकभावोऽभिज्ञातानाम्'
(नी० वा० व्य० समु०—२३ वाक्य)

इसी भावसे भगवान् व्यासने कहा है कि—

'स्वकीयं कीर्तयेद् धर्मं यो जनाग्रे स मन्दधीः।
क्षयं गतः समायाति पापस्य कथितस्य च॥'

इसीसे महाभारतमें कहा है कि 'पापी मनुष्यका, पापके द्वारा छिपाया हुआ पाप, उसे पुनः पापमें ही लगाता है और धर्मात्माका धर्मतः गुप्त रक्खा हुआ धर्म उसे पुनः धर्ममें ही प्रवृत्त करता है'—

'पापेनापिहितं पापं पापमेवानुवर्तते।
धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते।
धार्मिकेण कृतो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते॥'
(शा० प० १९३–२८)

इसीसे जैन सम्प्रदायके एक साधुने कहा है कि—'जैसे कोई व्यक्ति जब हवाके सामने चक्की पीसने बैठता है, तो वह ज्यों-ज्यों अन्नको पीसता जाता है, त्यों-त्यों आटा उड़ता जाता है और उसका सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। ठीक उसी तरह, जो व्यक्ति व्रत और प्रत्याख्यान लेकर दृढ़ भावनासे उनका पालन और गोपन नहीं करता, उसका सारा किया कराया व्यर्थ जाता है। अतः धर्म करनेके बाद यदि कोई उसे सर्व-समक्षमें प्रकाशित करता है, तो वह धर्म-कर्म नष्ट हो जाता है—फल नहीं देता—'**धर्मः क्षरति कीर्तनात्।**' ऐसे ही पाप कर्म करके यदि कोई उसे प्रकाशित कर दे और पछतावे कि—'हाय, मैंने यह बड़ा अनुचित किया? अब मैं आगेसे ऐसा काम कदापि नहीं करूँगा।' इस तरह पश्चात्ताप करके उसका [1]प्रायश्चित्त कर ले तो वह पाप भी क्षीण हो जाता है। यह बात धर्म-शास्त्रमें युक्ति-पूर्वक विशदरूपसे वर्णित है। याज्ञ-वल्क्य महर्षिने कहा है—

'विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥
तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति॥'
(या० स्मृ० ३–२१०, २११)

१—पाप-विशोधक कर्म। पश्चात्ताप भी एक प्रायश्चित्त ही है।

मद

धर्मात्मा लोगोंको मद—अहंकारसे भी खूब सावधान रहना चाहिए। धर्माचरण करनेवालोंको यह दोष चट्से पकड़ लेता है। अपने अन्दर विद्यमान अच्छी बातोंको लेकर मद उत्पन्न होता हैं। 'मैं धर्मात्मा हूँ'—यह अभिमान एक मद है। मदसे फूले हुए मनुष्य दूसरोंको नीच मानकर पतनको प्राप्त हो जाते हैं। [1]अहंकार करनेसे मनुष्यका उपार्जित सारा धर्म खटाईमें पड़ जाता है। अभिमान इतना भयङ्कर दुर्गुण है कि, वह मनुष्यके सभी गुणोंको हर लेता है—

'हरति सर्वमेवाभिमानः'

(नी० श०)

इसीलिए इस विषयमें महर्षि आपस्तम्बने कहा है कि—

'[2]हृष्टो दृप्यति [3]दृप्तो धर्ममतिक्रामति धर्मातिक्रमे पुनर्नरकः॥'

(अ० ध० सू०)

दस धर्म

धर्माचरण करनेके लिए मनुष्यमें धैर्य आदि वक्ष्यमाण गुणोंका होना अत्यावश्यक है। विना इनका संग्रह किये कोई भी व्यक्ति धर्मका उपार्जन नहीं कर सकता है। इसीलिए भगवान् मनुने मनुष्य-मात्रके लिए धृति आदि दस गुणोंके सम्पादनपर बड़ा जोर दिया है। ये दस गुण मानव-मात्रके लिए (विश्वभरके सभी मनुष्योंके लिए) परम उपादेय बतलाये गये हैं। ये गुण केवल धर्मानुष्ठानके लिए ही उपयोगी नहीं हैं, अपि तु मनुष्योंके प्रत्येक लौकिक व्यवहारके लिए भी परम उपयोगी हैं। अत एव इनके आचरणमें किसीके लिए भी अधिकारकी चर्चा नहीं है। क्योंकि ये सर्व-साधारण धर्म हैं। मनुष्य-मात्रके लिए उनके सर्वविध व्यवहारमें अत्यन्त उपयोगी हैं—

१—इसीलिए महर्षि व्यास-देवने कहा है कि—

'न भजति कुमनोषिणां स इज्यां हरिरधनात्मधनप्रियो रसज्ञः।
श्रुतधनकुलकर्मणां मदैर्ये विदधति पापमकिञ्चनेषु सत्सु।'

२—=हृष्टो हि प्रमाद्यति, प्रमत्तो हि धर्ममतिक्रामति।

३—'अहङ्कारच्युतानां तु केशवो न हि दूरतः।
अहङ्कारयुतानां च मध्ये पर्वतकोटयः। (काशी रहस्य)

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय - निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं 'धर्मलक्षणम्॥'
(मनु स्मृ० ६–९२)

ये दस धर्म, अर्थात् धर्मोत्पत्तिके साधन, आत्मज्ञानमें अतीव सहायक होते हैं। इनके पालनसे मनुष्यके ब्रह्मज्ञानमें भी अतीव उत्कर्ष होता है। अतः इन गुणोंका सम्पादन चारों वर्ण, आश्रम एवं वर्णाश्रमसे इतर—अर्थात् सभी देश और सभी जातिके, सभी सम्प्रदायवालोंको करना आवश्यक है। क्योंकि ये धर्म मनुष्यमात्रके लिए बतलाए गये हैं। इनमें पहला गुण है—धृति, अर्थात् धैर्य।

धृति

धृति धर्मका बहुत बड़ा अङ्ग है। धृतिका अर्थ है—धैर्य, सन्तोष, दृढ़ता, आत्मनिर्भरता, स्वावलम्बन। मनुष्यमें धैर्य-गुणकी अत्यन्त आवश्यकता है। धैर्य-हीन मानवमें दृढता नहीं होती। धैर्यका सञ्चार होनेपर ही मनुष्यमें दृढ़ता, स्वावलम्बन, और आत्म-निर्भरताका भाव जागृत होता है। अतः धर्माचरण करनेवालेको धैर्य-शाली होना अत्यावश्यक है। लौकिक व्यवहारमें भी धृतिके अभावसे, कष्ट आनेपर बुद्धि-भ्रंश हो जानेसे मनुष्य अनुत्साहित होकर अपने कर्त्तव्यसे च्युत हो जाता है, अर्थात् निराश होकर निकम्मा हो जाता है। अतः प्रत्येक मनुष्यको सर्वप्रथम धैर्यवान् होना चाहिए। क्योंकि विना धैर्यके मनुष्यकी कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती। धृति मानव-जीवनकी धुरा है। इसलिए मनुष्यको अनीति, अनाचार, भ्रष्टाचार आदि दुर्गुणोंका परित्याग करके, अपने सत्कर्मसे जो भी प्राप्त हो सके, उसीमें सन्तोष करना चाहिए। प्रयत्न करनेपर भी यदि अभीष्ट सिद्ध न हो तो भी अधैर्य नहीं करना चाहिए, अपने कर्त्तव्यपर दृढ़ रहना चाहिए।

[2]क्षमा

क्षमाका अर्थ है, किसीके अपकार करनेपर भी उसका प्रत्यपकार नहीं करना अर्थात् क्षमा करना। क्षमा भी धर्मका बहुत बड़ा अंग है। क्षमाके

१—एतद् दशविधं धर्म-स्वरूपम्। अत्र कार्य-कारणयोरभेदेन निर्देशः। अर्थात् यहाँ धैर्य आदि धर्मके साधनोंको भी [धर्मोत्पत्तिके साधन होनेसे] धर्म कह दिया है। ऐसे ही अन्यत्र भी।

२—क्षमा = परेण अपकारे कृते तस्य प्रत्यपकारानाचरणं क्षमा।

अभावमें मनुष्य अपने माता-पिता, स्त्री, गुरुजन और बन्धु-बान्धव आदि लोगोंके साथ कलह करता हुआ अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है। क्षमासे मनुष्यके सब काम सिद्ध होते हैं। अतः मनुष्यमें क्षमा-गुणका होना भी अत्यन्त आवश्यक है। क्षमा निर्बलोंके लिए महान् बल है, बलवानोंके लिए महान् आभूषण है। यह एक वशीकरण मन्त्र है। क्षमासे मनुष्यके सब कार्य सिद्ध होते हैं। इसीलिए शास्त्रोंमें कहा है—

'क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा।
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न सिद्ध्यति॥'

[1]दम

अन्तः-इन्द्रिय अर्थात् मनके संयमका नाम 'दम' है। मनः-संयमके अभावमें काम-क्रोध आदि दुर्व्यसनोंके वशमें होकर मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है। अन्यान्य इन्द्रियोंके विषयप्रवर्तनमें मन-इन्द्रिय ही मुख्य हेतु है। अतः मनुष्यके अन्दर दम अर्थात् आन्तरिक इन्द्रिय-संयमका होना भी अतीव आवश्यक ही है।

[2]अस्तेय

अन्यायसे, छल-कपट या चोरीसे, परायी वस्तुका अपहरण कर लेना 'स्तेय' कहा जाता है। यह एक भयङ्कर दुर्गुण है। इस दुर्गुणसे मनुष्य जिस-किसीकी भी वस्तुका अपहरण करके कुमार्गगामी हो जाता है। स्तेयसे बढ़कर और कोई अनर्थकारी दोष है ही नहीं, यह मनुष्य-जीवनका एक महान् कलङ्क है। इस दुर्गुणसे मनुष्यकी महा भयङ्कर अधोगति होती है। इस दुर्गुणका न होना 'अस्तेय' कहलाता है। धर्माचरण करनेवालोंमें 'अस्तेय' गुणका होना भी अत्यावश्यक है।

[3]शौच

बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे शौच, अर्थात् पवित्रता—दो तरहकी होती है। मृत्तिका, जल आदिसे देहको शुद्ध करना—यह बाह्य-शौच अर्थात् बाहरी शुद्धि, कहलाता है। दया, परोपकार, तितिक्षा आदि गुणोंके

१—दमः = विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमः।

२—अस्तेयम् = अन्यायेन परधनादिग्रहणं स्तेयं, तदभावम् अस्तेयम्।

३—शौचम् = यथाशास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचम्।

द्वारा चित्तकी शुद्धि—यह आभ्यन्तर शौच कहलाता है। इस प्रकार द्विविध शौचके बिना भी अशुद्ध मनुष्य धर्मका आचरण नहीं कर सकता। अतएव धर्मानुष्ठानकी सफलताके लिए मनुष्यमें इस पवित्रता गुणका होना भी परम आवश्यक ही है।

[1]इन्द्रिय-निग्रह

विषयोंकी ओर जानेवाली इन्द्रियोंका निग्रह करना, रोकना अर्थात् इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना—इन्द्रिय-निग्रह कहलाता है। इसके बिना चित्तके विषयाकृष्ट हो जानेपर धर्मानुष्ठानमें सुस्थिरता नहीं हो सकनेसे मनुष्यका अधःपतन हो जाता है। अतः धार्मिक पुरुषमें इस गुणका होना भी अत्यावश्यक है। इसीलिए भगवान् मनुने मनुष्योंके प्रत्येक व्यवहारमें इन्द्रिय-संयमको अत्यन्त उपयोगी समझकर इसपर खूब जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि—

'इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥'

(म० स्मृ० २-८८)

'अर्थात् जैसे कुशल सारथी रथमें जुड़े हुए घोड़ोंका नियमन करता है, वैसे ही विद्वान् मनुष्यको विषयोंके दोषोंको जानते हुए, विषयोंमें आकृष्ट होकर उनकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंको रोकनेका प्रयत्न करना चाहिए।

[2]धी

शास्त्रादि तत्त्वोंके ज्ञान अथवा कर्तव्याऽकर्तव्यके विवेकको 'धी' अर्थात् विवेकवती बुद्धि, कहते हैं। इस गुणके अभावमें शास्त्रोंद्वारा निश्चित कर्मोंका अनाचरण तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका आचरण हो जानेसे मनुष्य अनर्थको प्राप्त हो जाता है। अतः धार्मिक मनुष्यमें विवेक-बुद्धिका होना भी अत्यावश्यक ही है।

[3]विद्या

विद्याका अर्थ है—आत्मज्ञान। यह बात आगे बतलायी जायगी कि—आत्मज्ञान ही धर्मानुष्ठानकी मुख्य आधारशिला है। अतः इसके

१—विषयेभ्यश्चक्षुरादिवारणम्, इन्द्रियनिग्रहः। 'अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति।' याज्ञ०।

२—धीः = शास्त्रादिजनिततत्त्वज्ञानम्। ३—विद्या = आत्मज्ञानम्।

बिना मनुष्यकी प्रवृत्ति धर्मकी ओर नहीं हो सकती है। क्योंकि देहातिरिक्त आत्माका ज्ञान ही मनुष्यको पारलौकिक फलवाले सत्कर्मोंमें प्रवृत्त करता है। अतएव धर्मानुष्ठान करनेवाले व्यक्तिमें इस गुणका होना तो मुख्य ही अपेक्षित है।

[1]सत्य

यथार्थ बातको कहना—सत्य गुण है। सत्यसे ही धर्मकी अभिवृद्धि होती है—

'धर्मः सत्येन वर्द्धते।'

(मनु ८–८३)

मनुष्य प्रमादवश समयपर झूठ बोल देता है। इससे मनुष्यका सबसे बड़ा अहित होता है। झूठ बोलनेसे मनुष्यके मनमें, अन्तःकरणमें, मलिनता प्रविष्ट हो जाती है। मन, वचन और कर्मका—एक क्रमसे रहना, ही शुद्धता है। झूठ बोलनेसे यह क्रम बिगड़ जाता है। क्योंकि मनमें कुछ और होता है, वाणीसे कुछ और ही निकलता है, तथा कर्म कुछ और ही होता है। यह इन तीनोंका क्रम-बिगड़ना ही एक प्रकारका मैल है। इसलिए झूठ बोलनेसे मनुष्यके अन्तःकरणमें बड़ी मलिनसा आ जाती है। अतः सत्यके अभावमें झूठे मनुष्यपर किसीका विश्वास सही नहीं होता। इसीलिए मनुष्यमें इस गुणका रहना भी अत्यन्त आवश्यक ही है।

[2]अक्रोध

क्रोधका कारण होनेपर भी मनमें क्रोधका उत्पन्न न होना—यह 'अक्रोध' कहलाता है। क्रोध मनुष्योंका महान् शत्रु है। क्रोधी पुरुषको अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका, वाच्य-अवाच्य आदिका भान ही नहीं होता है। इसीलिए क्रोधी व्यक्ति अपने माता-पिता, गुरुजन, बन्धु-बान्धव एवं स्वजनोंको भी मारने दौड़ता है। अतः क्रोधी पुरुष क्या-क्या पाप (अनुचित कर्म) नहीं कर सकता है—

'क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनपि क्षिपेत्॥'

१—सत्यम् = यथार्थाभिधानम्।

२—क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिः, अक्रोधः।

अतएव क्रोधसे होनेवाले अनर्थोंसे बचनेके लिए प्रत्येक मानवमें क्रोधके अभावका—अर्थात् 'अक्रोध' गुणका होना भी सर्वथा ही अपेक्षित है।

इसी प्रकार अन्यान्य बुरे विचारोंसे भी उनका प्रतिबिम्ब पड़कर मनमें मालिन्य आ जाता है। उस मालिन्यको धो डालनेकी आवश्यकता है। उसीके लिए ये दस प्रकारके सदाचार मनुष्यमात्रके लिए बतलाये गये हैं। इनके आचरणसे चित्त अतीव निर्मल हो जाता है। अस्तु।

पापका भय

मनुष्यको यह बात सदा ही याद रखनी चाहिए कि पापसे बचे विना पुण्य लाभदायक नहीं होता। लोग प्रायः सर्प, बिच्छू, भालू, व्याघ्र, दुःख, रोग और मृत्युसे बहुत डरते हैं, परन्तु पापसे नहीं डरते। यह कितने आश्चर्यकी बात है? यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो मनुष्यके लिए इन सबसे अधिक भयकी वस्तु तो 'पाप' है। क्योंकि इनसे मनुष्यको उतना कष्ट नहीं होता, जितना कि पापसे होता है। पापसे ही प्रेरित होकर मनुष्योंपर सर्प, बिच्छू, रोग आदिका असर होता है। पापके कारण मनुष्य बारम्बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़ते हैं। अर्थ और कामके व्यामोह-में पड़कर मनुष्य पाप करता है, जिससे कि फिर परिणाममें पछताता है। अतः मनुष्यको सबसे अधिक पापसे डरना चाहिए अर्थात् पहले पापसे डरना चाहिए, तब फिर पुण्यकी बात सोचनी चाहिए। पापसे बचे बिना पुण्य लाभदायक नहीं होता। अतः मनुष्य पुण्यका यथाशक्ति आचरण करे, परन्तु पापसे सदैव बचता रहे। क्योंकि संसारमें सब प्रकारके अनर्थोंकी जड़ एकमात्र पाप ही है। पापके भयके बिना धर्ममें रुचि नहीं होती। जहाँ तक मनुष्यको बार-बार मरनेका भय नहीं लगता, वहाँ तक भवभीति या पापभीति नहीं आ सकती। भवभीति या पापभीति ही मनुष्य-जीवनकी सार्थकता और मोक्ष प्राप्तिका साधन है। भवभीति आई नहीं कि कामकी प्राप्तिके लिए की जानेवाली अनीति और पाप खटकने लगते हैं, उन्हें छोड़नेका प्रयत्न होता है और वे छूट जाते हैं।

महाभारतमें कहा है कि—जो मनुष्य पाप कर्मोंसे नित्य भय करता हैं, अपने कर्तव्यका आचरण करता है, वह अनायास ही अत्यन्त सुखरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

'पापानां कर्मणां नित्यं बिभिशाद् यस्तु मानवः।
सुखमप्याचरन् नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥'

(अ० प० ९२-४)

अतः मनुष्यको दुःखसे डरनेके बजाय, पापसे डरना चाहिए। पापके भयसे जीवन बदल जाता है। अर्थात् राजदण्डके भयसे तो पापको छिपाने की युक्ति ढूँढी जाती है। अस्तु।

बार-बार पाप-कर्ममें प्रवृत्त हुआ मनुष्य अपनेको अत्यन्त हीन एवं अपराधी समझकर फिर छोटे-छोटे पाप करनेसे विरत नहीं होता। वह समझता है कि—'मैं तो महापातकी हूँ, फिर अब पाप न करनेसे, या एक-आध पाप न करनेसे भी मुझे क्या लाभ होगा?' ऐसी धारणा भी नितान्त अनुचित है। पापीको ऐसा कभी भी नहीं सोचना चाहिए। क्योंकि बूँदसे ही घड़ा भरता है। अतः जो मनुष्य अनुचित काम करके 'हाय मैं कितना नीचे गिर गया हूँ, रात दिन कैसा आचरण करता हूँ?' इस प्रकारसे अपने किये दुष्कर्मोंका स्मरण करके पश्चात्ताप करता रहता है, वह फिर अधोगतिको नहीं प्राप्त होता—वह अपना उद्धार अपने आप कर लेता है। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—

'अहं सहस्रापराधी किमेकेन भवेन्मम।
मत्वा नाघं स्मरेदीषद् बिन्दुना पूर्यते घटः ॥
नक्तंदिनानि मे यान्ति कथंभूतस्य सम्प्रति।
दुःखभाङ् न भवत्येवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः ॥'

(शु० नी० ३-३४, ३५)

इस रीतिसे अपने दुष्कर्मोंका स्मरण करते हुए जिसके मनमें अनुताप हो जाता है, वह व्यक्ति फिर आगे पापसे बचनेकी चेष्टा करता है। इसीसे शास्त्रकारोंने पश्चात्तापको भी पापकी शुद्धिका कारण बतलाया है—

'पश्चात्तापेन शुद्धयति।'

अजामिलके मनमें, अपने किये कुकृत्योंके विषयमें जब पश्चात्ताप हुआ, तभी उसने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की कि—

'सोऽहं तथा यतिष्यामि यतचित्तेन्द्रियानिलः।
यथा न भूय आत्मानम् अन्धे तमसि मज्जये ॥'

(भाग० ६-२-३५)

बुद्धि-दोष

मनुष्य जो भी अपराध करते हैं, वह सब बुद्धिकी कमीके कारण ही करते हैं। बुद्धिकी कमीका कारण पाप है। पापका आचरण करनेसे ही मनुष्योंमें बुद्धिकी कमी हो जाती है। क्योंकि पाप मनुष्यकी बुद्धिको मलिनकर देता है। बुद्धिकी मलिनतासे ही मनमें अज्ञान और तज्जन्य सब दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिए महाभारतमें कहा है कि—

'पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः।
नष्टप्रज्ञः पापमेव पुनरारभते नरः॥'

(उद्योग पर्व–३५–७३)

अर्थात् बार बार किये जानेवाने पाप बुद्धिको नष्ट कर देते हैं। जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य पुनः पाप ही करता जाता है। पापके कारण ही मनुष्य संसारमें विविध आसुरी योनियोंमें घूमते रहते हैं। जैसा कि भगवान् ने कहा है—

'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु॥'

(गीता)

इसीलिए आयुर्वेदके मूर्धन्य महर्षि चरकने कहा है कि—'मनुष्य-समाजमें भूत, प्रेत, विष; वायु, अग्नि एवं परस्पर मारपीट आदिसे जो भय, रोग आदि दोष उत्पन्न होते हैं, इसमें मनुष्योंकी बुद्धिका ही अपराध है। इसके अतिरिक्त ईर्ष्या, शोक, मोह, भय, क्रोध, अभिमान एवं द्वेष आदि जो मनुष्योंके मनके विकार हैं—वे भी सब [1]बुद्धिके ही अपराधसे उत्पन्न होते हैं—

'ये भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादि - संभवाः।
नृणामागन्तवो रोगाः प्रज्ञा तेष्वपराध्यति॥
ईर्ष्याशोकभयक्रोध - मानद्वेषादयश्च ये।
मनोविकारास्तेऽप्युक्ताः सर्वे प्रज्ञापराधजाः॥'

(चरक, सूत्रस्थान–७ अ० ५१,५२)

१—निज बुद्धके दोषसे, अर्थात् बुद्धिगत अज्ञान और विपरीत ज्ञानसे।

अतः मनुष्यको अपनी बुद्धिको स्वच्छ रखनेके लिए पापसे सदैव बचते रहना चाहिए। इसीलिए भगवान् मनुने मनुष्यको सचेत करते हुए कहा है कि—

'एता दृष्ट्वाऽस्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा।
धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात् सदा मनः॥'

(मनु० १२।२३)

'अर्थात् संसारमें जीवोंकी उच्च, नीच और सुख-दुखमयी विविध गतियाँ सब धर्माधर्मके ही परिणाम-रूप हैं। अतः इन्हें देखकर स्वयं ही सोच-विचार करके मनुष्यको अपना मन सदैव धर्ममें ही लगाये रहना चाहिए।'

इसलिए विवेकशील मनुष्योंको पापकर्मोंके स्पर्शसे बचते हुए, धर्माचरणमें दृढ़ रहते हुए, अपनी बुद्धिको सदैव स्वच्छ बनाये रखना चाहिए।

बुद्धिकी स्वच्छता बनाये रहनेके लिए महर्षि चरकने आयुर्वेदमें यह कहा है कि—

'त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः।
देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानु - वर्तनम्॥
आगन्तूनामनुत्पत्तावेष मार्गो निदर्शितः।
प्राज्ञः प्रागेव तत्कुर्याद्धितं विद्याद् यदात्मनः॥

(च० सू० ७–५३, ५४)

'अर्थात् बुद्धिको मलिन कर देने वाले प्रज्ञापराध-(बुद्धिगत अज्ञान और विपरीत ज्ञानरूप दोष-) का परित्याग, इन्द्रियोंका निग्रह, आत्माकार बुद्धि, देश, काल और आत्मस्वरूपका परिज्ञान तथा सदाचारका पालन—ये सब उपाय आगन्तुक रोग और रागद्वेषादि मनोविकारोंको उत्पन्न नहीं होने देते। अतः बुद्धिमान् मनुष्य जिनसे अपना हित समझे, उन कर्तव्योंका आचरण पहलेसे ही करे तथा भविष्यमें होनेवाले रोग एवं रागद्वेषादि मनोविकारोंके निवारणके लिए भी पहलेसे ही सचेष्ट रहे।'

अतः कुबुद्धिका परित्याग, इन्द्रियोंका वशीकरण, स्मृति, देश-कालका ज्ञान, आत्मज्ञान एवं सच्चरित्र अर्थात् नेकीका काम करना—यह सब आगन्तुक रोगोंके न होनेका उपाय बतलाया गया है। इसलिए जो काम अपनी आत्माके लिए हितकर हो, उसका पहलेसे ही आचरण करना चाहिए।

इसी उद्देश्यसे भगवान् मनुने कहा है कि—

'बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्॥'

(मनु-स्मृति—४-१९)

'अर्थात् अपनी बुद्धिको निर्मल और पवित्र बनाये रखनेके लिए मनुष्यको [1]बुद्धि-वर्धक, [2]धन-वर्धक एवं [3]आयु और आरोग्यवर्धक सच्छास्त्रोंका अध्ययन और अवलोकन सदैव करते रहना चाहिए।'

इसी उद्देश्यसे महर्षि चरकने भी आयुर्वेद शास्त्रमें शरीर और बुद्धिकी विशुद्धिके लिए निम्न-लिखित उपायोंका निर्देश किया है—

'आप्तोपदेशप्रज्ञानं प्रतिपत्तिश्च कारणम्।
विकाराणामनुत्पत्तावुत्पन्नानां च शान्तये॥
पापवृत्तवचः सत्त्वाः सूचकाः कलहप्रियाः।
मर्मोपहासिनो लुब्धाः परवृद्धिद्विषः शठाः॥
परापवादरतयश्चपलाः रिपुसेविनः।
निर्घृणास्त्यक्तधर्माणः परिवर्ज्या नराधमाः॥
बुद्धिविद्यावयः - शीलधैर्यस्मृति - क्षमादिभिः।
वृद्धोपसेविनो वृद्धाः स्वभावज्ञाः गतव्यथाः॥
सुमुखाः सर्वभूतानां प्रशान्ताः शंसितव्यथाः।
सेव्याः सन्मार्गवक्तारः पुण्यश्रवणदर्शनाः॥
आहाराचार - चेष्टासु सुखार्थी प्रेत्य चेह च।
परं प्रयत्नमातिष्ठेद् बुद्धिमान् हितसेवने॥'

(चरक-सू० स्था० ५५-६०)

'अर्थात् आप्तजनोंके उपदेश एवं प्राज्ञजनोंके सिद्धान्तोंपर चलनेसे कोई भी रोग उत्पन्न नहीं होते और जो प्रकट हो गये हों, वे सब शान्त हो जाते हैं। अतः पापका आचरण करनेवाले, पाप-भरे वचन बोलनेवाले, पापी-मनके, मिथ्या-बकवादी (अर्थात् दूसरोंके दोष दिखानेवाले), कलह-प्रिय, जिससे दूसरेका अन्तःकरण दुखे—ऐसी हँसी करनेवाले, लोभी, परायी सम्पत्ति देखकर जलनेवाले, शठ, परायी निन्दामें तत्पर,

१—वेदानुकूल व्याकरण, मीमांसा, स्मृति, पुराण आदि।

२—अर्थवृद्धिके उपाय बतलानेवाले बृहस्पति-शुक्राचार्यप्रोक्त—अर्थशास्त्र।

३—प्रत्यक्ष उपकार करनेवाले, वैद्यक ज्योतिष आदि।

परस्त्रीलोलुप, निर्दयी और अपने कुल-धर्मका परित्याग करनेवाले—दुष्ट-जनोंका संसर्ग कभी न करना चाहिए।'

'और जिन्होंने विद्या, बुद्धि, अवस्था, शील, धैर्य, स्मृति और समाधि-इन गुणोंमें प्रवीणता प्राप्त की है, वृद्धजनोंकी सेवा की है, जो स्वयं वृद्ध हैं, जिनको लोक-चरित्र ज्ञात हैं, जिनके चित्तमें किसी भी प्रकारकी व्यथा नहीं है, जो सब प्राणियोंपर सद्भावना रखते हैं, जो उत्तम आचार और उत्तम मार्गके बतानेवाले पुण्य-श्रवण एवं पुण्य-दर्शन हैं—उन सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिए। अतः इसलोक और परलोकका हित चाहनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको आहार, आचार एवं चेष्टा आदिमें जो वस्तु आत्माके लिए हितकर हो, केवल उसीका सेवन करना चाहिए।'

दम्भसे सावधान

धर्मानुष्ठानको पूर्ण-सफल करनेके लिए मनुष्यको अत्यन्त धैर्यवान् और सावधान भी होना चाहिए। नहीं तो वह सब दम्भरूपमें परिणत होकर व्यर्थ चला जाता है और उल्टा, अवनतिका कारण बन जाता है। क्योंकि दम्भ ऐसा भयङ्कर दोष है कि वह धर्मको घुनकी तरह बरबाद कर डालता है। बड़े-बड़े धार्मिक भी दम्भके वशीभूत हो जाते हैं। दम्भसे बचना भगवद्-अनुग्रहके बिना अत्यन्त ही कठिन है। बड़े-बड़े त्यागी, विवेकी, एवं बुद्धिमान् पुरुष भी इस दोषके वशीभूत होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवतके अनन्य-मर्मज्ञ एवं व्याख्याकार प्रातःस्मरणीय श्रीधरस्वामीजीने दम्भके स्वरूपका कितना सुन्दर चित्रण किया है और उससे बचनेके लिए, कितने विनयके साथ भगवान्से प्रार्थना की है। देखिए—

'दम्भन्यास-मिषेण वञ्चितजनं भोगैकचिन्तातुरं
सम्मुह्यन्तमहर्निशं विरचितोद्योगक्लमैराकुलम्।
आज्ञालङ्घिनमज्ञ - मज्ञजनता - सम्माननासन्मदं
दीनानाथ दयानिधान परमानन्द प्रभो पाहि माम्॥'

(भागवत १०–८७ श्लो० टीका)

अतः धर्मोपार्जन करनेवालोंको दम्भसे सदैव सतर्क, सावधान, होकर बचते रहना चाहिए। धर्मानुष्ठान करनेवालोंको दम्भ बहुत जल्दी पकड़ लेता है। अस्तु।

धर्माभास

धर्मज्ञ पुरुषको अधर्मके समान ही धर्माभासोंसे भी बचते रहना चाहिए अर्थात् धर्मकी तरह प्रतीत होनेवाले नकलीधर्मोंसे सर्वथा सावधान रहना चाहिए। अधर्मकी (अर्थात् पापरूप वृक्षकी) पाँच शाखाएँ हैं— (१) 'विधर्म (२) परधर्म, (३) आभास, (४) उपमा (उपधर्म) एवं (५) छल। इन्हींको 'धर्माभास' कहते हैं—

'विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत्त्यजेत् ॥'

(भागवत—७-१५-१२)

अधर्मकी पहली शाखाका नाम है—विधर्म, अर्थात् शास्त्र-विरुद्ध धर्म। जिस कार्यको धर्म-बुद्धिसे करनेपर भी अपने धर्ममें बाधा बड़े, उसको 'विधर्म' कहते हैं—

जैसे कि—अस्वस्थ अवस्थामें [1]गङ्गास्नान।

'धर्मबाधो विधर्मः स्यात्।'

(श्रीमद्भागवत—७-१५-१३)

अधर्मकी दूसरी शाखा है—परधर्म अर्थात् परधर्मका ग्रहण। शास्त्र-द्वारा अन्य-पुरुषके लिए उपदेश किया हुआ धर्म 'परधर्म' कहलाता है। जैसे कि ब्राह्मणके लिए कहा गया धर्म क्षत्रियके लिए परधर्म है। संन्यासी-के लिए बतलाया गया धर्म गृहस्थके लिए [2]'परधर्म' है—

'परधर्मोऽन्यचोदितः।'

अधर्मकी तीसरी शाखाका नाम है—आभास, धर्माभास। अर्थात् अपनी इच्छासे कल्पित धर्म। मनुष्य अपनी इच्छासे अपने वर्णाश्रमके विपरीत, जिस स्वेच्छाकल्पित आचरणको धर्म मान ले—उसको 'आभास' कहते हैं। जैसे कि—स्वेच्छासे कल्पित अवधूत आदिका आचरण—

'यस्त्विच्छया कृतः पुंभिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।'

(भागवत—७-१५-१४)

१—इसीलिए कहा गया है कि—

'अशक्तेन शरीरेण स्नानं कुर्वन्ति ये बलात्।
ब्रह्महत्या कृता तैस्तु तया ते नरकाय वै ॥'

२—इसीलिए कहा गया—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' (गीता)

अधर्मकी चौथी शाखाका नाम है—दम्भ या पाखण्ड। परवञ्चनके लिए लोगोंमें अपनी धार्मिकता, श्रेष्ठता, आदि भावोंको प्रकट करनेके लिए जो धर्मका बनावटी आडम्बर है—विरुद्ध आचरण है, उसीको दम्भ या पाखण्ड कहते हैं। उसीको उपमा या उपधर्म भी कहते हैं। जैसे कि—लोगोंको ही दिखानेके लिए, जटा-भस्म आदि धारण करना, केवल लोगोंको दिखानेके लिए ही तपस्या आदिका ढोंग रचना—

'[1]उपधर्मस्तु पाखण्डो [2]दम्भो वा'

इसी तरह अधर्मकी पाँचवीं शाखाका नाम 'छल' है। छलका अर्थ है—अपने दुराग्रह आदिके कारण शब्दका दूसरे प्रकारका अर्थ कर लेना—अर्थात् उसका मुख्य अर्थसे भिन्न अर्थ कर लेना—यानी शास्त्र-वचनका विपरीत अर्थ करना। जैसे कि—ब्राह्मण-भोजनके प्रसङ्गमें आये हुए—**'दशावरान् भोजयेत्'**—इस वाक्यका, **[3]दशभ्यः अवरान् = न्यूनान्'**—इस प्रकार तत्पुरुष-समास करके दश संख्यासे कम अर्थात्—५,६,७,८, या ९—ऐसा अर्थ निकाल लेना। वैसे यहाँ—**'दश अवरे येभ्यः तान्'**—इस प्रकार बहुव्रीहि-समाससे—दशसे अधिक, अर्थात् ११ अर्थ अभिप्रेत है। वैसा अर्थ न मानकर उसका दूसरा अर्थ कर लेना 'छल' कहलाता है—

'शब्दभिच्छलः।' (भाग० ७।१५।१३)

अथवा केवल शब्दमात्रको धारण करनेवाला आचरण 'छल' कहलाता है—**'शब्दभृच्छलः।'**

जैसे कि, **'विप्राय गां दद्यात्'** इस वचनको सुनकर नाममात्रधारी गायका (अर्थात् मरनेवाली बुड्ढी गायका) दान करना, इत्यादि।

छलका ही दूसरा अर्थ 'कपट' भी होता है। अतः कपट भी अधर्मकी ही शाखा है। कपटसे भी मनुष्यका धर्म नष्ट हो जाता है। इसीलिए नारद-पाञ्चरात्रमें कहा है कि—

'कपटं धर्मनाशनम्।' (१४ अ० ७३ श्लो०)

१—भाग० ७।१५।१३।

२—दम्भः आत्मनो धार्मिकत्वप्रकाशनम्। (आप० ध० सूत्र—शांकर भा०)
दम्भः धार्मिकत्वप्रकाशनेन परवञ्चनम्। (,, ,, हरदत्तवृत्ति)

३—अर्थात् दशसे कमती ७,८,९।

अतः धर्मके प्रेमियोंको पूर्वोक्त इन धर्माभासोंके भी व्यामोहमें न पड़कर, अपने स्वधर्मका आचरण करना चाहिए। अपने-अपने स्वभावके अनुकूल अपने वर्ण और आश्रमोचित धर्मोंका आचरणसे भला किसको शान्ति नहीं मिलती ?

—'स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये।'

(भाग०—७-१५-१४)

धर्म अत्यावश्यक क्यों है ?

मनुष्यको धर्ममें अधिक तत्पर होनेकी आवश्यकता क्यों है—इसका विवेचन राजशास्त्रके पारदर्शी महर्षि शुक्राचार्यने, अपनी नीतिमें स्थान-स्थानपर खूब किया है। उन्होंने लिखा है कि—'समस्त प्राणियोंकी सभी प्रवृत्तियाँ केवल सुखके लिए ही होती हैं। मनुष्य सदैव सुख चाहता है। समस्त सुखोंका मूल है—धर्म। अतः सुख उसीको मिलता है, जिसका पुण्य होता है, अर्थात् जो सदाचारका पालन करता है। क्योंकि विना धर्मके किसीको भी सुख मिल ही नहीं सकता। अतः जिसका पुण्य न हो, जो चरित्रवान् न हो, वह चाहे जितनी भी अनीति, लुच्चाई, या बेईमानी करे, फिर भी उसे सुख नहीं मिलता। मिलता भी है तो वह टिकता नहीं। इसलिए मनुष्यको सदैव धर्ममें तत्पर होना चाहिए—

'सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद् धर्मपरो भवेत्॥'

(शु० नी०)

पुण्य कर्मसे प्राप्त सामग्रीसे ही मनुष्य सुखी होता है और दुष्कर्मसे दुराचारसे, भ्रष्टाचारसे प्राप्त सामग्रीसे मनुष्यकी आत्माका महान् अहित होता है। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको अपनी आत्माका अहित कदापि नहीं करना चाहिए। जो स्वयं अपनी आत्मापर दयालु नहीं है, वह दूसरोंकी दया नहीं सोच सकता है।

यही अभिप्राय महर्षि कौटल्य तथा उनके परवर्ती कामन्दक एवं आचार्य सोमदेव सूरी—आदि विद्वानोंने भी व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि—'मनुष्यका परलोकमें सब कुछ धर्मपर अवलम्बित है। वहाँ धर्मके सिवाय, अन्य कोई भी सहायक नहीं हो सकता। क्योंकि अपने

साथ ही जन्मा हुआ यह—अपना देह भी जब वहाँ साथ नहीं दे सकता, तो फिर इतर लोगोंका तो कहना ही क्या है। अतः मनुष्यको धर्ममें कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए—

'सह-सम्भवोऽपि देहो नामुत्र सहानुयायी, किं पुनरन्यः।'

(नी० वा० ध० स०)

भगवान् मनुने तो स्पष्ट ही कहा है, कि परलोकमें जीवकी सहायताके लिए उसके माता-पिता, कोई भी उपस्थित नहीं रहते। न पुत्र, स्त्री, अथवा अन्य बन्धु-वान्धव ही वहाँ उपस्थित रहते हैं। वहाँ तो केवल एकमात्र धर्म ही उसका साथ देता है—

'नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः।'

(मनु० ४।२३९)

इसीलिए कहा गया है कि—

'विद्या मित्रं प्रवासेषु धर्मो मित्रं मृतस्य च।'

महाभारतमें कहा है कि—जब यह जीव अकेला परलोकको प्रस्थान करता है, तो उस सङ्कटमय समयमें माता-पिता, पुत्र, भाई, बन्धु-बान्धव तथा अन्यान्य कोई भी प्रियजन उसका साथ नहीं देते। मनुष्य अत्यन्त कष्टसे शुभाशुभ कर्मोंद्वारा जिन सुवर्ण, रत्न आदि वस्तुओंका सञ्चय करता है, वे सब तो देहका साथ छूटते ही उसका साथ छोड़ देते हैं। केवल उसका शुभाशुभ कर्म ही उसके साथ चलता है। अतः इन बातोंको अच्छी तरह सोच-समझकर विवेकशीलको ऐसे भी [1]धनका कुछ उपार्जन अवश्य करना चाहिए, जिसको कि न राजा ले सके, न चोर ही छीन सके और जो मरनेपर भी मनुष्यका साथ नहीं छोड़ता है अर्थात् जिसका क्षय किसी तरह भी नहीं हो सकता है—

'न मातृपुत्रबान्धवा न संस्तुतः प्रियो जनः।
अनुव्रजन्ति सङ्कटे व्रजन्तमेकपातिनम्॥
हिरण्यरत्नसञ्चयाः शुभाशुभेन सञ्चिताः।
न तस्य देहसंक्षये भवन्ति कार्यसाधकाः॥

---

१. धर्मका।

यदेव कर्म केवलं पुरा कृतं शुभाशुभम् ।
तदेव पुत्र सार्थिकं भवत्यमुत्र गच्छतः ॥
धनस्य यस्य राजतो भयं न चास्ति चोरतः ।
मृतं च यन्न मुञ्चति समर्जयस्व तद्धनम् ॥'

(शा० प० ३२१ अ० ५०-५४)

वर्ण, आश्रम, और अधिकारानुसार अपने-अपने कर्तव्यको समझकर, तदनुसार अध्ययन-अध्यापन आदि निज-निज कर्तव्यका यथाशक्ति आचरण करते रहनेसे ही मनुष्यका धर्म-सञ्चय होता है। इस तरह अधिकारानुसार यम, नियम, स्वाध्याय, यज्ञ, दान, परोपकार आदि विविध सदाचरण धर्मके स्रोत हैं। उन सबमें भी दो स्रोत सबके लिए सुलभ और सुकर बताये गये हैं, जिनसे धनी-निर्धन, विद्वान् और मूर्ख—सब तरहके व्यक्तियोंका कल्याण हो सकता है। वे दो स्रोत हैं—दान और तप। इसीसे सोमदेव सूरीने कहा है कि—'जो मनुष्य प्रतिदिन, नियमपूर्वक, यथाशक्ति कुछ-न-कुछ देता रहता है अथवा जो प्रतिदिन यथाशक्ति कुछ न कुछ तप करता रहता है, ऐसे व्यक्तियोंके लिए ऊँचे-से-ऊँचे लोकोंमें सुन्दर स्थान नियत रहते हैं—

'प्रत्यहं किमपि नियमेन प्रयच्छतस्तपस्यतो वा
भवन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोकाः ।'

(नी० वा० ध० स०)

मनुने कहा है कि, जैसे दीमक निरन्तर मट्टीका सञ्चय करते रहते हैं, वैसे ही मनुष्यको चाहिए कि इस लोक और परलोकमें पूरी सहायता करनेवाले, अपने सच्चे सहायक धर्मका सञ्चय नित्य किया करे—

'तस्माद् धर्मं सहायतार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
परलोकसहायार्थं वल्मीकमिव पुत्तिकाः ॥'

(म० स्मृ० ४–२४२)

धर्मका सञ्चय सहसा और एक ही साथ नहीं हो सकता। अतः उसका संग्रह शनैः शनैः पहलेसे ही करते रहना चाहिए। इसीसे आचार्य

१. जैनसम्प्रदायके मनीषियोंने भी धर्मके उपार्जनपर बड़ा जोर दिया है—
'संसार एषः कूपः सलिलानि विपत्ति-जन्म-दुःखानि ।
इह धर्म एव रज्जुस्तस्मादुद्धरति निमग्नान् ॥'

(वाग्भट)

सोमदेव सूरीने कहा है कि, मनुष्य यदि सूक्ष्म परमाणुका भी प्रतिदिन थोड़ा भी सञ्चय करता चले तो कुछ समयमें वह संग्रह सुमेरु बन जाता है। इसलिए कोई भी व्यक्ति धर्म, विद्या—ज्ञान, और धन, इन तीनों तत्वोंका थोड़ा-थोड़ा भी कण यदि प्रतिदिन संग्रह करता जाय तो एक दिन वही संग्रह समुद्रसे भी बड़ा हो जाता है। क्योंकि एक ही साथ पुण्यकी राशि किसको मिल सकती है? अतः उसका संग्रह प्रतिदिन करते रहना चाहिए—

'कालेन सञ्चीयमानः परमाणुरपि जायते मेरुः।' 'धर्मश्रुत-धनानां लवोऽपि प्रतिदिनं सङ्गृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिकः।' 'कस्य नाम एकदैव सम्पद्यते पुण्यराशिः?' (नी० वा० धर्म-समुद्देश)

इसीलिए शास्त्रकारोंने कहा है—

'जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च॥'

इसके विपरीत—जो लोग ऐसा नहीं करते हैं, अर्थात् जो लोग धर्मके सञ्चयके लिए प्रतिदिन, नित्य, जागरूक नहीं रहते, वे अपनेको अपने आप वञ्चित करते हैं। क्योंकि "मनुष्यके लिए परमेश्वरसे मिलनेका एकमात्र साधन धर्म है। अतः विवेकियोंको अपने परलोककी चिन्ता अवश्य करनी चाहिए। इसीलिए सोमदेव सूरीने इस विषयमें कितनी सुन्दर बात कही है। वे कहते हैं कि—"वह एकदम जन्मान्ध है, जो कि परलोकको नहीं मानता। संसारमें सुखी वही है, जो कि अपने परलोकके सुखको न बिगाड़कर यहाँके सुखका अनुभव करता है"—

'धर्माय नित्यमजाग्रतामात्मवञ्चनम्।'
'स जात्यन्धो यः परलोकं न पश्यति।'
'स खलु सुखी योऽमुत्राविरोधेन सुखमनुभवति।'
(नी० वा० ध०)

धर्मोपार्जनके विषयमें विलम्ब कभी नहीं करना चाहिए, यह बात महाभारतमें कही है—

'न यावदेव पच्यते महाजनाय यावकम्।
अपक्व एव यावके पुरा प्रलीयसे त्वर॥'
(शा० प० ३२१-४८)

अस्तु।

धर्म साक्षात् ईश्वरका प्रतिनिधि है। उसीके आधारपर इस ब्रह्माण्डका सञ्चालन हो रहा है। अतः जो स्वधर्ममें निरत रहता है, वह बड़ा बलवान् और तेजस्वी होता है—

'यो हि स्वधर्मनिरतः स तेजस्वी भवेदिह।'

(शु० नी० १–२३)

स्वधर्मानुष्ठानके बिना मनुष्यको कभी भी सुख नहीं मिल सकता, स्वधर्मका आचरण ही सर्वोत्तम तप है। जो अपने धर्मरूप तपको बढ़ाता है, देवता भी उसके किङ्कर बन जाते हैं, मनुष्योंका तो कहना ही क्या है?

'विना स्वधर्मान्न सुखं स्वधर्मो हि परं तपः।
तपः स्वधर्मरूपं तद् वर्धितं येन वै सदा।
देवास्तु किङ्करास्तस्य किं पुनर्मनुजा भुवि॥'

(शु० नी० २–६३)

तीर्थंकर वर्धमान महावीरने कहा है—कि 'धर्म अत्यन्त मङ्गलमय है। अतः उसपर जो प्रेम रखता है, उसको देवता भी नमस्कार करते हैं, अर्थात् उसका बड़ा आदर करते हैं'—

'धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमस्सन्ति जस्स धम्मे सदा मणो॥' (द० १–१)

नीतिवाक्यामृतमें कहा है कि पुण्यवान् मनुष्यको कभी भी दुर्गति नहीं होती—

पुण्यवतः पुरुषस्य न क्वचिदपि दौस्थ्यम्।' (धर्मसमुद्देश)

महर्षि चाणक्यने कहा है कि—'मृत्यु भी धर्मात्माकी रक्षा करता है। महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—'धर्माचरणसे मनुष्य तेजस्वी हो जाता है।' अस्तु।

धर्माचरण करनेवाला व्यक्ति कुल, विद्या और अवस्था आदि गुणोंमें छोटा होनेपर भी समाजमें सबसे बड़ा माना जाता है। बड़े-बड़े बूढ़े भी उसको बड़ा मानते हैं—उसका सबतरह आदर करते हैं। धर्मसे मनुष्य वृद्ध—अर्थात् आदरणीय माना जाता है। इसीलिए महाकवि कालिदासने कहा है कि—

'तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना।' (रघुवंश–१–२३)

धर्मपर स्थिर रहनेसे मनुष्यकी कीर्ति, धृति, प्रतिभा और विभूतिका विस्तार बढ़ता है। क्योंकि यह बताया जायगा कि—कीर्ति आदि—ये सब धर्मकी पत्नी हैं, अतः वह सब धर्मकी सहचरी हैं इसीलिए धर्मात्माकी कीर्तिका विस्तार कथमपि नहीं रुक सकता, महर्षि वाल्मीकिने कहा है कि—

'वाति गन्धः सुमनसां प्रतिवातं कथञ्चन।
धर्मयुक्तमनस्कानां वाति गन्धः समन्ततः॥'

(वा० रा० अयो० कां० ६४।२०)

अर्थात् पुष्पोंकी सुगन्ध प्रतिकूल वायु होनेपर नहीं फैलती। परन्तु धर्मात्मा लोगोंका प्रभाव प्रतिकूल वातावरणसे भी चारों ओर फैल जाता है, छिपानेपर भी नहीं छिपता है। अस्तु।

पुरुषार्थोंके विवेचनकी दृष्टिसे तो धर्म ही समस्त पुरुषार्थोंका मूल है। कोई भी पुरुषार्थ धर्मके बिना सफल हो ही नहीं सकता। अर्थ और कामका यथोचित उपयोग न होनेसे, वे उत्तम फलको (सुखको) न देकर महान् दुःखके कारण बन जाते हैं अर्थात् मनुष्योंको अनर्थके चक्रमें डाल देते हैं। इसीलिए मनुष्यके परम पुरुषार्थ-(मोक्ष-) के सिद्ध न होनेमें भी मुख्य कारण अथ और कामका दुरुपयोग ही है। अर्थात् अर्थ और कामका उचित उपयोग न होनेसे ही मनुष्य अपने सर्वोत्तम पुरुषार्थसे वञ्चित रह जाता है। परन्तु धर्मका संसर्ग होनेसे—धर्मके प्रभावसे ऐसे अनर्थकारी अर्थ और काम भी धर्मरूप हो जाते हैं और मनुष्यके मोक्षको सिद्ध करनेमें दृढ़ सहायक हो जाते हैं। ऐसी अद्भुत, लोकोत्तर शक्ति अर्थात् दुःखप्रद अर्थ और कामको भी धर्म बना देनेकी सामर्थ्य है—धर्ममें।

अतएव जिसके हृदयमें धर्मकी पूरी छाप पड़ जाती है, वह व्यक्ति भारीसे भारी प्रलोभनोंके भी वशमें नहीं हो सकता। चक्रवर्ती नरेश महाराज दशरथका साम्राज्य कोइ साधारण राज्य नहीं था। सब प्रकारकी पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त थीं! माता-पिता, गुरुजन और इष्ट-मित्र—इन सभीकी अनुमति भी प्राप्त हो चुकी थी। बड़े भाई राम बनमें पहुँच चुके थे—इतनी सब अनुकूल परिस्थितियोंमें भी, धन्य है, रघुवंशके पूतचरित्र उस जगद्वन्द्य राजकुमारको (भरतको) कि जिसका मन उस विशाल साम्राज्यकी ओर तनिक भी आकृष्ट नहीं हो सका।

ठीक उसी-तरह, महाराज्ञी द्रौपदीके चीर-हरणके समय भीम और अर्जुन भी—**'ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः'** के अनुसार यदि धर्म-नियन्त्रित न होते और कुपित होकर कहीं यदि उस सभामें भड़क उठते तो फिर दुर्योधनको भाइयों समेत वहीं समाप्त कर देते और महाभारतका इतिहास बदल जाता। किन्तु वैसा नहीं हुआ। भीम और अर्जुन धर्म-निरपेक्ष नहीं थे, धर्मसे नियन्त्रित थे। वे दोनों भाई युधिष्ठिरकी ओर देखते थे—सेवककी भाँति उनसे आज्ञा माँगते थे। युधिष्ठिर कहते थे कि—'भाई, तुम लोग मुझको झूठसे बचाओ, मुझे अधर्मसे बचाओ! कौरवोंको यदि मारना है, तो पहले मुझे मार डालो?'

आखीर, भीम और अर्जुन—दोनों भाई कुड़क-कुड़ककर रह गये। तब फिर द्रौपदी किसको पुकारती? उसने सोचा कि जिस धर्मके नियन्त्रणमें मेरे पतिदेव हैं, मैं उसीकी शरण जाऊँ? इसीलिए फिर वह भी धर्मकी ही शरणमें गयी—भगवान् कृष्णको पुकारी। कृष्ण साक्षात् [1]सिद्ध-धर्म हैं। इसीसे—

'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

—के अनुसार धर्ममूर्ति भगवान् कृष्णने द्रौपदीके वस्त्रमें ही अपना आवेशावतार धारण करके उसे बचा लिया। यह सारी महिमा धर्मकी ही थी।

इसीलिए पाण्डवोंकी विजयके पश्चात् शोकाकुल गान्धारीको सान्त्वना देते हुए भगवान् व्यासने धर्मकी महिमा बताते हुए कहा कि—'गान्धारी, राजाओंके इस घोर संग्राममसे पार होकर पाण्डवोंने जो युद्धमें विजय पायी है, इससे यह बात निःसन्देह सिद्ध हो गयी है, कि—'धर्मका बल सबसे अधिक है'—

'विग्रहे तुमुले राज्ञां गत्वा पारमसंशयम्।
जितं पाण्डुसुतैर्भद्रे नूनं धर्मस्ततोऽधिकः।'

(म० भा० स्त्री-पर्व १४–११)

अतः जहाँपर अर्थ और कामकी पहुँच नहीं हैं, वहाँ भी धर्मकी पहुँच है। हजारों अधर्मियोंके बीचमें भी यदि एक भी धर्मात्मा दृढ़ रहे, तो उसका असर लोगोंपर अवश्य ही पड़ता है। इसलिए तीनों पुरुषार्थोंमें

१—'कृष्णं धर्मं सनातनम्।'

सबसे अधिक महत्त्व धर्मका है। इसी कारण कविवर कालिदासने धर्मको त्रिवर्गका विशिष्ट सार बतलाया है—

'अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थ-कामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥'

(कु० सं० ५–३८)

इसीलिए धर्माचरण करनेवाले पुरुषके अर्थ और काम भी, धर्मानुकूल होनेसे धर्मरूप हो जाते हैं। देखिए, इस विषयमें कविप्रवर कालिदासने राजर्षि दिलीपके त्रिवर्गका कैसा मनोहर चित्रण किया है। उन्होंने कहा है कि—

'स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतुः प्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः॥'

(रघुवंश म० का० १–२५)

'अर्थात् राजा दिलीप लोकमें मर्यादा बनाये रखनेके लिए ही अपराधियोंको दण्ड देते थे—अपना कोश भरनेके लिए नहीं। और चरित्रवान् पुत्रकी उत्पत्तिके लिए ही विवाह किये थे—केवल मौजके लिए नहीं। इस रीतिसे उनके अर्थ और काम—ये दोनों पुरुषार्थ भी धर्म-नियन्त्रित होनेसे धर्म ही बन गये।'

क्यों न हो! भारतवर्षकी वर्णाश्रम-मव्यवस्थामें, मनुष्यके अभ्युदय और निःश्रेयसके साधनीभूत धर्मके उपार्जन और अभिवृद्धिके लिए प्रत्येक वर्ण और आश्रमवालोंके दैनन्दिन व्यवहारके कार्योंको धर्मानुकूल बनानेके लिए—धर्म और अर्थके पारस्परिक विरोधका परिहार करते हुए दोनोंका साथ-साथ उपार्जन करनेके लिए—मेघ और समुद्रके समान, धर्मको अर्थ और अर्थको धर्मका स्रोत बना दिया गया है। इसीलिए महाभारतमें कहा है :—

'सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः।
इतरेतरयोर्योनी विद्धि मघोदधी यथा॥'

(शा० प०)

अतः जो भाग्यवान् मनुष्य धर्मका उपार्जन करता है, उस पुण्यात्माके लिए महा-भयंकर अरण्य भी मनोहर नगर—सुख-सामग्रीका केन्द्र बन जाता है। सभी प्राणी उसके अनुकूल रहते हुए उसके स्वजन बन जाते

हैं। सारी भूमिके दानका फल उसको सदैव मिलता ही रहता है और वह मनुष्य सदा ही सुख पाता है—

'भौमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं
सर्वोऽपि हि स्वजनतामुपयाति तस्य।
कृत्स्ना च भूर्भवति तेन सदैव दत्ता
यस्यास्ति पूर्वसुकृतं स सुखी नरश्च॥'

धर्म सदैव स्थिर रहता है। अर्थ और काम अत्यन्त चञ्चल और अस्थिर हैं। संसारके बड़े-बड़े नीति-निपुण लोग भी अर्थ और कामका उपार्जन चाहे कितनी ही चतुराईसे क्यों न करें, परन्तु वे धर्मके समान, उनका साथ कभी नहीं देते हैं—समयपर धोखा दे देते हैं। इसीलिए अर्थ और कामके व्यामोहसे लोगोंको सावधान करते हुए महर्षि द्वैपायनने महाभारतके आरम्भमें ही कहा है कि—

'धर्मे रतिर्भवतु वः पुरुषोत्तमानां
स ह्येक एव परलोकगतस्य बन्धुः।
अर्थाः स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना
नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्॥'

(आ० ५० २–३९१)

'अर्थात् सत्पुरुषोंका मन सदैव धर्ममें ही लगा रहना चाहिए। क्योंकि परलोकमें चले जानेपर जीवका बन्धु अर्थात् सहायक एकमात्र धर्म ही होता है। अर्थ और कामको तो चतुर लोग भी चाहे कितनी ही चतुराईसे सेवन करें, फिर भो वे न तो उनका साथ देते हैं और न उसके पास स्थिर ही रहते हैं।'

इसीसे जैन-धर्मके तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीने भी अपने उत्तराङ्ग सूत्रमें कहा है कि—

'वियाणिया दुःखाववड्ढणं धणं ममत्तबन्धं च महब्भयावहं।
सुखावहं धम्मधुरं अणुत्तरं धारेज्ज निव्वाणगुणावहं महं॥'

(१९–९८)

'अर्थात् धन मनुष्यके दुःखोंको बढ़ाता है, और ममत्व-बन्धनका कारण एवं महान् भयको देनेवाला है। इस बातको ठीक तरह सोच-समझकर बुद्धिमानोंको, उस अनुत्तम सुखावह, महान् धर्म-धुराको धारण करना चाहिए, जो कि परिणाममें निर्वाण गुणोंको वहन करनेवाली है।'

सारांश यह है कि, संसारमें मनुष्यके जितने भी सहायक और हितकारी हो सकते हैं, उनका सम्बन्ध, धर्मके समान, लोक-परलोक, जन्म-जन्मान्तरों तक, अटूट नहीं रह सकता। केवल एक धर्मको छोड़कर, अन्य सभी वस्तु अनित्य हैं—आगमापायी हैं। इसीकारण माता-पितासे भी शतकोटि-गुणित हितैषी शास्त्रोंने मनुष्योंको सदैव धर्मपर सुदृढ़ रहनेके लिए बड़ा जोर दिया है। महाभारतकारने कहा है—

'न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥'

(म० भा० स्वर्गारोहणपर्व–)

'अर्थात् मनुष्यको कभी भी न कामसे, न भयसे, न लोभसे, और न जीवनकी रक्षाके लिए धर्मका परित्याग करना चाहिए। क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं—क्षणिक हैं। जीव नित्य है और उसके जीवनका हेतु अनित्य है। इसीलिए धर्मके विषयमें मनुष्यको सदैव सावधान रहना चाहिए।'

धर्मानुष्ठानकी आधारशिला

धर्मके अनुष्ठानकी आधारशिला है—[1]आत्मज्ञान, अर्थात् देह, इन्द्रियादिसे अतिरिक्त आत्माका परिज्ञान। क्योंकि यह देहादिसे अतिरिक्त, नित्य एवं कर्मफलके भोक्ता—अपने आत्माका ज्ञान ही मनुष्योंके धर्माधर्ममें प्रवृत्त एवं निवृत्त होनेका मूल कारण है। क्योंकि देहात्मवादी पुरुष न तो परलोकमें फल देनेवाले धर्मके आचरणकी चेष्टा करता है और न परलोकमें दुःख-प्रद पाप-कर्मोंसे निवृत्त ही होता है। उसको तो आत्माका ज्ञान ही नहीं है। इसलिए आत्मतत्त्वको समझे बिना किया गया आचरण बन्धनका कारण होता है, और आत्म-ज्ञान मूलक आचरण ही मुक्तिका कारण होता है। अतः "आत्मा [2]नित्य है, इस कारण अपना किया हुआ शुभाशुभ कर्म कभी भी व्यर्थ नहीं होता—इस जन्ममें फल न देनेपर भी वह अग्रिम जन्ममें अपना फल हमें अवश्य ही देगा"—इस प्रकार देहादिसे अतिरिक्त आत्माके सद्भावके ज्ञानपर आधारित—यह कर्मफलकी

१—तत्वज्ञान।

२—आत्माकी नित्यतासे कृत-कर्मोंकी व्यर्थता एवं अकृत कर्मोंका फल-भोग—यह दोष भी नहीं होता।

अवश्यंभाव धारणा हो, अर्थात् आत्मा देहसे अतिरिक्त है, अतः उसको अपने किये कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है—इस प्रकारकी विश्वस्त भावना ही, मनुष्योंको तत्काल फल न देनेवाले भी; अर्थात् जन्मान्तरमें फलदेनेवाले; पुण्यकर्मोंमें प्रवृत्त करती है, एवं जन्मान्तरमें फलदेनेवाले दुष्कर्मोंसे निवृत्त भी करती है। इसी अभिप्रायसे मनुने कहा है कि—

'ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥'

(मनु स्मृति—६–८२)

अर्थात् आत्माका ज्ञान होनेसे ही मनुष्यको उसकी सत्क्रियाओंका फल प्राप्त हो सकता है। क्योंकि जो मनुष्य जीव और परमात्माका ऐक्य नहीं जानता, वह राग, द्वेष, ममता, मान, अपमान आदि द्वन्द्वोंका परित्याग एवं अपने मोक्षरूप लक्ष्यको नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए धर्माचरणके लिए आत्म-तत्वका ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। इसीलिए कहा गया है—

'सर्वमात्मनि संपश्येत् सदसच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाऽधर्मे कुरुते मनः ॥'

(मनु—११–१८)

सारांश, आत्माका ज्ञान ही मनुष्यको कायिक, वाचिक, मानसिक—सकल पापोंसे निवृत्त करता है। आत्मज्ञान ही मनुष्यकी मानवताको विकसित करता है। आत्मज्ञान ही मनुष्यको सच्चरित्र, धार्मिक एवं आत्म-गुणसे सम्पन्न और सब प्राणियोंके हितमें निरत करता है। अतः यह आत्म-ज्ञान ही हमारे भारतीय आर्य-जीवनकी 'आधार-शिला' है। और यह तत्त्व-ज्ञान ही मनुष्यकी सुख-समृद्धिका भी मूल आधार है। अतएव इसीके अधीन होकर सम्पूर्ण विधि और निषेध-शास्त्र प्रवृत्त होते हैं।

वर्ण और आश्रम

चूँकि प्रत्येक व्यक्तिको अपनी मानवताके विकासके लिए, अर्थात् अपने जीवनको विशुद्ध और सुखमय बनानेके लिए धर्म और जीविकाके उपार्जनकी अनिवार्य आवश्यकता है। परन्तु त्रिगुणात्मक जगत्में सभी

मनुष्योंके लिए, एक ही तरहकी, एक प्रकारकी, व्यवस्थासे धर्मोपार्जन तथा जीविकोपार्जन करना संभव नहीं है। इसीलिए प्रकृतिके नैसर्गिक गुणोंके अनुसार मानव-समाजमें चार विभाग करके, उनके कल्याणके लिए, उनकी रुचि, प्रकृति, योग्यता और अधिकारके अनुसार परमात्माने चारों वर्ण और आश्रमोंके लिए धर्म एवं जीविकोपार्जनके मार्ग और प्रकार भिन्न-भिन्न तरहके बनाए हैं। उसी ईश्वर-निर्मित व्यवस्थाको 'वर्णाश्रम-व्यवस्था' कहते हैं। तदनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं वर्णेतर जातिके—भिन्न-भिन्न तरहके—लोगोंके कल्याणके लिए उनकी योग्यताके आधारपर धर्म तथा जीविकाके उपार्जनके लिए जो-जो शास्त्रीय नियम बने हैं, उन्हींका नाम है—'वर्णाश्रम-धर्म।' अर्थात् वर्णधर्म और आश्रम-धर्म।

तत्तत् कर्मोंका विधान धर्म और जीविकाके उपार्जन करनेके लिए किया गया है। वर्णाश्रम व्यवस्थाके अनुसार मनुष्योंके कुछ कर्म तो धर्मोपार्जनके लिए विहित हैं और कुछ उनके जीविकोपार्जनके लिए। कुछ ऐसे भी कर्तव्य हैं, जिनसे कि धर्म और जीविका—दोनोंका ही उपार्जन होता है। जैसे कि ब्राह्मणके लिए अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह, क्षत्रियके लिए प्रजा-पालन, राष्ट्रकी सुरक्षा और शूद्रके लिए सेवा।

इसी कारण ब्राह्मण आदि चारों वर्ण, तथा वर्णेतर जातिवाले लोग भिन्न-भिन्न प्रकारसे धर्मका सञ्चय करते हैं। अर्थात् लक्ष्य एक होनेपर भी अर्थोपार्जनकी ही भाँति, धर्मके उपार्जन करनेका मार्ग भी सबके लिए भिन्न-भिन्न तरहका है। उसी भिन्न ढङ्गका नाम 'वर्ण-धर्म' है। वर्णधर्मके अनुसार अपने कर्तव्य-नियमोंका अनुसरण करके, अपना-अपना कर्तव्य करता हुआ प्रत्येक मनुष्य अनायास ही आत्म-कल्याण सम्पादन कर सकता है—

'वृत्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्वीर्यतामियात्॥'

(श्रीमद्भागवत—७–११–३२)

आचार्य और शासक

इसी अभिप्रायसे महर्षि गौतमने कहा है कि, स्व-स्व-कर्तव्यमें परिनिष्ठित होकर ही सब वर्ण और आश्रम सिद्धिको, अर्थात् मनुष्य-

जन्मकी सकल सुख-समृद्धिको प्राप्त करते हैं—और जन्मान्तरमें भी सत्कुलमें जन्म पाकर सुखैश्वर्यका उपभोग करते हैं—

'वर्णाश्रमाः स्वस्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः कर्मशेषेण विशिष्ट-देश-जाति-कुल रूपायुःश्रुतचित्र सुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते।'

(गौतमधर्म–सूत्र २ प्र० २ अ० २९)

और इसके विपरीत, जो लोग वर्णाश्रमानुसार अपने-अपने कर्तव्यका आचरण नहीं करते, वे कुत्सित योनियोंमें जन्म ले-लेकर अनेक प्रकारकी अनर्थ-परम्पराओंका अनुभव करते हुए दुःखमय जीवन यापन करते हैं—

'विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति'

(गौ० ध० सू०–२ प्र० २ अ० ३०)

अतएव जो लोग अपने कर्तव्यका समुचित पालन नहीं करते, उन्हें आचार्य लोग सत्पथमें चलनेका उपदेश देते हैं। और जो लोग आचार्योंका उपदेश भी नहीं मानते, उनको फिर दण्ड अर्थात् राज-दण्ड सन्मार्गमें प्रवृत्त करता है—

'तान्, आचार्योपदेशो दण्डश्च पालयते।' (गौ० ध० सू० २–२–३१)

अतएव सत्-शासकको चाहिए कि वह स्वयं स्व-धर्ममें परायण होकर, अपनी प्रजाको धर्माचरणमें प्रवृत्त करे। क्योंकि आदर्शभूत धर्मात्माका अनुगमन सारा समाज करता है। इसीलिए राजनीतिके मर्मज्ञ महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—

'स्वयं धर्मपरो भूत्वा धर्मे संस्थापयेत् प्रजाः।
प्रमाणभूतं धर्मिष्ठम् उपसर्पन्त्यतः प्रजाः॥'

(शु० नी० अ०)

धर्मकी शक्ति

धर्ममें अपार शक्ति है। वह सदा सत्यरूप है। सत्य एक है। धर्म उसी सत्यका दूसरा नाम है। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'जो सत्य है, वही धर्म है। जो धर्म है, वही प्रकाश है और जो प्रकाश है, वही सुख है। इसके विपरीत—जो अनृत अर्थात् असत्य है, वही अधर्म है। जो अधर्म है वही अन्धकार है और जो अन्धकार है, वही दुःख है'—

'तत्र यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः
स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति ।
तत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्त-
त्तमो यत्तमस्तद् दुःखमिति ॥'
(शान्ति प० १९०।५)

सत्यके सामने असत्य कभी भी ठहर नहीं सकता। सत्यतत्त्वके अन्दर जगत्का अस्तित्व, ऐश्वर्य, स्थिरता, क्रममुक्ति—आदि सब निर्भर हैं। अतएव मनुष्य-मात्रके धर्मको सत्य तत्त्व नियन्त्रित करता है। इसलिए धर्मका अतिक्रमण करना, मनुष्य-मात्रके लिए असम्भव एवं विनाशकारी है।

उसी धर्मके ज्ञानके लिए, ऋषि-महर्षियोंने, अपने अनन्त-अनन्त जन्मोंका तपोबल खर्च करके, उसका साक्षात्कार किया है और मनु आदि राजर्षियों तथा मरीचि आदि महर्षियोंने जगत्कल्याणार्थ उसे संगृहीत करके, दूर-दृष्टि रखते हुए, लोगोंके सामने उसको श्रुति, स्मृत्यादि रूपमें रक्खा है। जिससे कि सर्वदेश और सर्वकालके मनुष्योंका—अपने अधिकार एवं योग्यताके अनुरूप, अधर्मसे हटकर, धर्म पथपर चलते हुए—क्रम-मुक्तिकी ओर जाना सुगम हो जाय। और ऐहलौकिक ऐश्वर्य एवं सबका अबिरोध भी अखण्ड बना रहे। अस्तु।

धर्म साक्षात् परमेश्वरका सांसारिक रूप है। मनुष्यको परमेश्वरसे मिलानेका वह एक अद्वितीय साधन है। अतः धर्मकी अवहेलना ईश्वरकी अवहेलना है—सत्यसे दूर हटना है। यदि नीतिशास्त्र धर्मके सिद्धान्तोंके प्रतिकूल है, तो वह नीतिशास्त्र नहीं—अनीतिशास्त्र है। उचित और अनुचित, न्याय और अन्याय—इन सबकी कसौटी, धर्म है। धर्मके अन्दर यह सारा विश्व है। धर्ममें अपार बल है। एकान्तमें कहीं किसीका धन पड़ा हो, अथवा किसीकी युवतीके साथ निवास हो—तब इन दोनों वस्तुओंकी ओर जिनका मन न आकृष्ट हो—ऐसे व्यक्ति संसारमें अत्यन्त ही दुर्लभ हैं। इसीकारण भगवान् मनुने, बड़े-बड़े विवेकियोंके लिए भी अपनी माता, बहिन एवं कन्यातक के साथ भी यथेष्ट सहवास करनेका तीव्र निषेध किया है। उन्होंने कहा है कि—

'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥'
(म० स्मृ० २-२१५)

परन्तु, जिस व्यक्तिका मन पवित्र हो, जिसके मनपर धर्मकी पूरी छाप हो, उस पवित्रात्माके लिए यह बात नहीं है। अतः जो व्यक्ति सचमुच धर्मात्मा हो, दम्भी न हो, उसपर सभीको विश्वास होता है। सच्चे धर्मात्मासे किसीको, कभी भी, किसी बातका भय नहीं होता। क्योंकि लोकोत्तर चरित्रशाली धर्मात्माओंका मन एकान्तमें भी, कभी परस्त्री और परद्रव्यकी ओर आकृष्ट नहीं होता। क्योंकि—

'मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।'

—इस सदाचारके परिपालनसे—**'धर्मो रक्षति रक्षितः'** के अनुसार उनका रक्षित धर्म स्वयं उनकी सुरक्षा करता है। अर्थात् स्वधर्मानुष्ठानसे सत्पुरुषोंका अन्तःकरण इतना पूत हो जाता है कि, उनका मन कभी स्वप्नमें भी अधर्मकी ओर नहीं प्रवृत्त होता। इसीलिए महाराज दुष्यन्तको अपने मनपर बड़ा विश्वास था। ब्रह्मर्षि कण्वके आश्रममें, राजकन्या शकुन्तलाकी ओर चित्त आकृष्ट हो जानेपर उसको यह निश्चय हो गया कि—'यह ब्राह्मण-कन्या नहीं, क्षत्रिय-कन्या है।' इसलिए उसने आत्म-विश्वास पूर्वक शकुन्तलासे स्वयं कह दिया कि—

'व्यक्तं राजन्य-तनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे।
न हि चेतः पौरवाणाम् अधर्मे रमते क्वचित्॥'

(श्रीमद्भागवत—९—२०।१२)

अतएव धर्मका प्रभाव अलौकिक है। वह मन और वाणीका गोचर नहीं है। यह समस्त ब्रह्माण्ड एकमात्र धर्मके ही बलपर टिका है। धर्म ही इस संसारकी नींव है। माता-पिता, बन्धु-बान्धव, सुहृद-मित्र—आदि इष्ट-जनोंकी अपेक्षा धर्म ही मनुष्यका सबसे अधिक, सच्चा हित-चिन्तक और संरक्षक है। इस तथ्यको पाश्चात्य-दार्शनिकोंने भी स्वीकार किया है। पाश्चात्य विद्वान् 'कार्लाइल'ने कहा है कि—"मानवमें धर्म ही मुख्य वस्तु है। धर्मसे ही मनुष्य एवं समाज महान् हो सकते हैं।"

जैन-दर्शनके महाविद्वान् श्री शुभ्रचन्द्रने कहा है कि—'धर्म भारीसे भी भारी आपत्तियोंमें प्राणियोंकी सुरक्षा तथा सुखरूपी अमृतकी समृद्धि करके सारे ही जगत्को आप्यायित करता है—

'धर्मो व्यसन-सम्पाते पाति विश्वं चराचरम्।
सुखामृतपयःपूरैः प्रीणयत्यखिलं जगत्॥'

(ज्ञानार्णव—५० पृ० ६)

धर्म और राज्यका अटूट सम्बन्ध

इसीलिए वेदमें (छान्दोग्य, बृहदारण्यक उपनिषत् तथा शतपथ ब्राह्मणमें) भी—धर्म एवं राज्यका परस्पर अटूट सम्बन्ध बतलाते हुए—धर्मकी महिमाको बड़े विस्तारसे गाया है—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। स नैव व्यभवत, स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव व्यभवत्। स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। स नैव व्यभवत्, तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं, तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद् धर्मात्परं नास्त्यथ अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण, यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः।"

"अर्थात् सृष्टिके समय, सर्वप्रथम सब ब्राह्मण थे, अन्य कोई वर्ण नहीं थे। उससे काम नहीं चला। अतः परमात्माने जगत्के पालन, रक्षण आदि कार्यके लिए क्षत्रिय वर्गकी सृष्टि की, जो पृथिवीमें क्षत्रिय और स्वर्गमें (अर्थात् दैव-जगत्में) इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान आदि नामसे अभिहित हुए। फिर भी, केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्गसे जगत्का काम पूरा नहीं चला। क्योंकि जगत्के भरण-पोषणके लिए अर्थोपार्जनकी आवश्यकता पड़ी। तब फिर परमात्माने वैश्य-वर्णकी उत्पत्ति की, जो मनुष्य-लोकमें वैश्य और देव-लोकमें गण नामसे कहे गये। जैसे—अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, विश्वेदेव और मरुद्गण आदि। परन्तु जब उससे भी काम नहीं चला, तब फिर सेवा-कार्यके लिए परमात्माने चतुर्थ वर्ण—शूद्रकी उत्पत्ति की—जो कि देव-लोकमें पोषण-कारिणी पृथिवी, इस नामसे अभिहित हुई और इस लोकमें सेवाकर्मद्वारा सबको परिपुष्ट करनेवाली शूद्रजातिके नामसे कही गयी।

इस प्रकार चारों वर्णोंकी सृष्टि करनेपर भी जगत्की व्यवस्था ठीक-ठीक नहीं चल पायी। क्योंकि कोई किसीका सञ्चालक एवं नियामक नहीं रहा। अतः सब लोगोंमें यथेच्छ प्रवृत्ति बनी रही और क्षत्रियजाति प्रबल होकर, अन्य दुर्बल जातियोंको पीड़ित करने लगी। इसी तरह

अन्य जातियोंमें भी यथेच्छाचार फैलने लगा। तब फिर भगवान्‌ने चारों वर्णोंके संचालक और नियामक धर्मरूपी अपनी महान् शक्तिको प्रकट किया, जिसकी अधीनतामें रहकर चारों वर्ण (और आश्रम) अपना-अपना कर्म करने लगे। क्योंकि धर्म क्षत्रियका भी क्षत्रिय, अर्थात् शासकका भी शासक है—उसमें सबका शासन करनेकी शक्ति है। उसीके बलपर निर्बलसे भी निर्बल व्यक्ति भी, बड़े-बड़े बलवानोंपर, सम्राट्‌के समान, शासन कर सकता है। अतः धर्म ही वास्तवमें सबका राजा है, वही सबका शासक है।"

धर्म ही सबका शासक

इसीलिए पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्यने पूर्वोक्त श्रुतिका भाष्य करते हुए कहा है कि—

"क्षत्रस्य क्षत्रम्, क्षत्रस्यापि नियन्तृ, उग्रादपि उग्रं यो धर्मः। तस्मात् क्षत्रियस्यापि नियन्तृत्वाद् धर्मात् प्रियं नास्ति, तेन हि नियम्यन्ते सर्वे।" (शा० भा०)

'अर्थात् धर्म शासकका भी शासक है, वह मृदुसे भी मृदु और उग्रसे भी उग्र है। वह सब शासकोंका भी नियमन करनेवाला है। अतः धर्मके द्वारा संसारकी सभी व्यवस्थाएँ ठीक हो गयीं।'

इस विवेचनसे सिद्ध हुआ कि—संसारमें सबसे अधिक महत्त्वकी वस्तु 'धर्म' है। अस्तु।

धर्मके लिए ही शासकका निर्वाचन

सृष्टिके प्रारम्भमें, सत्य-प्रधान सत्य-युगमें—जब कि धर्मतत्त्व साङ्गोपाङ्ग अर्थात् पूर्ण था, धर्म ही सबका शासक था। सम्पूर्ण प्रजा धर्मसे ही परस्पर एक-दूसरेकी रक्षा करती थी। सब लोगोंके धर्ममें निरत रहनेसे, अन्याय और दुराचारका, कहीं भी, नाम और निशान नहीं था। किसीका मन अधर्मकी ओर प्रवृत्त ही नहीं होता था। धन और विद्या (ज्ञान) आदिका उपार्जन, कभी भी, अधर्मसे, अन्यायसे नहीं होता था—

'चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाऽधर्मेणाऽऽगमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रति वर्तते॥'

(मनु० १-८७-)

ऐसी मर्यादामयी सुव्यवस्थितिमें, न तो किसी नियामककी (नियमन-कर्ता—शासककी) आवश्यकता थी, न पुलिस और न पलटनकी ! अर्थात् उस समय न तो कोई राजा था और न किसीका राज्य ? उस समय और तो क्या, कुत्तोंके निवारणके लिए भी दण्ड या किसी नियामककी आवश्यकता नहीं थी । धर्मके प्रभावसे उस समयके कुत्ते भी बड़े नियम-बद्ध थे—

'न राज्यं नैव राजाऽऽसीन्न दण्डो नैव दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षयन्ते स्म परस्परम ।।'

(म० भा० शा० प०–)

बादमें, जैसे-जैसे धर्मका ह्रास होता गया, वैसे-वैसे अधर्म और अन्यायका प्रसार होता गया । इसीसे फिर प्रजाको सत्पथपर चलानेके लिए, मर्यादाबद्ध करनेके लिए राजा और राज्यकी—दण्ड और नियामककी, आवश्यकता बढ़ती गयी । तभीसे फिर धर्म-रक्षाके लिए, राष्ट्रमें राजाका निर्वाचन होने लगा ।

चूँकि प्राणियोंके योग-क्षेमके मुख्य साधन दो ही हैं—धर्म और अर्थ । इनमें भी मुख्य है—धर्म । धर्माचरणसे विमुख नर-समाज अभ्युदय और निःश्रेयसरूप—दोनों प्रकारकी समुन्नतिसे वञ्चित ही रह जाता है । अतः उक्त दोनों ही उन्नतियोंसे वञ्चित, पुरुषार्थ-हीन मानव-समाजको अधर्ममय अधोगतिसे हटाकर, पुरुषार्थ-सम्पादनकी ओर प्रवृत्त कर देना ही राजा और राज्यका प्रधान उद्देश्य राजशास्त्रमें बतलाया गया है । इस दृष्टिसे मुख्यतया धर्मकी सुरक्षाके लिए ही प्रजामें राजाका निर्वाचन अपेक्षित होता है—यह बात महाभारतमें, राजनीतिके प्रसङ्गमें बड़े युक्ति-युक्त विवेचनके साथ बतालायी गयी है । पितामह भीष्मने महाराज युधिष्ठिरसे कहा है कि—

'धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु ।
मान्धातरभिजानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ।
धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति ॥'

(शा० प० ९०–३)

अर्थात् राजा धर्मकी रक्षाके लिए होता है—न कि मनमाने स्वेच्छा-चारके लिए ? चूँकि समस्त प्राणी धर्मके आधारपर स्थित हैं और धर्म

राजापर, अर्थात् शासकपर निर्भर है। अतः धर्मकी रक्षा करनेवाला शासक ही वास्तवमें प्रजाकी सच्ची रक्षा कर सकता है, धर्मसे उदासीन नहीं। इसीलिए महर्षि कामन्दकने भी अपने नीतिसारमें कहा है कि—

'तस्मात् धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः।
धर्मेण वर्द्धते राष्ट्रं तस्य स्वादुफलं श्रियः॥'

(नी० सा० १-१७)

अतः जो राजा स्वयं धर्म और नीतिमें परायण रहता है, उसके राष्ट्रमें सम्पूर्ण प्रजा अपने-अपने कर्तव्यमें, स्वधर्ममें, संलग्न रहती है, उसकी कीर्ति अमर हो जाती है।

यथेच्छाचारसे अधर्मका उत्थान

समाजमें अपने-अपने कर्तव्योंका यथोचित पालन न होनेसे ही राष्ट्रमें मात्स्य-न्याय उत्पन्न होता है। क्योंकि समाजमें धर्मसाङ्कर्य अर्थात् अनियमित आचरण होनेसे वर्ण-साङ्कर्य उत्पन्न हो जाता है। वर्ण-साङ्कर्यसे मात्स्य-न्याय प्रवृत्त होता है। मात्स्यन्यायसे फिर सम्पूर्ण राष्ट्रका विनाश होता है—यह बात महाभारतमें युक्तिसे समझायी गयी है—

'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
वर्तते तेन लोकोऽयं सङ्कीर्णश्च भविष्यति॥
सङ्कीर्णे च तथा धर्मे वर्णसङ्करमेति च।
सङ्करे च प्रवृत्ते तु मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते॥'

(शा० प० २२०-६२-६३)

अतएव धर्म-साङ्कर्य भी वर्ण-साङ्कर्यके समान, समाजके लिए अत्यन्त घातक होता है। क्योंकि संसारमें प्रत्येक देश और प्रत्येक राष्ट्रमें अधर्म एवं अनाचारका प्रचार मुख्यतया वर्ण-सङ्कर ही किया करते हैं। उसमें कारण यह है कि उन लोगोंकी प्रवृत्ति अधर्म, अनाचार और उच्छृंखलताकी ओर स्वभावतः ही होती है। अतः राज्योंमें उच्छृंखलता, अविनय, यथेच्छाचार आदि समस्त दोषोंका प्रसार एवं प्रचार करनेमें भी मुख्यतया ये ही लोग अग्रेसर होते हैं। इन्हींका प्रश्रय पाकरके अधर्मका उत्थान होता है। अधर्म समाजके सदाचार, सद्विचारोंको दूषित करते हुए लोक-मर्यादाओंको नष्ट करके देश और राष्ट्रको अवनतिकी ओर ले चलता है।

इसी बातको हृदयमें रखते हुए बड़े विचार-विनिमयके साथ भगवान् मनुने कहा है कि—'जिस राष्ट्रमें वर्ण एवं धर्म-मर्यादाओंका विध्वंस करनेवाले—ये वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं, वह राष्ट्र वहाँके शासक एवं नागरिकोंके सहित शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है—

'यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रियैः सह तद् राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥'
(म० स्मृ० १०)

अतः इस महान् भयङ्कर अनर्थको ही ध्यानमें रखकर वीर और प्रतापी अर्जुनने गीतोपदेश-श्रवणके समय भगवान् कृष्णको बार-बार यह स्मरण कराया कि—

'अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्ण-सङ्करः ॥'
'दोषैरतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥'
(भगवद्गीता)

ये सब अनर्थ राजधर्मके अतिक्रमणसे उत्पन्न होते हैं। राजनीतिके महर्षि कौटल्यने राजशास्त्रमें इन बातोंका सटीक विवेचन करते हुए कहा है—कि 'राष्ट्रमें वर्ण-सङ्करता आदि जितने भी दोष होते हैं, वे सब मुख्यतया राजधर्मके अतिक्रमणके ही कारण, उत्पन्न होते हैं'—

'त एते प्रतिलोमाः स्वधर्मातिक्रमाद् राज्ञः सम्भवन्ति ।'
(कौ० अर्थ० २–२७)

अतः समाजमें जो मूढ़ और दुराचारी पापात्मा लोक-मर्यादाओंको नष्ट करते हैं, यथेच्छ आचरणके द्वारा धर्म-साङ्कर्यको प्रवृत्त करते हैं, वे दुराचारी अधोगतिको प्राप्त होते हैं—

'ये मूढा ये दुरात्मानो धर्मसङ्करकारकाः ।
मर्यादाभेदका नीचा नरके यान्ति जन्तवः ॥'
(शा० प० २२०–६९)

अतः धर्मके ह्रास और वृद्धिका सबसे प्रमुख कारण शासक ही होता है। शासक यदि धर्म-परायण हो, सचमुच धर्मात्मा हो, तब तो फिर राष्ट्रकी समस्त प्रजा भी धर्म-परायण होती है और राजा यदि धर्म-

पराङ्मुख हो तो फिर प्रजा भी निश्चित वैसी ही हो जाती है। क्योंकि मानव-समाजका यह ध्रुव स्वभाव है कि, वह प्रायः अपने शासकोंके ही शील, स्वभाव, वेशभूषा, धर्म-अधर्म, आचरण और भाषणका अनुकरण किया करता है। इसका एक कारण यह भी है कि–**'राजा लोकपतिर्गुरुः'** के अनुसार राष्ट्रका नियामक होनेसे राजा अपनी प्रजाका गुरु भी होता है। अतः **'गुरुशीलम् अनुशीलयन्ति शिष्याः'**—के अनुसार जनता अपने शासकोंके, शील, स्वभाव, आचरण और वेश-भूषाका अनुकरण करती है। महाभारतमें स्पष्ट ही कहा है कि—

'राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः खले खलाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥'
(शा० पर्व–)

'अर्थात् राजा यदि धर्मात्मा होता है, तो प्रजा भी वैसी ही होती है। राजा यदि पापाचरण करता है, तो फिर प्रजा भी पापाचार ही करने लगती है। और राजा यदि खल होता है तो फिर प्रजा भी निश्चित वैसी ही हो जाती है। क्योंकि उसके आचरणका समाजपर मुख्य असर पड़ता है। सब लोग उसीका अनुकरण करते हैं। अतः यह बात ध्रुव सत्य है कि—'जैसा राजा (शासक) होता है, वैसी ही प्रजा भी हो जाती है।'

इसी कारण महर्षि शुक्राचार्यने बड़े स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि— 'समाजकी धर्म और अधर्मकी ओर प्रवृत्ति होनेमें एकमात्र कारण शासक ही होता है'—

'धर्माधर्मप्रवृत्तौ तु नृप एव हि कारणम्।'
(शु० नीति–१–१८)

इसलिए प्रत्येक शासकका यह मुख्य कर्त्तव्य है कि—'वह अपने राष्ट्रमें धर्मकी अभिवृद्धिपर अत्यधिक ध्यान दे।' क्योंकि धर्मकी अभिवृद्धि होनेपर ही राष्ट्रकी अभिवृद्धि होती है और धर्मके ह्रासले राष्ट्रका ह्रास होता है—

'धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद् धर्मं विवर्धयेत्॥'
(शा० प० ९०–१७)

धर्मका ह्रास और अधर्मका उत्थान

धर्मके ह्रास एवं अधर्मके उत्थानके भी मूल कारण राष्ट्रके शासनाधिकारी ही होते हैं। शासकोंकी ही दुर्नीतिसे देश और राष्ट्रका विनाश होता है—यह बात आयुर्वेदके मूर्धन्य ग्रन्थ—चरकके 'जनपदोद्धंस' नामक अध्यायमें युक्ति-पूर्वक बतलायी गयी है। देश और राष्ट्रका विनाश किन-किन कारणोंसे होता है—इस विषयपर गम्भीर विवेचन करते हुए वहाँ कहा गया है कि—

'पाञ्चाल प्रदेशमें, जहाँ कि प्रायः द्विजवरोंका ही निवास था, काम्पिल्य राजधानीमें, महर्षि आत्रेय ग्रीष्मान्तके समय अपने शिष्योंके साथ बनमें, गङ्गा तटपर विचरते हुए अपने प्रिय शिष्य अग्निवेशसे बोले—"बेटा, ये नक्षत्र, ग्रहगण, सूर्य-चन्द्रमा, अग्नि और दिशाएँ विकृत-भावको प्राप्त हुई दिखलायी दे रही हैं, इनके लक्षण ऋतुओंमें विकार उत्पन्न करनेवाले प्रतीत हो रहे हैं। अतः अब पृथिवी भी विरस हो जायगी अर्थात् वह फलका परिपाक ठीकतरह नहीं कर सकेगी। उसके अभावसे, जनतामें रोग, व्याधियोंकी उत्पत्ति होनेसे सर्वत्र आतङ्क फैल जायगा, जिससे कि जनपदका विध्वंस हो जानेकी आशङ्का है। अतः भूमिके विरस एवं जनपदके उद्ध्वंस होनेके पहले ही तुम लोग सम्पूर्ण औषधियोंको उखाड़कर, उनका संग्रह कर लो—जब तक कि उनके रस, वीर्य एवं फलका प्रभाव क्षीण न हो जाय। हम उनके रस, वीर्य और फलके प्रभावका उपयोग उन लोगोंपर करेंगे, जो कि हमें चाहते हैं और जिन्हें हम चाहते हैं। क्योंकि औषधियोंको ठीक तरहसे उखाड़कर उन्हें ठीक-तरहसे तैयार करके, उचित रीतिसे उनका उपयोग करनेसे जनपदोंका उद्ध्वंस (विनाश) करनेवाले विकारोंका प्रभाव नष्ट हो जाता है।"

अग्निवेशने महर्षि आत्रेयसे कहा—"भगवन्, आज्ञानुसार औषधियोंको उखाड़कर, तैयार करके, उन्हें सुरक्षित रख दिया है। मुझे यह जिज्ञासा है कि—एक ही व्याधिसे भिन्न-भिन्न प्रकृति, भिन्न-भिन्न प्रकारके आहार, भिन्न-भिन्न तरहके देह, बल, रुचि, सत्त्व और अवस्थाओं वाले—नाना प्रकारकी प्रकृतिवाले मनुष्योंका, एक ही साथ विनाश कैसे हो जाता है?"

महर्षिने कहा—"वत्स अग्निवेश, मनुष्योंमें प्रकृति (स्वभाव) आदि भावोंकी समानता न होनेपर भी, उनमें वायु, जल, देश (भूमि) और

काल—ये जो सामान्य भाव हैं, उनके विकृत हो जानेसे प्राणियोंमें, समान-कालमें ही एक-सी तरहकी व्याधियाँ उत्पन्न होकर सर्वत्र फैल जाती हैं और सारे देशका विनाश कर डालती हैं।

वायु

अतः जो वायु ऋतुके विपरीत, अत्यन्त स्थिर अथवा अत्यन्त तेज बहे, अतीव कठोर, अत्यन्त शीत, अत्युष्ण अथवा अतिरूक्ष हो, या सर्वत्र तेजीसे बहे, अत्यन्त भयङ्कर ध्वनि करे, परस्पर टकरावे अथवा अत्यन्त गोलाकाररूप (बबन्डर रूपवाला) हो, अरुचिकर गन्ध, बाष्प, कङ्कड़, धूलि या धूमसे दूषित हो, तो ऐसे वायुको अनारोग्यकर समझना चाहिए।

जल

जिसका गन्ध, रूप, रस तथा स्पर्श अत्यन्त विकृत हो जाय, जिसमें अधिकतर कीचड़ हो जाँय, जहाँसे जलचर तथा पक्षिगण हट जायँ और कमल क्षीण हो जायँ, और जो रुचिकर न रह जाय—ऐसे जलको भी गुणहीन, अर्थात् अनारोग्यकर समझना चाहिए।

देश या भूमि

जिस भूमिका वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श अपनी प्रकृतिसे, अर्थात् स्वभावसे विकृत हो जाय, जहाँ अधिक कीचड़ और दलदल हो जाय, जहाँ सर्प, बाघ, मच्छर, मक्खी, टिड्डीदल, चूहे, उल्लू, गीध, गीदड़—आदि क्रूर जीव रहने लग जायँ, जहाँ तृण और उलपका आधिक्य हो जाय, जो लता और झाड़ियोंसे घिर जाय, जहाँ धूम-जैसा वायु बहता हो, पक्षीगण जोर-जोरसे चिल्लाने लगें, कुत्ते जोर-जोरसे भौंकने लगें, मृग और पक्षी उद्भ्रान्त हो-होकर व्यथाको प्राप्त होने लगें, जहाँके निवासी मनुष्य धर्मका परित्याग करके सत्य, लज्जा, शील और सदाचार आदि गुणोंका परित्याग कर डालें, जहाँके जलाशय विक्षुब्ध होने लगें, जहाँ उल्कापात और विद्युत्के कठोर शब्द तथा भूकम्प होने लगें, जहाँ भयंकर शब्द सुनायी पड़े, सूर्य-चन्द्रमा और तारागण रूक्ष, लाल, पीले और सफेद बादलोंसे सदैव घिरे रहें, एकाएक घबड़ाहट-सी होने लगे, जहाँ त्रास-सहित रोदन-सा सुनायी पड़े, जो अन्धकार युक्त-सा प्रतीत हो,

जहाँ गुह्यकों, देवयोनियोंके प्रचारसे अनहोनी बातें और बहुत रोनेका शब्द सुनायी पड़ें—ऐसे देश (भूमि) को भी अत्यन्त अहितकर समझना चाहिए।

काल

जिसमें वर्तमान ऋतुके लक्षणोंसे विपरीत चिह्न दिखायी पड़ें, अथवा ऋतुमें उसके गुणोंमें तेजी अथवा वैपरीत्य होने लगे। जैसे कि ग्रीष्ममें उसके अनुपातसे अधिक भीषण गर्मी, अथवा शीताधिक्य तथा शीतकालमें भी उसके अनुपातसे और अधिक असह्य शीत या उष्णता आदि—हो जाय, तो ऐसे कालको भी अहितकर एवं अनारोग्यकर समझना चाहिए।

इस प्रकार दोषोंसे युक्त वायु, जल, देश और काल—इन चार पदार्थोंको सूक्ष्मदर्शी महर्षियोंने जनपदके उद्धंसक बतलाया है और इनके विपरीत भावोंको जनपदके हितावह बतलाया है। विकृतभावको प्राप्त हुए इन—दूषित वायु, जल, देश और कालमें भी कारणवश दोषोंका प्राबल्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जाता है। तदनुसार वायुसे जलका, जलसे देशको, और देशसे कालको, स्वभावतः और अधिक दुष्परिहार्य एवं भयंकर उपद्रवकारी समझना चाहिए।

आत्म-रक्षा

परन्तु इन तत्त्वोंमें प्रविष्ट हुए दोषोंका प्रतीकार यदि संभव हो तो, तब इनको अधिक अनर्थकारी नहीं समझना चाहिए। इसलिए जब लोग इन (वायु आदि) चारों तत्त्वोंपर पूर्वोक्त ओषधियोंका उपयोग करते रहते हैं तो, तब वे उनसे कष्ट नहीं पाते। जिनकी मृत्यु एक-तरहकी नहीं है और न एक-तरहके कर्म हैं--उनके लिए [1]पञ्च-विध कर्म उत्तम आरोग्यप्रद होता है। तथा रसायनोंका विधिवत् उपयोग एवं पूर्वोद्धृत औषधियोंका सेवन भी देहयात्राके लिए गुणकारी होता है।

इसके अतिरिक्त सत्यसंभाषण, प्राणियोंपर दयाभाव, यथाशक्ति दान, बलिकर्म, देवताओंका अर्चन-पूजन, सदाचारका अनुष्ठान और शान्ति-- इन सात उपायोंसे भी लोगोंकी आत्मरक्षा होती है।

१—स्नेहन, (२) स्वेदन, (३) वमन, (४) विरेचन और (५) वस्ति-- इस प्रकारसे, ५ प्रकारकी चिकित्सा।

इससे अतिरिक्त—देशवासियोंका हितकरना, माङ्गलिक वस्तुओंका सेवन, ब्रह्मचर्यका परिपालन, ब्रह्मचारियोंकी सेवा-शुश्रूषा, धर्मशास्त्रका पठन-पाठन, जितेन्द्रिय महर्षियोंका चरित्र-श्रवण, वृद्धजनोंसे सम्मानित धार्मिकों तथा सात्त्विक-पुरुषोंका सहवास—इन सब उपायोंसे भी उन लोगोंकी आयुकी अभिवृद्धि एवं सुरक्षा होती है—'कि, जिनकी मृत्यु उस दारुण समयमें नियत न हो।'

इस प्रकार महर्षि आत्रेयके मुँहसे जनपदोंके उद्ध्वंसके कारणों एवं उनसे बचाव होनेके उपायोंको सुनकर शिष्य अग्निवेशने महर्षिसे पुनः यह शङ्का की कि—"भगवन्, इन वायु आदि तत्त्वोंमें ये सब विकार कैसे उत्पन्न हो जाते हैं—कि जिनसे दूषित होकर वे सारे ही जनपदका विनाश कर डालते हैं?"

इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि आत्रेयने कहा कि—"वत्स अग्निवेश, इन वायु आदि तत्त्वोंमें जो ये विकार उत्पन्न होते हैं, उनका मूलकारण 'अधर्म' है और अधर्मका मूल-कारण है—असत्कर्म। और इन दोनोंका अर्थात् अधर्म और असत्कर्मका मूल-कारण है—प्रज्ञापराध! अर्थात् बुद्धिका दोष।

बुद्धिदोष

अतः बुद्धिदोषके कारण जब देश, नगर, निगम, और जनपदके अधिकारी लोग धर्मका अतिक्रमण करते-करते प्रजाको अधर्ममें प्रवृत्त कर देते हैं, तब उनके आश्रित एवं उपाश्रित पुर और नगरवासी तथा व्यवहारोपजीवी लोग उस अधर्मको और आगे बढ़ा देते हैं। तब वह [1]अधर्म हठात् धर्मका अन्तर्धान (लोप) कर देता है, अर्थात् धर्मको छिपा देता है। तब धर्म-हीन पुरुषोंको देवता भी त्याग देते हैं। अर्थात् धर्मके अन्तर्धान हो जानेपर मनुष्य अधर्म-प्रधान हो जाते हैं, अतः देवता लोग उनका साथ छोड़ देते हैं। इसीसे फिर ऋतुओंमें परिवर्तन हो जाता है—जिससे कि उचित समयपर वर्षा नहीं होती, या नहीं ही होती, अथवा विकृत-रूपमें होती है। वायु भी ठीक नहीं बहता। पृथिवी विकृत हो जाती है। जल भी सूख जाता है। अन्न आदि औषधियाँ भी अपने स्वभावको

१—बढ़ा हुआ अधर्म।

छोड़कर [1]विकृत हो जाती हैं। तब परस्पर [2]स्पर्शदोष एवं दूषित आहारके (खान-पानके) प्रभावसे सब जनपद नष्ट हो जाते हैं—

'तद्यथा—यदा देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्य, अधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजानपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति। ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते। ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते। तेषां तथान्तर्हितधर्मणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्ते। तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति, न वा वर्षति, विकृता वा वर्षति। वाता न सम्यगभिवान्ति। क्षितिर्व्यापद्यते। सलिला उपशुष्यन्ति। ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम्। तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः। स्पृश्याभ्यवहार्यदोषात्॥'

(चरक, विमान-स्थान ३ अ० २१, २२)

इसके अतिरिक्त शस्त्रास्त्रोंसे भी जो जनपदका विद्ध्वंस होता है—उसमें भी 'अधर्म' ही मुख्य कारण है। क्योंकि अर्धाचरण करनेसे लोगोंके अन्दर जब लोभ, मोह, रोष और अहङ्कारकी मात्रा बढ़ जाती है, तब वे दुर्बल लोगोंको अपमानित करके आत्मा, स्वजन, एवं पराये लोगोंके विनाशके लिए भयङ्कर शस्त्रास्त्रोंका निर्माण करके उनके द्वारा परस्पर आक्रमण करते हैं। वे लोग या तो स्वयं दूसरोंपर आक्रमण करते हैं, या दूसरे लोग उनपर।

भूत-प्रेत या रक्षोगण आदिके द्वारा भी जनपदका जो उद्ध्वंस होता है, उसमें भी मूलकारण अधर्म ही है। क्योंकि प्राणियोंमें अधर्म या अन्य [3]असत्कार्यको देखकर ही वे सब भी जनतापर असर करते हैं। इसके अतिरिक्त लोगोंके अभिशापसे होनेवाले जन-संहारमें भी अधर्म ही कारण होता है। क्योंकि जो लुप्त-धर्मा (धर्मविहीन) होते हैं, वे लोग अपने माता-पिता, गुरु, वृद्ध, ऋषि एवं पूज्य-पुरुषोंका अनादर और अपमान करके जब उनका अहित करने लगते हैं, तो इससे उनका अन्तःकरण दुःखी हो जाता है, तब वे लोग क्षुब्ध होकर उन्हें अभिशाप दे देते हैं।

१—नीतिमें भी कहा है—महापापी यत्र राजा तत्राधर्म-परो जनः।
न कालवर्षी पर्जन्यस्तत्र भूर्न महाफला।

२—परस्पर स्पर्श होनेके कारण रोगोंका संक्रमण होता है।

३—पापको।

जिससे वे अधर्मी नष्ट हो जाते हैं। प्राचीन समयमें इस कारणसे अनेकों वंश नष्ट हो गये हैं। इतिहास और पुराणोंको देखनेसे निश्चित हो जाता है कि—रावण, कंस, कीचक, कौरव, आदि किस प्रकार नष्ट हुए।

अत: अशुभकी उत्पत्ति एकमात्र अधर्मसे, दुराचारसे, ही होती है। प्राचीन समयमें भी अशुभकी उत्पत्ति अधर्मके बिना और किसीसे भी नहीं हुई। क्योंकि आदि-कालमें, धर्मप्रधान सत्ययुगमें सब मनुष्य देवताओंके समान बलशाली, अतिनिर्मल, महान् प्रभावशाली थे। वे देवता, ऋषि, एवं धर्मकी परिपुष्टिके लिए यज्ञ-याग आदि सत्कर्म करनेवाले, वज्रसदृश सुस्थिर-शरीर, प्रसन्न-वर्ण एवं मनोहर इन्द्रियोंवाले होते थे। वे वायुके सदृश बल, वेग और पराक्रमवाले होते थे। अनुरूप प्रमाण, आकृति, प्रसाद वृद्धिशाली होते थे। उनको देवता और देवर्षि साक्षात् मिलते थे। वे सत्य, आर्जव, दया, दान, दम, नियम, तप, उपवास एवं ब्रह्मचर्यमें परायण रहते थे। राग-द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, भय, शोक, मान, रोग, निद्रा, तन्द्रा, श्रम, क्लम, आलस्य और परिग्रह—इन सब दोषोंसे विवर्जित, एवं असीमित आयुवाले होते थे।

ऐसे उदार-हृदय, गुणवान्, सदाचार-सम्पन्न लोगोंके लिए भूमिमें अचिन्त्य रस, वीर्य, परिपाक, प्रभाव और गुणसे सम्पन्न, सुस्वादु अन्न उत्पन्न होता था। क्योंकि उस समय—सत्ययुगके आरम्भमें पृथिवी आदि सब तत्त्व सर्वगुणोंसे सम्पन्न थे।

तदनन्तर—सत्ययुगके अन्तमें, फिर कुछ प्रभावशाली लोगोंके शरीरमें गुरुता (भारीपन) उत्पन्न हुई। गुरुतासे श्रम, श्रमसे आलस्य, आलस्यसे सञ्चय, सञ्चयसे परिग्रह, परिग्रहसे लोभ उत्पन्न हुआ। उसके बाद फिर त्रेतायुगमें लोभसे द्रोह, द्रोहसे अनृतभाषण, अनृतभाषणसे काम, क्रोध, अभिमान द्वेष, कठोरता, संघर्ष, भय, परिताप, शोक, चिन्ता और उद्वेष—आदि दोष उत्पन्न हुए।

इस कारण त्रेतायुगमें धर्मका एक-पाद[१] अन्तर्हित (तिरोहित) हो गया। धर्मके अन्तर्धान हो जानेपर फिर युगोंके वर्ष-प्रमाणमें भी

१—एक चतुर्थांश। 'धर्मश्चतुष्पान्मनुजान् कृते समनुवर्तते।
स एवान्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता॥'
(भाग०—३-११-२१)

[1]एक-पादका ह्रास हो गया। और साथ ही साथ पृथिवी आदि तत्त्वोंके गुणोंका भी एक-पाद[2] लुप्त हो गया। तब पृथिवीके गुणोंका ह्रास हो जानेसे अन्नमेंसे भी स्नेह, निर्मलता, रस, वीर्य, परिपाक और प्रभाव—इन गुणोंका चतुर्थांश लुप्त हो गया। इसी क्रमसे फिर द्वापर-युगमें भी पूर्वोक्त तत्त्वोंका उत्तरोत्तर ह्रास होता गया।

इस प्रकार अन्न-आदि पदार्थोंमेंसे रस आदि गुणोंके चतुर्थांशका उत्तरोत्तर ह्रास होते-होते प्राणियोंके शरीर पूर्ववत् आहार-विहारके अभावके कारण अर्थात् यथेच्छ आहार-विहार हो जानेसे, अग्नि और वायुसे पूर्ण होकर ज्वरादि व्याधियोंसे आक्रान्त हो जाते हैं। बस, इसीसे प्राणियोंकी आयु क्रमशः उत्तरोत्तर ह्रासको प्राप्त होती चली जाती है।

इस प्रकार प्रतियुगमें इस क्रमसे धर्म एवं पृथिवी आदिके गुणोंका चतुर्थांश उत्तरोत्तर क्षीण होता चला जाता है। इन्हीं कारणोंसे यह संसार नष्ट होता रहता है। [3]सौ-सौ वर्षोंके बीत जानेपर मनुष्योंकी आयुके प्रमाणमें भी एक-एक वर्षकी न्यूनता होती चली जाती है। इसीलिए कलिकालमें मनुष्योंकी सौ-वर्षकी पूर्णायुमें भी ह्रास हो-होकर चालीस-पचास वर्षोंका जीवनकाल हो जाता है—

(चरक ३ अ० २३–२०)

इसी कारण भगवान्‌को अधर्म सबसे अधिक अप्रिय और धर्म सबसे अधिक प्रिय है। इसीलिए वह धर्मकी सुरक्षा तथा अधर्मके निग्रहके लिए अवतार-ग्रहण करते हैं। अस्तु।

राजधर्म

जैसे विश्वभावन भगवान्, धर्मका ह्रास एवं अधर्मका अभ्युत्थान होनेपर, धर्मके संस्थापनके लिए पृथिवीपर अवतीर्ण होते हैं। ठीक उसी तरह, अर्थात् धर्मकी सुरक्षा, अधर्मका विनाश एवं दुष्टोंके दमनके लिए ही प्रत्येक राष्ट्रमें राजाकी, अर्थात् शासककी, अपेक्षा होती है। इसलिए राजा मुख्यतया धर्मकी ही रक्षाके लिए—देश, काल, कार्य और शक्तिके अनुसार—अनेकों रूप धारण करता है, अर्थात् तरह-तरहकी नीतियोंको अपनाता है—

१—युगोंके परिमाणका एक चतुर्थांश। २—एक चतुर्थांश।

३—एक-एक शताब्दोके।

'कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्म-सिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः ॥'
(मनु० ७-१०)

राजनीतिके सभी ग्रन्थोंमें राज्यका मुख्य उद्देश्य धर्म-रक्षा ही बताया गया है। महाभारतमें कहा है कि—'ब्रह्म-देवने सब प्राणियोंकी सुख-समृद्धिके लिए ही धर्मकी सृष्टि की है। अतः प्रत्येक शासकका मुख्य कर्तव्य यह है कि प्रजापर अनुग्रह करनेके लिए वह अपने राष्ट्रमें सर्वत्र धर्मका प्रवर्तन करे।

'प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयंभुवा।
तस्मात् प्रवर्तयेद् धर्मं प्रजानुग्रहकारणात् ॥'
(शा० प० ९०-१९)

अतः स्वधर्म विमुख, अर्थात् सदाचारसे पराङ्मुख पिता, माता, भ्राता, आचार्य, सुहृद, स्त्री, पुत्र—आदि चाहे कोई भी क्यों न हो, शासकको उसे अवश्य ही दण्ड देना चाहिए। मनुने कहा है—

'नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति।'
(मनु० ८-३३५)

इसीलिए राजनीतिमें साम, दान, भेद, दण्ड, छल, इन्द्रजाल आदि विचित्र-विचित्र उपायोंका सन्निवेश किया गया है कि जिससे जनता आय-पथसे, सत्यमार्गसे किसी भी तरह विचलित न हो सके—

'यैर्यैरुपायैर्लोकोऽयं न चलेदार्यवर्त्मनः।
तत्सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम् ॥'
(म० भा० शा० प० —)

इसीकारण राजाके लिए, इतर लोगोंकी तरह, यथेच्छ आचरण करनेका राजशास्त्रमें स्पष्ट निषेध है। क्योंकि राजा यदि धर्मको छोड़कर जरा-सा भी प्रमाद करने लगता है, तो फिर राष्ट्रमें दो-जने मिलके एक की वस्तुको छीन लेते हैं और बहुतसे मिलकर दो-को लूट लेते हैं। कुमारी कन्याओंपर छीना-झपटी और बलात्कार होने लगता है। यह सब दोष एक-मात्र शासकका ही बतलाया गया है, और ऐसी परिस्थितिमें कोई भी व्यक्ति अपनी वस्तुको अपनी नहीं बता सकता। अर्थात् यह वस्तु मेरी है—ऐसा कोई भी नहीं कह सकता। क्योंकि किसीकी वस्तुका

कोई संरक्षक ही नहीं रहता। अतः लोग आपसमें एक दूसरेको लूटते ही रहते हैं—

'द्वावाददाते ह्येकस्य द्वयोः सुबहवोऽपरे।
कुमार्यः सम्प्रलुप्यन्ते तदाहुर्नृपदूषणम्॥'
'ममैतदिति नैतच्च मनुष्येष्ववतिष्ठति।
त्यक्त्वा धर्मं यदा राजा प्रमादमनुतिष्ठति॥'

(शा० प० ९०-४०-४१)

शासकके ही अपराधसे लक्ष्मीवान् पुरुष सच्छिक्षाके अभावसे अन्यायसे द्रव्योपार्जन करते हैं, और उपार्जित द्रव्यका समुचित उपयोग (सदुपयोग) नहीं करते। व्यापार या लेन-देनमें सत्य-व्यवहार नहीं करते। अर्थात् स्वधर्मका समुचित पालन नहीं करते हैं—इसी कारण वे लोग पापियोंकी श्रेणीमें गिनाये जाने लगते हैं, यानी पापी, और अधर्मात्मा कहे जाते हैं। और एककी देखा-देखी सभी लोग नास्तिक हो जाते हैं। देवताओंकी भी निन्दा होने लगती है। धर्मके प्रति लोगोंकी घृणा हो जाती है—लोग धर्मका खण्डन करने लगते हैं। धर्म और ईश्वर नहीं है—ऐसा मिथ्या प्रचार करने लगते हैं—

'राजापराधान्मान्धातर्लक्ष्मीवान् पाप उच्यते।
देवाश्च गर्हां गच्छन्ति धर्मो नास्तीति चोच्यते॥'

(शा० प० ९०-६)

इसीसे राजशास्त्रके मूर्धन्य महर्षि शुक्राचार्यने कड़ी भाषामें यह कितना स्पष्ट कह दिया है, देखिए—

'प्रजा निःस्वा राजदौष्ट्याद् दण्डार्धेतु कलौ युगे।
युगप्रवर्तको राजा धर्माधर्मप्रशिक्षणात्।
युगानां न, प्रजानां न, दोषः किन्तु नृपस्य हि।
प्रसन्नो येन नृपतिस्तदाचरति वै जनः॥
लोभाद् भयाच्च किं तेन शिक्षितं नाचरेत् कथम्॥'

'अर्थात् राजाकी क्षुद्रतासे, दण्डका ठीक-ठीक उपयोग न होनेके कारण ही कलिकालकी प्रजा अन्न और धनसे विहीन हो जाती है। क्योंकि जनतामें धर्म-अधर्मकी शिक्षा मुख्यतया राजा ही देता है। इसलिए जनतामें अच्छी और बुरी बातोंका प्रचार करनेके कारण युगका भी

मुख्य प्रवर्तक राजा ही होता है। अतएव समाजमें जनताकी अनाचार और भ्रष्टाचारकी ओर जो प्रवृत्ति होती है, इसमें न तो युगका कोई दोष है, और न प्रजाका ही दोष है। किन्तु यह सारा ही दोष एकमात्र उसके शासकका है। क्योंकि प्रजाका ऐसा स्वभाव होता है कि, जिस तरहसे भी अपना शासक प्रसन्न रहे, वैसा ही आचरण वह करती है। तब फिर भय और प्रलोभन देकरके सिखायी गयी बातोंको तो वह क्यों नहीं अपनायेगी ?'

इसीलिए भगवान् व्यासने धृतराष्ट्रसे कहा है कि—

'अधर्मो धर्मतां याति स्वामी चेद् धार्मिको भवेत्।
स्वामिनो गुणदोषाभ्यां भृत्याः स्युर्नात्र संशयः॥'

(स्त्री पर्व ८–३३)

'अर्थात् राजा यदि धार्मिक होता है, तो उसके प्रभावसे अधर्मी सेवक भी धार्मिक बन जाते हैं। क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं कि—सेवक लोग अपने स्वामीके ही गुण-दोषोंको अपनाते हैं।'

अतः राजा यदि धर्मका आदर करता है तो उसको प्रजा और अधिकारी लोग भी धर्मका अवश्य आदर करते हैं। और राजा यदि धर्मका अनादर करता है, तो फिर प्रजा भी धर्मका निरादर करती है। क्योंकि यह स्वाभाविक बात है कि, 'राजा जिसका अनादर करता है, जनता भी उसका अनादर कर देती है, और राजा जिसका सम्मान करता है, उसका सम्मान सब करते हैं'—

'राज्ञाऽवज्ञातो यः सः सर्वैरपि अवज्ञायते,
पूजितं हि पूजयन्ति लोकाः॥'

(नी० वा०·· समु०)

इसीलिए आज कम्युनिष्ट-राष्ट्रोंकी जनता प्रायः धर्म और ईश्वरपर आस्था-हीन हो गयी है। इसी कारण राजशास्त्रोंमें कालका कारण मुख्यतया राजाको ही माना गया है। महाभारतमें कहा है कि—

'कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूद् राजा कालस्य कारणम्॥'

(शा० प०)

अतः राजा अर्थात् राष्ट्रका शासक यदि चाहे, यानी स्वयं सदाचरणमें तत्पर रहे, तो निश्चय ही वह कलियुगमें भी सत्ययुगको ला सकता है। क्योंकि राजाके आचरणसे कलियुग भी सत्ययुग बन सकता है और दुष्काल भी सुकाल हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि—

'राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम्॥'

(शा० प० ६९–९८)

यह बात भी निश्चित—ध्रुव है कि, राजा जबतक धर्मशील रहता है, तभी तक वह प्रजाका राजा भी है। उसके धर्म-विमुख हो जानेसे राष्ट्रमें भ्रष्टाचार फैल जानेसे सारा ही लोक नष्ट हो जाता है। उसके साथ राजाका भी विनाश निहित रहता है। ऐसी परिस्थितिमें तो राज-शास्त्रमें, यहाँ तक कह दिया गया है कि—

'राजा जब अधर्मशील हो जाय नीतिका परित्यागकर दे, किसी भी प्रकार सन्मार्गपर न चले, तो फिर जनताको चाहिए कि, उस अधर्मी शासकको—उसके किसी अतिप्रबल, धर्मपरायण शत्रुके द्वारा अत्यन्त भयभीत कराके—उसे स्वधर्माचरण करनेके लिए बाध्य कर देना चाहिए'—

'अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयेज्जनः।
धर्मशीलातिबलवद्-रिपोराश्रयतः सदा॥'

(शु० नी० १ अ० १०६)

त्रेतायुगके शूद्रतपस्वी—शम्बूककी तपश्चर्याके प्रसङ्गमें आदि कवि महर्षि वाल्मीकिने भी इस विषयमें गम्भीर विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि—

'यो ह्यधर्ममकार्यं वा विषये पार्थिवस्य तु।
करोति चाश्रीमूलं तत्पुरे वा दुर्मतिर्नरः॥
क्षिप्रं स नरकं याति स च राजा न संशयः।'

(वा० रा० उ० का० ७४–२१)

अर्थात् जिसके राष्ट्र या नगरमें जो कोई भी दुर्बुद्धि अमङ्गलमय पाप या दुष्कृत्य करता है, वह राजा और वह व्यक्ति, अर्थात् वे दोनों ही शीघ्र अधोगतिको प्राप्त होते हैं। और इसके विपरीत—जिस राष्ट्रके नागरिक सद्-विद्याओंका स्वाध्याय, तपस्या एवं सुकृत कर्म करते हैं,

उन सबके पुण्यका षष्ठांश वहाँके धर्मपूर्वक प्रजापालन करनेवाले शासकको प्राप्त होता है—

'अधीतस्य च तप्तस्य कर्मणः सुकृतस्य च।
षष्ठं भजति भागं तु प्रजा धर्मेण पालयन्॥'
(वा० रा० उ० का० ७४–३०)

अतः यह ध्रुव सत्य है कि जहाँका शासक सदाचारी हो, वहाँकी प्रजा अवश्य ही धार्मिक होती है—

'सुपुण्यो यत्र नृपतिर्धर्मिष्ठास्तत्र वै प्रजाः।'
(शु० नी०)

इसीलिए नीतिशास्त्रमें कहा गया है कि—'अपने धर्मपर दृढ़ रहनेवाला राजा जनताकी अर्थात् अपनी प्रजाकी गयी हुई जवानीको फिरसे लौटा ले आता है। अर्थात् धार्मिक राजाके राज्यमें लोगोंको जल्दीसे बुढ़ापा नहीं घेरता है'—

[1]'अर्थो नराणां पतिरङ्गनानां वर्षा नदीनाम् ऋतुराट् तरूणाम्।
स्वधर्मचारी नृपतिः प्रजानां गतं गतं यौवनमानयन्ति॥'
(सु० र० भा०)

अतएव समस्त धर्मोंका एकमात्र आधार है—राजधर्म। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'चारों वर्ण और आश्रमोंके धर्म, यतिधर्म, लौकिक और वैदिक सभी उत्कृष्ट धर्म—ये सब एकमात्र क्षात्र-धर्मपर अवलम्बित हैं। मनुष्योंके समस्त कर्म, सारे उद्योग, क्षात्र-धर्मके आश्रित हैं। यदि क्षात्र-धर्म सुस्थिर—सुव्यस्थित न हो तो जगत्के सभी जीव अपनी मनोवाञ्छित वस्तुओंको प्राप्त करनेमें निराश हो जायँ—किसीका भी उद्योग सफल न हो'—

'चातुराश्रम्यधर्माश्च यतिधर्माश्च पाण्डव।
लोकवेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः॥

१—अर्थात् (जैसे) अर्थ मनुष्योंकी गयी हुई जवानीको वापिस लौटा ले आता है। सत्पति स्त्रियोंकी जवानीको लौटा लाता है। वर्षा काल नदियोंकी जवानीको फिरसे लौटा लाता है। और ऋतुराज बसन्त वृक्षोंको जवानीको लौटा ले आता है। (वैसे ही) स्वधर्मपर आरूढ रहनेवाला राजा भी अपनी प्रजाकी गयी हुई जवानीको वापस लौटा लाता है।

सर्वाण्येतानि कर्माणि क्षात्रे भरतसत्तम।
निराशिषो जीवलोकाः क्षात्रधर्मेऽव्यवस्थिते ॥'

(शा० प० ६४-१,२)

राजधर्म और धर्म-संस्थापन

इन्हीं सब भावोंको हृदयमें रखते हुए भीष्म पितामहने, राजधर्मकी महिमाओंका निरूपण करते हुए महाभारतमें कहा है कि—

'उदयन् हि यथा सूर्यो नाशयत्यशुभं तमः।
राजधर्मस्तथाऽलोक्यां नाशयत्यशुभां गतिम् ॥'

(शा० पर्व० ५६-३०)

'अर्थात् जैसे सूर्य, उदय होते ही, जगत्के अशुभमय अन्धकारको नष्टकर देता है, वैसे ही राजधर्म भी अधर्ममय उच्छृङ्खल प्रवृत्तिसे होनेवाली मनुष्य-समाजकी ऐहलौकिक और पारलौकिक—दोनों प्रकारकी दुर्गतिको नष्ट कर देता है।'

यही सब बात युक्ति-युक्त विवेचनसे सिद्ध करते हुए महर्षि कौटल्यने भी कही है। उन्होंने कहा है कि—"चूँकि सब धर्मोंका मूल है—सदाचार। सदाचारसे (सत्कर्मोंके आचरणसे) ही धर्म उत्पन्न होता है। अतः राष्ट्रमें सदाचारका ह्रास हो जानेसे सारे ही धर्म विलुप्त हो जाते हैं। इसीलिए राजाको चारों वर्ण, आश्रम तथा वर्णाश्रमसे इतर भी, सभी जातियोंके सदाचारको सदैव सुरक्षित रखना चाहिए। लोगोंके सदाचारकी सुरक्षा करके, राजा ही, सब धर्मोंको नाश होनेसे बचाता है। इसलिए राजा ही सब धर्मोंका प्रवर्तक है। अतः जगत्में धर्मका प्रवर्तन करना ही राजधर्म है"—

'चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात्।
नश्यतां सर्वधर्माणां राज-धर्मः प्रवर्तकः ॥'

(कौटिल्य० अर्थ० ३-१-१२१)

इसी आशयको मनमें रखकर राजनीतिके वरिष्ठ महर्षि श्रीशुक्राचार्यजीने सभ्य राजाओंका, योग्यतम शासकोंका, प्रधान कर्तव्य यही बतलाया है कि—'राष्ट्रकी सुरक्षाके लिए वे सर्वप्रथम देशधर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, मुनि-प्रोक्त सनातन धर्म, प्राचीन-धर्म, नूतन-धर्म—आदि सब धर्मोंका ठीक-ठीक अध्ययन करके, उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें और फिर उनका

यथोचित पालन करें। क्योंकि धर्मके संस्थापनसे ही राष्ट्रका संरक्षण एवं धन और कीर्ति प्राप्त होते हैं'—

'देश-धर्मा जाति-धर्माः कुल-धर्माः सनातनाः।
मुनिप्रोक्ताश्च ये धर्माः प्राचीना नूतनाश्च ये॥
ते राष्ट्रगुप्त्यै सन्धार्या ज्ञात्वा यत्नेन सन्नृपैः।
धर्म-संस्थापनाद् राजा श्रियं कीर्तिं च विन्दति॥'

(शु० नो०)

धर्म और नीति

धर्म जगत्का पिता है और नीति जगत्की जननी है। इसीलिए नीति प्रत्येक मानवको, धर्मका ज्ञान कराकर, सदैव उसीकी ओर ले चलती है। इसीसे उसका नाम 'नीति' है। नीति-शब्दकी व्युत्पत्ति है—

'नयति इति नीतिः' अथवा **'नीयते पुरुषार्थफलाय इदं जगत् यया सा नीतिः।'** अर्थात् जो इस जगत्को धर्म आदि पुरुषार्थोंके सम्पादनकी ओर ले चले—उस विद्याको 'नीति' कहते हैं। इसलिए 'धर्म' और 'नीति' इन दोनोंको साथ-साथ रखना ही वास्तवमें उच्च कोटिकी राजनीति है। क्योंकि नीति साक्षात् महालक्ष्मी है और धर्म साक्षात् भगवान्का स्वरूप है—

'नीतिर्लक्ष्मीः समाख्याता धर्मो नारायणः स्मृतः।'

सारांश, जिससे अभ्युदयकी प्राप्ति हो, वही धर्म है। उस धर्मकी ओर मनुष्य-समाजको ले जानेवाली, अर्थात् प्रत्येक मनुष्यको धर्ममें प्रवृत्त करनेवाली अव्यभिचरित युक्तिका ही नाम 'नीति' है—अतएव धर्म और नीतिका परस्पर अटूट सम्बन्ध है। नीतिसे ही धर्म प्रतिष्ठित होता है। नीतिके विना शास्त्र, धर्म और सदाचार—सब विलुप्त हो जाते हैं—

'नश्येत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।' (महाभारत शा० ७०-)

अतः नीतिके आचरणके विना धर्मकी पूर्ति कभी भी नहीं हो सकती। योगियों और संन्यासियोंको भी अपने मोक्षमार्गमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिए नीति-मार्गका अवलम्बन करना पड़ता है। महाभारतमें आदिसे अन्ततक नीतिके आचरणपर जोर दिया है। इसके अतिरिक्त आचारको धर्मका एक प्रधान अङ्ग माना गया है। सदा जो यह कहा गया है कि— **'आचारः परमो धर्मः'**—आचार परम धर्म है, सो ठीक ही है। क्योंकि

मनुष्यके मनमें धर्मके प्रति चाहे कितना ही आदर क्यों न हो, परन्तु जब तक वह आचरणके द्वारा व्यक्त नहीं किया जाता, तबतक उस आदरका कुछ भी मूल्य नहीं है। विधि-निषेधात्मक सब आचरणोंका नीतिमें समावेश हो जाता है।

नीतिसे ही सामाजिक सुव्यवस्था और शान्ति स्थापित होनेपर धर्मके अनुष्ठानमें सुविधा होती है। धर्म-भावना फैलनेसे ही नीति भी कार्यान्वित एवं सफल होती है। धर्म-भावनाके फैलनेसे राजा और प्रजा—दोनों परोक्षमें भी, अन्याय और अत्याचारसे बचनेका प्रयत्न करते हैं। वास्तवमें, धर्म नीतिका अधिपति है। अतः धर्मसे पृथक् रहनेवाली नीति विधवा (अनाथ) है। धर्मरूप पतिके बिना वह विधवा नीति किसी भी राष्ट्रमें, जनताका अभ्युदय एवं सुख-शान्तिकी समुचित व्यवस्था कथमपि नहीं कर सकती।

इस विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि—राजनीति धर्मकी अनुगामिनी है। धर्मकी ही सेवा और सुव्यवस्थाके लिए वह सदा धर्मके पीछे-पीछे[1] चलती है। अतएव धर्म और राजनीति—इन दोनोंको साथ-साथ रखनेसे ही प्रत्येक देश या राष्ट्रका कल्याण होता है। धर्म, सत्य और मर्यादा—ये तीनों ही लोक-स्थितिके मूल हैं। इनमेंसे 'सत्य' और 'मर्यादा' भी धर्मके ही रूपान्तर हैं। परस्परकी मर्यादासे परस्परकी धृति है। अस्तु।

इसीलिए महाभारतमें नीति-विवेचनके प्रसङ्गमें यह बतलाया गया है—'भगवान् विष्णुके ललाटसे, एक दिव्य सुवर्णमय कमल प्रकट हुआ; जिससे कि धर्मकी पत्नी—'श्री' देवीका प्रादुर्भाव हुआ। तब फिर धर्मके द्वारा 'श्री' देवीसे 'अर्थ'की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर धर्म, अर्थ और श्री—ये तीनों ही, [2]राज्यमें प्रतिष्ठित हुए'—

१—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति प्रतिभा, नीति, श्रद्धा, बुद्धि आदि—ये सब धर्मकी पत्नी हैं। अतः ये सभी, धर्मके उपार्जनके द्वार हैं—

'कीर्तिर्लक्ष्मी धृतिर्मेधा पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा।
बुद्धिर्लज्जा मतिश्चैव पत्न्यो धर्मस्य ता दश॥
द्वाराण्येतानि धर्मस्य विहितानि स्वयंभुवा॥' (आप० धर्म पर्व ६६–१५)

धृति—धैर्य धर्मका मुख्य आधार है। क्योंकि वह मनुष्यके आत्म-संयम अथवा प्रकृति-निग्रहकी सूचक है।

२—अर्थात् शासकके सुशासनमें।

'विष्णोर्ललाटात् कमलं सौवर्णमभवत् तदा।
श्रीः संभूता ततो देवी पत्नी धर्मस्य भारत ॥
श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव।
अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता ॥'

(शा० प० ५९ अ० १३१-१३२)

अतः सुयोग्य शासकके सुराज्यमें धर्म, अर्थ और श्री—ये तीनों ही एकत्र प्रतिष्ठित रहते हैं।

धर्मकी भावनासे महान् लाभ

धर्म, ईश्वर और परलोकको लक्ष्य करके मनुष्य, बिना किसी दबावके महान्से महान् कष्टको सहन करके, अधिकसे-अधिक श्रम करनेको, परोपकार करनेको, स्वयं प्रस्तुत रहता है। धर्म, ईश्वर और परलोकपर विश्वास न होनेसे ही लोग परिश्रम कम करते हैं और बैठे-बैठे ही दूसरोंका धन हड़पनेकी युक्ति सोचते हैं। उपकार और श्रम नहीं करते। अतः इस दोषका निवारण करनेके लिए राज्यके शासकों और नेताओंको स्वयं धर्माचरण करते हुए, समाजमें आस्तिकताकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। बड़े-बड़े अधिकारी लोग अन्याय और अनाचारका परित्याग करके, यदि स्वयं प्रतिदिन धर्माचरणमें लग जायँ—सदाचार-परायण हो जायँ, तो फिर उन्हें देखकर जनता भी धर्म, ईश्वर और परलोकपर विश्वास करके अधिकसे अधिक कष्ट सहकर भी अधिक श्रम और परोपकार करनेमें प्रवृत होगी। इससे धर्मकी रक्षा भी होगी। क्योंकि धर्मकी सुरक्षा तीन प्रकारसे होती है—

(१) स्वयं धर्माचरण करनेसे (२) लोगोंको धार्मिक शिक्षा देनेसे और (३) धर्म-विरोधियोंका शासन करनेसे। ये तीनों बातें श्रीमद्भागवतमें, आदर्श नरेश राजर्षि पृथुके चरित्रमें क्रमशः उनके तीन विशेषणोंद्वारा बतलायी गयी हैं—

'एष धर्मभृतां श्रेष्ठो लोकं धर्मेऽनुवर्तयन्।
गोप्ता च धर्मसेतूनां शास्ता तत्परिपन्थिनाम् ॥'

(४-१६-४)

इसीलिए प्रायः धर्मोपदेश करनेवाले ऋषि, महर्षि तथा शासक लोग अन्य लोगोंको धर्माचरणमें लगानेके लिए स्वयं भी धर्मका आचरण करते

हैं, उसका अनुमोदन करते हैं और उस धर्माचरणकी प्रशंसा भी करते हैं—

'धर्मं ग्राहयितुं प्रायः प्रवक्तारश्च देहिनाम् ।
आचरन्त्यनुमोदन्ते क्रियमाणं स्तुवन्ति च ॥'

(भाग० १२।१०, २९)

इस तरह राजनीतिक दृष्टिसे भी राष्ट्रके संरक्षणमें सर्वाधिक प्रभाव धर्मका ही है ।

राजनीतिमें पुण्य-पापकी चर्चासे लाभ

कुछ लोग कहते हैं, कि—"राजनीतिमें धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप एवं आत्मा और परमात्माकी चर्चा व्यर्थ और हानि-कारक होती है । इससे लोग डरपोक, निरुद्योग और बुजदिल हो जाते हैं । आपसमें फूट पैदा होती है । देश और राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो जाते हैं"—इत्यादि । यह धारणा अत्यन्त भ्रान्त लोगोंकी है । ऐसी धारणा नितान्त भ्रामक एवं महान् अनर्थ-कारिणी है । क्योंकि राजनीतिमें तो धर्माधर्म, पुण्य-पाप, लोक-परलोक और जीव-ईश्वरकी चर्चासे बहुत ही बड़ा लाभ होता है । इन भावनाओंसे राष्ट्रमें सर्वत्र शान्ति एवं मर्यादा बनी रहती है । पापके भयसे लोग अधर्ममें, अन्यायमें, प्रवृत्त नहीं होते । समूचा देश और राष्ट्र—परस्पर एक-संस्कृतिके सूत्रमें बँधा रहता है । सारी जनता अविचल एवं शान्त-भावसे, प्रेम-पूर्वक रहती है । धर्माचरणसे जनताका जीवन, आचार और व्यवहार सब पवित्र हो जाते हैं । समाजका रहन-सहन सीधा-सादा होता है । केवल इतना ही नहीं—अपितु जो काम अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद, बम और पुलिस-पलटनसे भी नहीं सिद्ध हो सकता, वही काम धर्मकी भावनासे सहजमें ही सम्पन्न हो जाता है । समाजमें राजदण्डका भय, किसी प्रकार, शासक लोगोंकी आँख बचाकर, न भी हो, किन्तु धर्मपर विश्वास होनेसे, लोग अवसर प्राप्त होनेपर भी परलोक एवं नरकके भयसे असत्कर्मोंमें नहीं प्रवृत्त होते—धर्ममें समाजको नियमन करनेकी अपार शक्ति है ।

इस तथ्यको अपनी भारत-यात्रा-प्रसङ्गके वर्णनमें, विदेशी यात्री—हुएनत्सांगने भी हमारे प्राचीन भारतमें अपनी आँखोंसे प्रत्यक्ष देखकर परिपुष्ट किया है । उस समयकी, यहाँकी राज्य-व्यवस्थापर अतीव मुग्ध

होकर उसने लिखा है कि—"धर्माचरणसे ¹यहाँकी जनताका सारा जीवन आचार-पूत है। यहाँके लोग, कभी भी, किसीकी वस्तुको अनुचित रीतिसे नहीं लेते और दूसरोंके प्रति ये लोग अपने व्यवहारमें आशातीत सज्जनता दिखाते हैं। अगले जन्ममें, इस जन्मके किये पापोंके परिणामसे डरते हैं, इसलिए ये कभी भी किसीको धोखा नहीं देते और दिए हुए वचनोंको पूरा करते हैं—इत्यादि इत्यादि।"

इसके विपरीत, अर्थात् वर्तमान समयमें, धर्म निरपेक्ष व्यक्तियोंपर, भले ही वे महान्‌से भी महान् क्यों न हों, जनताका विश्वास ही नहीं जम सकता। क्योंकि इस तरहके व्यक्ति लोक-परलोक, न्याय-अन्याय कीर्ति-अपकीर्तिकी कुछ भी परवाह नहीं करते। अतः ऐसे व्यक्तियोंके साथ लेन-देन आदि व्यवहार करनेमें भी लोग बहुत हिचकते हैं। क्योंकि धर्म और ईश्वरपर विश्वास न रखनेवाला व्यक्ति लोगोंके साथ विश्वासघात भी कर सकता है। उसमें कृतज्ञता ही नहीं रहती। इसीलिए राजनीतिके विशिष्ट मर्मज्ञ सोमदेव सूरीने अपने नीतिवाक्यामृतके, व्यवहार-समुद्देशमें, इस विषयपर बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। उन्होंने कहा है कि—

'जो व्यक्ति देवता, ईश्वर, गुरु और धर्मसे विमुख रहता है, उसपर जनताको कथमपि विश्वास नहीं हो सकता'—

'देव-गुरु-धर्मरहिते पुंसि नास्ति प्रत्ययः।'

(नी० वा० व्यव० समु० ६५ वाक्य)

महाभारतमें कहा है कि—'मनुष्योंसे इतर, एवं पशु, पक्षी आदि प्राणी भी धर्मपर दृष्टि रखते हैं। राक्षस तो पशु-पक्षियोंकी अपेक्षया और भी विशेषरूपसे धर्मका विचार करते हैं—

'येऽन्ये क्वचिन्मनुष्येषु तिर्यग्योनिगताश्च ये।
धर्मं ते समवेक्षन्ते रक्षांसि च विशेषतः॥'

(वनपर्व—१५७–१३)

अतः धर्म-भीरुता मनुष्यके लिए आवश्यक उपादान है। धर्मभीरुता, परलोक-भय तथा परमेश्वरका भय न रहनेसे ही आजका मानव मानव नहीं रह गया है।

यह बात बड़े दुःखकी है। क्योंकि बिना नैतिक नियमोंके किसी देशका समाज नहीं चल सकता। नैतिकताका आधार समाजमें प्रचलित

१—भारतवर्षकी।

शास्त्रीय परम्पराएँ और रीतियां होती हैं। मानव-स्वभाव सभी जगह एक-सा ही है। अतएव मानवके जीवन और प्रगतिके नियमोंमें समानता होती है। ये नियम सर्वत्र एकसे नहीं होते—भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न तरहके नियमोंमें सबको नियन्त्रित करके धर्म मनुष्यके आदर्शका निर्माण करता है। इसके विरुद्ध काम करनेसे मनुष्यको सामाजिक दण्डका भय होता है। अथवा आत्मग्लानि होती है। धर्म इस तरह मनुष्यको भले-बुरे आदि मनोभावोंके ऊपर ले जाता है। धर्मके आचरणसे मनुष्यको सुखके समस्त साधनोंकी उपलब्धि तो होती ही है, साथ ही साथ परम-कल्याणरूप—मोक्षकी भी प्राप्ति होती है। समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीन तरहके दुःख प्राणियोंको सदा कष्ट देते रहते हैं। इनसे उद्धार पानेके लिए जीव, पाशबद्ध मृगकी तरह, सदैव छटपटाता रहता है। और दुःखसे मुक्त होनेके लिए, धर्मके सिवाय, अन्य कोई उपाय ही नहीं है। अतः धर्मका परिपालन, स्वधर्मका आचरण, ही मनुष्योंको उस सन्मार्गपर ले चलता है, कि जिसपर चलनेसे उसका लोक और परलोक—दोनों बन जाते हैं, अस्तु।

धर्म किसी सम्प्रदाय या मतका द्योतक नहीं है। प्रत्युत वह मनुष्य-जीवनका शुद्ध संस्कृत अर्थात् परिष्कृत आचरण है; जो कि प्रत्येक व्यक्तिके अन्तःकरणको, मनके सम्पूर्ण भावोंको परिष्कृत (विशुद्ध) एवं विकसित करके मनुष्यको उसके जीवनके उच्च लक्ष्यपर पहुँचा देता है। अतः राजनीतिमें भी धर्मकी चर्चासे महान् लाभ होता है। इसी कारण संस्कृत-वाङ्मयमें राजनीतिको धर्मशास्त्रके अन्तर्गत रखा गया है।

धर्म-शास्त्र

धर्मशास्त्र सभीके लिए आचार-संहिता है। उसीके अन्दर राजनीति एवं अन्य व्यवहार-नीतियाँ आती हैं। प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें देश, काल, शक्ति तथा अधिकारके अनुसार किस-किस तरहसे धर्मका उपार्जन कर सकता है ?—ये सब बातें मानव-समाजको एकमात्र धर्मशास्त्रसे ही ज्ञात हो सकती हैं।

ऋषि-महर्षियोंने समाधिस्थ होकर अपने अखण्ड ज्ञान-ज्योतिमें प्रकाशमान परम्परागत ज्ञानराशि-स्वरूप वेदोंको, जीवात्माओंके कर्तव्यके ज्ञानके लिए अभिव्यक्त किया। परन्तु वेद भी कुछ ही विवेकी पुरुषोंके

लिए उपयोगी सिद्ध हुए—न कि सर्वसाधारणके लिए। अतएव करुणा-प्रवण मनु आदि महर्षियोंने फिर उस वैदिक ज्ञानको सर्वसाधारणोपयोगी बनानेके लिए धर्मशास्त्रकी रचना की। धर्मशास्त्रमें धर्म-शासक महर्षियों-द्वारा प्रायः उसी वैदिक ज्ञानकी स्मृति होनेके कारण इसे 'स्मृति' शब्दसे कहा जाता है—

'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।'

प्रत्येक मनुष्य अपनी साधारण परिस्थितिसे उन्नतिकी ओर किस प्रकार अग्रेसर हो सकता है? अपराध, अधःपतन और आपत्तियोंसे बचकर उन्नतिके शिखरपर कैसे आरूढ हो सकता है? तथा मानव-जीवनके सर्वोच्च लक्ष्यको सिद्ध करके कैसे कृत-कृत्य हो सकता है?—इन सब विषयोंकी सच्ची-सच्ची शिक्षा प्रत्येक नर-नारीको एकमात्र धर्म-शास्त्रसे ही प्राप्त हो सकती है। अर्थात्—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

के अनुसार समाजमें, ब्राह्मणसे लेकर अन्त्यजपर्यन्त, संन्यासीवर्गसे लेकर ब्रह्मचारीपर्यन्त, कुलपतिसे लेकर छात्र-पर्यन्त, राष्ट्रपतिसे लेकर साधारण भृत्य-पर्यन्त, इत्यादि भिन्न-भिन्न-वर्गोमें विभक्त हुई जगत्की सम्पूर्ण मानवजातिको, उसके अपने-अपने उचित कर्तव्योंकी आमूलचूल—सर्वाङ्गीण शिक्षा एकमात्र धर्मशास्त्रसे ही प्राप्त हो सकती है। इसीसे इस शास्त्रका वाङ्मय अत्यन्त बृहत् है। अतः मानवजातिके उत्थानके लिए प्रत्येक राष्ट्रके शिक्षा-क्षेत्रोंमें धर्मशास्त्रके अध्ययन और अध्यापनका अत्यधिक प्रचार अभीष्ट होता है। धर्म-शास्त्रोंका पठन-पाठन होते रहनेसे ही राज्योंके समस्त अङ्गोंमें नियम, मर्यादा और शान्ति-पूर्वक कार्य-सम्पादन होते रहनेसे ही समूचा राष्ट्र उत्तरोत्तर अभ्युदय और निःश्रेयसकी ओर अग्रेसर होता है।

धर्मशास्त्रका प्रतिपाद्य विषय

धर्मशास्त्रके प्रतिपाद्य विषयोंकी ओर संकेत करते हुए अङ्गिरा-स्मृतिमें कहा है कि—

'यत् पूर्वमृषिभिः प्रोक्तं धर्मशास्त्रमनुत्तमम्।
तत् प्रमाणं तु सर्वेषां लोकधर्मानुवर्णनम्॥'

(अं० स्मृ० १–८)

'अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा वर्णसङ्कर जातिवालोंके भी आजीवन कर्तव्योंका अनुविधान ही धर्मशास्त्रका उद्देश्य है।'

श्रीमद्-भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें, जो 'दैवी-सम्पत्ति' बतलायी गयी है, वह देवताओंकी प्रकृति है। और जो '²आसुरी सम्पत्ति' बतलायी गयी है, वह असुरोंकी प्रकृति है। आसुरी-सम्पत्ति ही अति-निकृष्ट कोटिको प्राप्त होकर 'राक्षसी-प्रकृति' बन जाती है। इन दैवी और आसुरी प्रकृतियोंके मध्यमें है—'मानुषी-प्रकृति'। इसीलिए मनुष्य-समाज कभी तो दैवी-प्रकृतिके अनुरूप आचरण करता है और कभी-कभी आसुरी-प्रकृतिके अनुरूप आचरण करने लगता है। दैवी-सम्पत्तिसे मोक्ष प्राप्त होता है और आसुरी-सम्पत्तिसे बन्धन।

'दैवीसम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'

ऐसी परिस्थितिमें मनुष्य जिस प्रकार आसुरी-सम्पत्तिके अनुरूप आचरण करनेकी प्रवृत्तिको छोड़कर, मन, वचन और शरीरसे दैवी-प्रकृतिके ही अनुकूल आचरण करें—यह मार्ग बतलानेके लिए ही धर्म-शास्त्रका आविर्भाव हुआ है। अतः प्रत्येक मनुष्यको अपनी-अपनी उन्नतिका सही मार्ग जाननेके लिए धर्मशास्त्रका ज्ञान नितान्त अपेक्षित है।

हम लोग स्वार्थके प्रलोभनमें पड़कर, अथवा अन्य अनेक कारणोंसे न्यायका आचरण छोड़ देते हैं। ऐसे अवसरोंपर हमें अपने ऊपर पूर्ण अधिकार रखना चाहिए। भय अथवा लोभके वशमें न होकर हमें अपने आपको बचाना चाहिए। इसीलिए भगवद्-गीतामें कहा है कि—'यह सद्गुणोंकी सम्पत्ति प्रत्येक मानवके भागमें आयी हुई है—अतः प्रत्येक मनुष्यको इसका उपयोग करना चाहिए'—

'मा शुचः सम्पदं दैवीम् अभिजातोऽसि भारत।'

१—जिन सद्गुणोंको 'दैवी-सम्पत्ति' कहा गया है, वे सद्गुण ये हैं—"निर्भयता, चित्त-शुद्धि, ज्ञान-योगमें तत्परता, दातृत्व, बाह्य-इन्द्रियोंका संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, सरलता, अहिंसा, सत्य-भाषण, अक्रोध, त्याग, शान्ति, चुगली न करना, प्राणिमात्रपर दया, विषय-लम्पट न होना, नम्रता, लोक-लज्जा, स्थिरता, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, दूसरेसे डाह न करना, और अभिमानका अभाव।" ये सब दैवी—सम्पत्तिके गुण हैं।

२—दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, मर्मवेधक भाषण, और अज्ञान—ये सब आसुरी-सम्पत्तिके लक्षण हैं।

शिक्षा-क्षेत्रोंमें धर्मचर्चाका अभाव

परन्तु अत्यन्त खेद और परितापकी बात है, कि सम्प्रति शिक्षा-क्षेत्रोंमें धर्मकी शिक्षा, धर्मशास्त्रके अध्ययन और अध्यापनका नितान्त ही अभाव हो गया है। इसी कारण, तत्फल-स्वरूप राष्ट्रमें सर्वत्र मानव-समाज अत्यन्त ही विषयोन्मुख हो गया है। प्रत्येक राष्ट्रमें मानव-समाजमें उच्छृङ्खलता, अनुशासन-हीनता, अनाचार और भ्रष्टाचारका प्रसार बढ़ता ही चला जा रहा है। अन्यत्र तो जाने दीजिए, इस समय हमारे संस्कृत-समाजमें भी धर्म-शास्त्रके पठन-पाठनकी ओर लोगोंकी अभिरुचि बहुत कम हो गयी है। इसी कारण—इस महान् तत्त्वकी अवहेलना होनेसे ही, हम उत्तरोत्तर आरूढच्युत होते चले जा रहे हैं। हमारी पवित्र शिक्षा-संस्थाओंमें, किं बहुना, हमारे राज्यके समस्त सार्वजनिक क्षेत्रोंमें व्यापक उच्छृङ्खलता, कदाचार और तत्प्रसूत चरित्रह्रास उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जा रहा है। विनयका तो सर्वत्र अभाव ही हो गया है।

चरित्र-निर्माण

चरित्रके माहात्म्यसे ही महान् व्यक्ति महात्मा होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति एवं समाजके चरित्र-निर्माणमें धर्मशास्त्रके अध्ययनका असाधारण महत्त्व है। चरित्र-निर्माणका आरम्भ मुख्यतया शिक्षा-संस्थाओंद्वारा ही होता है। यदि शिक्षा-संस्थाओंमें यह निर्माण सर्वाङ्गीणरूपमें न हुआ तो फिर अन्यत्र वह कहाँ हो सकता है? अतएव वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें अत्यन्त अपेक्षित शिक्षा-सुधारके लिए, प्रत्येक व्यक्तिके लिए, धर्मकी शिक्षा नितान्त अपेक्षित है। एतदर्थं राष्ट्रको सर्वत्र धर्म-प्रचारके लिए धर्म-शास्त्रके पारङ्गत बहुतसे सच्चरित्र स्नातकोंकी आवश्यकता है। किन-किन साधनोंसे मनुष्यका अभ्युदय होता है और किन-किन आचरणोंसे मनुष्यकी अवनति होती है—अर्थात् कौनसे कर्म त्याज्य हैं और कौन-से कर्म आचरणीय हैं—इस विषयका व्यापक ज्ञान मानवको धर्मशास्त्रके ही अध्ययनसे हो सकता है। इसीलिए न्याय-दर्शनके भाष्यकार महर्षि वात्स्यायनने लिखा है कि—'यदि धर्मशास्त्र न हो तो लोक-व्यवहारका उच्छेद हो जाय?' यह बात ठीक है। क्योंकि जितने भी विधि-निषेध हैं—वे सब धर्मशास्त्रसे ही ज्ञात होते हैं। इसलिए जनतामें धार्मिक प्रवृत्ति लानेका श्रेय अर्मशास्त्रको ही है। अतः इस व्यापक तथ्यकी ओर हमारे राष्ट्र-मनीषियोंका ध्यान विशेष आकृष्ट होना चाहिए और धर्म-

शास्त्रको सभी परीक्षाओंके पाठ्यक्रममें, अन्य अनिवार्य विषयोंके साथ सम्मिलित कर देना चाहिए। इसका अध्ययन सभी विषयोंके विद्वानोंके लिए भी परम आवश्यक है। इसीलिए मनुने विद्वानोंके लिए भी इसके अध्ययनपर जोर दिया है—

'विदुषा ब्राह्मणेनेदम् अध्येतव्यं प्रयत्नतः।'

(म० स्मृ०)

धर्मात्माओंका प्रभाव

जगत्में धर्मात्माओंका अर्थात् धर्माचरण करनेवालोंका, सबपर प्रभाव पडता है। उनके आचरणोंसे प्रभावित होकर लोगोंकी प्रवृत्ति अन्याय और दुराचारसे हट जाती है। जनता उन्हें अपना आदर्श समझकर सन्मार्गकी ओर अग्रसर होती है। राष्ट्रमें सर्वत्र शान्ति बनी रहती है। इसीलिए राजशास्त्रमें धर्मात्माओंको राष्ट्रका संरक्षक माना गया है। महाभारतमें, राष्ट्रके संरक्षकोंकी गणनाके प्रसङ्गमें कहा है कि—

'प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च।
तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमांश्चापि रक्षति॥'

(शा० पर्व)

'अर्थात् विद्वान् पुरुष, शूर-वीर, महाधनी, राजा अर्थात् शासक, धर्मात्मा पुरुष, तपस्वी, सत्यवादी एवं विशेष प्रतिभाशाली व्यक्ति, अर्थात् देशकालकी जटिल परिस्थितिमें राज्यकी उलझी हुई समस्याओंका समाधान करनेमें जिन्हें तदनुकूल उपाय सूझ जायँ—ऐसी सूक्ष्मप्रतिभासे सम्पन्न व्यक्ति—ये आठ तरहके व्यक्ति ही राष्ट्रकी सुरक्षा कर सकते हैं, अतः ये सब राष्ट्रके संरक्षक हैं—देशके सर्वोच्च कर्णधार हैं।' अस्तु।

प्रत्येक देश और राष्ट्र धर्मात्माओंके प्रभावसे ही हराभरा रहता है। धर्मात्माओंके अभावसे राष्ट्र सूख जाता है। अतः प्रचुर-मात्रामें कर दे-देकरके राष्ट्रके कोशकी अभिवृद्धि करनेवाले सुसमृद्ध धनी नागरिकोंकी अपेक्षा राष्ट्रको अपना अक्षय तपो-बल प्रदान करनेवाले निर्धन तपस्वियोंका महत्त्व कम नहीं होता, प्रत्युत तपस्वियोंका ही राष्ट्रमें अत्यधिक महत्त्व होता है। इसी अभिप्रायसे राजा दुष्यन्तने यह बात कितनी बड़ी दूर दर्शिताके साथ कही है कि—

१—धन-धान्य आदिसे भरपूर।

'यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद्धनम्।
तपःषड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः॥'
(अभि० शाकु० २ अं०)

इस विवेचनसे सिद्ध हुआ कि, राजनीतिक दृष्टिसे भी राष्ट्रमें सबसे बड़ी आवश्यकता धर्म और धर्मात्माओंकी ही होती है। राजाके न होनेपर भी विशेष-धर्मोंसे देश सकुशल रह सकता है। किन्तु राजाके विद्यमान रहते भी, धर्मके ह्राससे देशकी अवनति हो जाती है। इसीसे महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—

'समस्त धर्मोंकी रक्षा करनेवाला नीच शासक भी उच्चताको, श्रेष्ठताको यानी उन्नतिको प्राप्त होता है। और धर्मकी उपेक्षा करनेवाला श्रेष्ठ शासक भी नीचताको, अर्थात् अवनतिको प्राप्त हो जाता है'—

'सर्वधर्मावनान्नीचनृपोऽपि श्रेष्ठतामियात्।
उत्तमोऽपि नृपो धर्मनाशनान्नीचतामियात्॥'
(शु० नी० २-३९)

इसी कारण महर्षि शुक्राचार्यने राजनीतिमें भी अत्यधिक महत्त्व धर्मका ही बतलाकर राजाके धर्म-परायण होनेके लिए बहुत जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि—'संसारमें सबसे अधिक महत्त्वकी जो-जो भी वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं, वे सबकी सब चञ्चल हैं, क्षणभंगुर हैं, सदा सुस्थिर नहीं रह सकतीं। केवल एक धर्म ही ऐसा है जो कि सदैव सुस्थिर रहता है। अतएव शासकोंको धर्मपर सदैव दृढ रहना चाहिए'—

यौवनं जीवितं वित्तं छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता।
चञ्चलानि षडेतानि ज्ञात्वा धर्मपरो भवेत्॥'
(शु० नी० २-३७)

धर्म-हीन नीति

उक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि—धर्म-हीन राजनीति अत्यन्त अशोभनीय और अमङ्गल है। इसीसे सोमदेव सूरीने स्पष्ट कह दिया है कि—"शासक ही यदि अधर्म-परायण हो जाय, अर्थात् धर्मका आचरण त्याग दे, तब तो फिर राष्ट्रमें कोई भी व्यक्ति अधर्मसे अछूता नहीं रह सकता!"—

'अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाऽधर्मपरः?'
(नी० वा०, धर्म समुद्देश)

महाभारतमें तो कहा गया है कि—'शासकके धर्म-विमुख होनेसे ही सब प्राणियोंको कष्ट प्राप्त होता है'—

'अधर्मवृत्ते नृपतौ सर्वे सीदन्ति जन्तवः ।' (शा० व० ९१-११)

इसका कारण यह है कि—'राजाकी दुष्टता अर्थात् धर्मविमुखताके कारण जब राजनीति नष्ट हो जाती है, तो उससे राजधर्म तिरस्कृत हो जाता है। राजधर्मके तिरस्कृत होनेसे फिर सभी मनुष्य अज्ञानवश अपने अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक खो बैठते हैं।'—

'विनष्टायां दण्डनीत्यां राजधर्मे निराकृते ।
सम्प्रमुह्यन्ति भूतानि राजदौरात्म्यतोऽनघ ॥'
(शा० प० ६५-२४)

इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—'जबतक राजा धर्म-परायण रहता है, तभी तक उसका राष्ट्र भी सुरक्षित रहता है। जब वह धर्मसे उदासीन हो जाता है, तो फिर राष्ट्र और उसका शासक—ये दोनों नष्ट हो जाते हैं'—

'यावत्तु धर्मशीलः स्यात् स नृपस्तावदेव हि ।
अन्यथा नश्यते लोको द्राङ् नृपोऽपि विनङ्क्षति ॥'
(शु० नी० ४, ११०)

लोक-व्यवहार राजा और अमात्यजनोंके ही दोषोंसे दूषित होता है। लोग नीति और धर्म-मर्यादाको छोड़कर छल-कपटमें प्रवृत्त हो जाते हैं। समाजमें सभी व्यवहार काम, क्रोध और लोभसे पूर्ण होने लगते हैं।—

'राजामात्यप्रलोभेन व्यवहारस्तु दुष्यति ।
लोकोऽपि च्यवते धर्मात् कूटार्थे सम्प्रवर्तते ।
अतिकामक्रोधलोभैर्व्यवहारः प्रवर्तते ॥'
(शु० नी० ४।८८५)

अतएव जिस समाजमें राजशक्तिकी ओरसे, दुष्टोंपर निग्रह नहीं होता, वह समाज ही महा तामस है। दुष्ट, कुप्रवृत्तिके लोग सदाचारियोंको, सज्जनोंको, कष्ट पहुँचाते रहते हैं। वे दुर्दान्त व्यक्ति सज्जनोंसे कभी भी डरते नहीं हैं। अतः राष्ट्रका अभ्युत्थान और उसका पतन—यह सब उसके शासकोंकी नीतिपर ही निर्भर रहता है।

इसलिए अपने-अपने राष्ट्रको विनाशसे बचाये रखनेके लिए, राष्ट्रके अभ्युत्थानके लिए, तत्तत्, राष्ट्रोंके राजा, शासक एवं शासनकार्यमें सहयोग देनेवाले—सभी अधिकारियोंको धर्म और ईश्वरपर पूर्ण निष्ठा रखते हुए, स्वयं धर्माचरण करना चाहिए, जिसे देखकर जनता भी वैसा-ही अनुकरण (धर्मके आचरण) करनेको प्रभावित हो जाय ! और देशमें व्यापक दुराचार भ्रष्टाचारका उन्मूलन हो जाय ! इसीलिए राजनीतिके विवेचनमें महर्षि शुक्राचार्यजीने स्पष्ट शब्दोमें कहा है कि—'राजा यदि अपनी प्रजाको धर्माचरणमें नहीं प्रवृत्त करता, तो वह तेजो-विहीन हो जाता है—जनतापर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता—उसमें राज्य चलानेकी क्षमता[1] ही नहीं रह जाती। अतएव नीतिपरायण शासकका प्रथम कर्तव्य यही है कि—वह स्वयं धर्ममें परायण होकर अपनी जनताको, दण्डके द्वारा दुराचार और भ्रष्टाचारसे भयभीत करके उसे धर्मकी ओर, न्यायकी ओर प्रवृत्त करे'—

'सुदण्डैर्धर्मनिरताः प्रजाः कुर्यान्महाभयैः।
नृपः स्वधर्मनिरतो भूत्वा तेजःक्षयोऽन्यथा॥'

(शुक्रनीति १ अ० २५)

इसलिए महाभारतमें कहा है कि—

'ये भूतान्यनुगृह्णन्ति वर्धयन्ति च ये प्रजाः।
ते ते राष्ट्रेषु वर्तन्तां मा भूतानामभावकाः॥'

(शा० प० ८८।२५)

अर्थात् जो सब प्राणियोंपर दया करते हैं, और प्रजाकी उन्नतिमें सहयोग देते हैं, उन्हींको अपने राष्ट्रमें बसाना चाहिए, इसके विरुद्ध जो लोग प्राणियोंका विनाश करनेवाले क्रूर और निर्दयी हों, उन्हें अपने राष्ट्रमें भूलकर भी नहीं बसाना चाहिए। अस्तु।

क्षात्रधर्म

यह राजधर्म अर्थात् राष्ट्रकी सुरक्षाका काम प्रधानतया क्षत्रियवर्णका मुख्य कर्तव्य है। अतः यह क्षात्रधर्म कहलाता है। तुलनात्मक दृष्टिसे यद्यपि सभी वर्णोंके धर्म एक-से-एक बढ़कर और विलक्षण हैं, अतः उनमेंसे

१—इसी कारण आज विश्वमें प्रायः सर्वत्र नृपतन्त्रका ह्रास तथा जनतन्त्र-शासनकी प्रथा चल पड़ी है।

किसीको भी छोटा-बड़ा नहीं कहा जा सकता, तथापि राजधर्म एवं सेवा-धर्म, अर्थात् क्षात्रधर्म और शूद्रधर्म—ये दो धर्म सभी धर्मोंके आधार-स्तम्भ हैं, सब धर्मोंका अस्तित्व इन्हीं दोनोंपर निर्भर है। क्योंकि, इस त्रिगुणात्मक संसारमें सर्वत्र चिरशान्ति एवं उद्योगकी सुव्यवस्था (अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिके लिए आवश्यकतानुसार अर्थागमकी उचित व्यवस्था) होनेसे ही प्राणियोंका योगक्षेम ठीक तरहसे चल सकता है। अतः सभी राष्ट्रोंमें शान्ति एवं उद्योगकी यथोचित व्यवस्था बनाये रखनेके लिए—'सुरक्षा तथा सेवा' इन दोनोंकी नितान्त आवश्यकता होती है। इनमेंसे सुरक्षा क्षात्रधर्म और सेवा शूद्रधर्म है। क्षात्रधर्म वर्णव्यवस्थाका प्राण है और सेवाधर्म उसका अतिनिकट सहयोगी है। इन दोनोंमें भी प्रधान क्षात्रधर्म है। क्योंकि उसके यथोचित अनुष्ठानसे ही विश्व और राष्ट्रमें सर्वत्र शान्ति और उद्योगकी व्यवस्था सुस्थिर रह सकती है। इनकी सुव्यवस्थासे ही राष्ट्रका योगक्षेम निर्भर रह सकता है। इसीसे महर्षि श्रीकौटल्यने अर्थशास्त्रमें कहा है कि—

'शमव्यायामौ योगक्षेमयोर्योनिः।'

(६ अधि० २ अ०)

अतएव राष्ट्रकी सभी व्यवस्थाओंका सारा भार एवं उत्तरदायित्व केवल एक क्षात्रधर्मपर अवलम्बित है। क्षात्रधर्मके यथोचित अनुष्ठानसे ही जगत्का कल्याण हो सकता है। इसीसे भगवान् कृष्णने अपनी गीतामें 'अथ' से 'इति' तक मुख्यतया क्षात्रधर्मकी ही महिमाका निरूपण किया है और उसीके पालनपर जोर दे-देकर अर्जुनको उसमें प्रवृत्त किया है। इसी अभिप्रायसे महाभारतमें भी राजधर्मके निरूपणके प्रसङ्गमें राजर्षि भीष्म पितामहने कहा है, कि—जैसे विशालकाय हाथीके चरणमें सबके चरण समा जाते हैं, वैसे ही क्षात्रधर्मके अन्दर सभी धर्म समा जाते हैं—

'यथा राजन् हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्वोद्भवानि।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोध॥'

(शा० प०)

अतः क्षात्रधर्म समस्त धर्मोंका अध्यक्ष है। अस्तु।

इस अत्यन्त दयार्द्र और तेजोमय, अर्थात् सम्पूर्ण विश्वको अपने अधीन रख सकनेवाले क्षात्रधर्मका आविर्भाव, समाज तथा वर्णव्यवस्थाकी

सुरक्षाके लिए, भगवान्की बाहुशक्तिसे हुआ है। इसका अनुष्ठान करनेवाली जाति क्षत्रिय कहलाती है। समस्त दुःखोंसे प्राणियोंकी रक्षा करना ही क्षात्रधर्म है—

'बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः।
यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात्॥'

(श्रीमद्भागवत ३–६–३१)

क्षत्रियवर्णमें रजः और सत्वगुणका प्राधान्य होता है। रजोगुणका प्राधान्य होनेसे क्षत्रियमें राजशक्तिका प्राधान्य होना भी स्वाभाविक है। किन्तु धर्मके अनुकूल न चलनेपर राजशक्ति प्रजापीडन, अन्य जातियोंपर अत्याचार आदि अनेकानेक अनर्थ उत्पन्न कर सकती है। इस अनर्थसे वचनेके लिए उसे सत्वगुणके साथ मिलकर (अर्थात् ब्राह्मणोंका अनुसरण करते हुए) तदनुसार धर्मानुकूल राज्यपालन, समाजकी सुरक्षा, प्राणियोंके योगक्षेमकी सिद्धिके लिए अर्थप्राप्तिकी समुचित व्यवस्था तथा विजातीय, अधार्मिक अत्याचारोंसे राष्ट्रकी रक्षा करना ही उसका मुख्य धर्म बतलाया गया है—

'क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन पालयेन्नृपतिः प्रजाः॥'

(वि० स्मृ०)

इस प्रकार स्वकर्तव्यके अनुष्ठानमें नित्य जागरूक क्षत्रियवर्ण अपने क्षात्रधर्मके अनुष्ठानसे वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्थाका संरक्षण करता हुआ देश और समाजको पुरुषार्थ-सम्पादनकी ओर प्रवृत्त करके सबको कृतकृत्य कर देता है। लोक-संग्रहमें दक्ष, शूर, जितेन्द्रिय, पराक्रमशाली, एवं दुष्टोंका दमन कर सकनेमें सामर्थ्य रखनेवाली जाति क्षत्रिय कहलाती है—

'लोक-संग्रहणे दक्षः शूरो दान्तः पराक्रमी।
दुष्टनिग्रहशीलो यः स वै क्षत्रिय उच्यते॥'

(शु० नी० १–२५)

स्वाध्याय, यज्ञ और दान—ये तीनों धर्म ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णके लिए समान हैं। इनसे अतिरिक्त सर्वाधिक तेजस्वी होना, सत्य पथपर अटल रहना, धैर्यशील होना, सब कामोंमें दक्ष होना, युद्धसे विमुख न होना, दानशील होना और यथार्थ न्याय करना—यही संक्षेपमें क्षात्रधर्म है—

'तेजः सत्यं धृतिर्दाक्ष्यं संग्रामेष्वनिवर्तिता।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रधर्मः प्रकीर्तितः॥'
(वि० स्मृ०)

इन सबमें भी प्रधान है—रक्षा। इसीलिए भगवान् मनुने प्रजाका पालन करना, दान, यज्ञ, स्वाध्याय, विषयोंमें अनासक्ति—संक्षेपतः क्षत्रियके ये धर्म बतलाकर इन सबमें प्रधान कर्म रक्षाको ही माना है—

'वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।
वार्ताकर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु॥'
(मनु० १०-८०)

इसी प्रकार योगीश्वर याज्ञवल्क्यने भी यज्ञ, दान और स्वाध्यायकी अपेक्षा—प्रजाका पालन, ही क्षत्रियका प्रधान कर्म बतलाया है—

'इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च।
प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजानां परिपालनम्॥'
(या० स्मृ० आ०)

यही बात महर्षि अत्रिने भी कही है—

'क्षत्रियस्यापि यजनं दानमध्ययनं तपः।
शस्त्रोपजीवनं भूतरक्षणं चेति वृत्तयः॥'

इसतरह श्रुति, स्मृति, पुराण और शास्त्रोंमें 'प्राणियोंकी सुरक्षा' क्षात्रधर्म अर्थात् क्षत्रियका मुख्य कर्तव्य बतलाया गया है। सर्वत्र शान्तिका स्थापन तथा अर्थ और कामके यथोचित बटवारेकी सुव्यवस्थाका नाम ही सुरक्षा है। परन्तु इस त्रिगुणात्मक संसारमें विचित्र-विचित्र मति और स्वभावके, परस्पर संघर्षशील अनन्तानन्त जीव हैं। उनके परस्पर, अत्यन्त सङ्घर्षमय जीवनमें सर्वत्र चिरशान्ति एवं अर्थ और कामके बटवारेकी सुव्यवस्थाको कायम रखते हुए, दैविक, भौतिक और दैहिक दुःखोंसे प्राणियोंकी सुरक्षा करना, कोई साधारण काम नहीं है—यह बहुत ही बड़े पुण्यका काम है। क्योंकि यहाँ तो हर एक व्यक्ति दिन-रात एक-दूसरेको भक्षण कर लेनेकी ताकमें लगे रहते हैं।

शासन-व्यवस्था

ऐसी जटिल परिस्थितिमें राज्यमें, परस्पर एक दूसरेके अन्याय और पापाचारको रोककर, समाजमें सर्वत्र शान्ति एवं अर्थागमकी सुन्दर

व्यवस्थाको कायम रखते हुए प्राणिमात्रको कष्टसे बचाना कितना कठिन काम है ? विना किसी योग्यतम, सशक्त नियामक एवं तदनुकूल कार्योंके लिए अपेक्षित योग्यतम सहायकों तथा सुव्यवस्थित शासन-विधानके बनाये, इसकी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। एतदर्थ रक्षाधर्मप्रधान क्षत्रिय-जातिमें से किसी योग्यतम व्यक्तिको राष्ट्रका अध्यक्ष चुनकर, उसकी अध्यक्षतामें रक्षाकार्यके सम्पादनके लिए दण्ड (अर्थात् सेना-सङ्घटन) और शासन-विधान बनाया गया है। उसीका यथोचित विनियोग करना 'राजधर्म' है।

अतएव राष्ट्रपति समस्त क्षत्रिय-जातिका प्रधान प्रतिनिधि है। वह बड़े-बड़े वीर, अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित क्षत्रियोंके साथ धर्मरक्षार्थ अत्यन्त उग्र, तेजोमयरूपको धारण करते हुए कामक्रोधके अधीन भिन्न-भिन्न स्वभाववाले, परस्पर एक-दूसरेका भक्षण करनेके अभिलाषी मानवोंको दुराचरणसे हटाकर अपने-अपने सदाचारमें प्रवृत्त करके सारे जगत्का परित्राण करता है—

'जगदेतन्निरालम्बं कामक्रोधादिभिर्बलात्।
निमज्जमानं निरये राज्ञा दण्डेन वार्यते॥'

(काम० नी० सा० २-४१)

इसीलिए महाभारतमें कहा है कि 'राजाको चाहिए कि अपनी सारी प्रजाको अपने-अपने धर्ममें स्थापित करके उनकेद्वारा अपने-अपने कर्तव्योंको धर्मके अनुसार शान्तिपूर्ण ढङ्गसे करावे'—

'स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत्॥'

(शा० प०-६० १९)

चूँकि यह सारा संसार रक्षाके ही आधारपर टिका है। अतः राज्य करनेकी इच्छावाले शासकोंके लिए प्रजाओंकी भलीभाँति रक्षा करनेके समान, दूसरा कोई धर्म ही नहीं है। जैसा कि पितामह भीष्मने कहा है—

'तद् राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी॥'

(शा० प० ५७-४२)

अतएव राष्ट्रमें शान्ति और उद्योगकी व्यवस्थाको भङ्ग करनेवाले तथा जनताको प्रतारण करनेवाले, तस्कर, दुराचारी, महासाहसी,

दस्यु, एवं छिपकर षड्यन्त्र करनेवाले दुष्टोंका दमन करके, उनसे उत्पीडित प्रजाकी सुरक्षा करना ही राजधर्म है—

'चाटतस्कर-दुर्वृत्त-महासाहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत् कूटच्छद्मादिभिस्तथा ॥'

(या० स्मृ० १।३३६)

चूँकि सारी ही प्रजाके ऐहिक और पारलौकिक कल्याणका पूरा जिम्मेदार राष्ट्रपति (राजा) ही होता है। अतः इस महान् दुर्वह, लोकोत्तर कार्यभारको बहन करनेके लिए शासकको पहले अपने कर्मचारियों सहित स्वयं अपनेमें तदनुकूल गुणोंका आधान करना चाहिए। एतदर्थ देश, काल और अवस्थानुसार ससारकी परिस्थितियों और सबके आधार-भूत धर्मका पूरा-पूरा अभिज्ञ होनेके लिए शासकको आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—इन चारों विद्याओंका पूर्ण पारङ्गत होकर प्रजाको भी तदनुकूल शिक्षा-दीक्षाद्वारा विनीत कर देना चाहिए। इसीलिए कामन्दकने लिखा है—

'आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत्।
ततोऽमात्यांस्ततो भृत्यांस्ततः पुत्रांस्ततः प्रजाः ॥'

(का० नी० १–२५)

क्योंकि, अत्यन्त विनीत शासक ही प्रजामें विनयका आधान एवं धर्मका प्रसार कर सकता है। चरित्रवान् शासक ही मनुष्य-समाजमें पारस्परिक ईर्ष्या, द्रोह, वैर, अविश्वास, वैमनस्य, काम, क्रोध, लोभ आदि दोषोंका निवारण करके प्रजाको सुखी और समृद्ध बना सकता है। अयोग्य शासकोंके राज्यमें प्रजाका धन, जन सुरक्षित नहीं रह सकता, अतः प्रजाको हरसमय भय बना रहता है। इसीलिए कहा है कि—'प्रजाको बहुत सोच-समझकर पहले किसी योग्यतम व्यक्तिको अपना शासक बनाना चाहिए, तब फिर बादमें स्त्री और धनका सग्रह करना चाहिए। क्योंकि शासकके अयोग्य होनेपर न तो किसीके पास स्त्री टिक सकती है और न धन ही रह सकता है'—

'राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्या कुतो धनम् ॥'

(राजनीति)

इसीलिए राजशास्त्रमें इस बातपर बड़ा जोर दिया है कि—राष्ट्रकी सुरक्षाके लिए शासकको स्वयं योग्यतम शक्तिशाली होकर, प्रजामें शान्ति और उद्योगकी सुव्यवस्थाके लिए इतना प्रयत्नशील होना चाहिए कि कहीं भी अधर्म-अन्याय, भ्रष्टाचार या उद्दण्डता करनेका विचार तक, किसीके मनमें न उठने पावे। तभी पूर्णशान्ति हो सकती है।

श्रेष्ठ शासकका पौराणिक आदर्श

इस विषयमें महाराज कार्तवीर्यने अपने शासनमें कितना कमाल कर दिया था—इसका वर्णन महाकवि कालिदासके स्वर्णाक्षरोंमें देखिए—

'अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात्।
अन्तःशरीरेष्वपि यो जनानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता॥'

(र० म० का० ६–३९)

'अर्थात् राजा कार्तवीर्य, अनुचित कार्य करनेकी बात सोचनेके साथ ही सोचनेवालोंके सामने धनुष-बाण लेकर उपस्थित हो जाते थे। इस प्रकार वह अपनी प्रजाके मनमें भी उठनेवाली अविनयकी भावनाको तत्काल दूर कर देनेवाले, योग्यतम प्रशासक थे।' वस्तुतः उच्चतर जीवनके लिए तन और मन—दोनोंका अनुशासित होना नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि पहले इतने घृणित अपराध नहीं हुआ करते थे, जितने कि आये दिन होते रहते हैं। प्रथम सम्राट् भरतके शासन-कालमें अपराधियोंकी संख्या न के ही बराबर थी। यदि कभी कोई छोटा-मोटा अपराध कर भी ले तो केवल 'हा' शब्दको सुनकर फिर वह कभी वैसा अपराध नहीं करता था। समयके साथ-ही-साथ मानवके मानसका भी परिवर्तन हुआ। फलतः कड़े दण्डकी व्यवस्था की गयी। क्योंकि दण्ड-विधानके विना सत्पुरुषोंपर अनुग्रह और असत्पुरुषोंका निग्रह नहीं हो सकता। अतः कुशल शासक लोग सूर्यकी भाँति तेजस्वी बनकर प्रजाकी रक्षामें सक्षम हुए। उनके दण्डके भयसे आततायी लोग अपराध करनेका सहसा साहस नहीं कर पाते थे। क्योंकि उनके मनमें शासकोंके कड़े-दण्डका भय छाया रहता था। यही बात महाराज कीर्तवीर्यमें रही। दुर्जनोंके मनमें अनुचित कृत्य करनेका विचार उठते ही उनके सामने, अस्त्र-शस्त्रोंसे सज्जित राजाका (कीर्तवीर्यका) रुद्ररूप दिखलायी पड़ता था। वस्तुतः ऐसे ही सत्-शासकोंके प्रभाव और प्रतापसे भारतवासी लोग धर्मप्राण कहलाने योग्य बने रहे। अस्तु।

वास्तवमें प्रजामें विनयका आधान करके, उनका भरण-पोषण और संरक्षण करनेसे मुख्यतया राजा ही प्रजाका पिता होता है। माँ-बाप तो केवल जन्मदाता मात्र होते हैं—

'प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥'

(र० वं०-१-२४)

इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥
अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः।
असङ्घातरता दान्ताः पाल्यमाना यथाविधि॥
वश्या नेया विनेयाश्च न च सङ्घर्षशालिनः।
विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः॥
न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः॥

(शा० प० ५७ अ० ३३-३६)

शासकको अन्दरसे अत्यन्त मृदु होते हुए भी दुष्टोंका दमन करनेके लिए परिस्थिति-वश कभी-कभी अपनी वेशभूषा आचरण एवं स्वरूपको उग्र, कठोर एवं भयप्रद बना लेना पड़ता है। इसी उद्देश्यसे वह अपने राष्ट्रमें जगह-जगह पुलिस और पलटनका सङ्ग्रह करके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो समय-समयपर राष्ट्रमें पर्यटन भी करता ही रहता है। क्योंकि वैसा किये विना निरङ्कुश विषय-लोलुप लोग वर्णाश्रमको मर्यादा और लोकव्यवस्थाको नष्ट करके समाजको दूषित कर डालते हैं। इसी अभिप्रायसे श्रीमद्भागवतमें महर्षि कर्दमने महाराज स्वायम्भुव मनुको स्वधर्मके पालनमें तत्पर देखकर उनके कर्त्तव्यकी सराहना करते हुए निम्नाङ्कित शब्दोंमें राजधर्मका यह कितना सुन्दर संक्षिप्त चित्रण किया है, देखिए—

न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम्।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान्॥
स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन् मण्डलं भुवः।
विकर्षन् बृहतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव॥

तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रम-निबन्धनाः।
भगवद्-रचिता राजन् भिद्येरन् बत दस्युभिः॥
अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनश्यति॥
(३-२१-५२-५५)

इसीलिए राजनीतिके मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य श्रीसोमदेव सूरीने कहा है कि—'शासकको चाहिए कि वह सारी पृथिवीको प्रत्यक्ष गोरूप समझकर, उसकी सुरक्षाका व्रत लेकर, समाधिस्थ (सावधान) होकर सदा इस मन्त्रका जप करता रहे कि—

"चतुःपयोधिपयोधरां धर्मवत्सवतीम् उत्साहबालधिं वर्णाश्रमखुरां कामार्थश्रवणां नयप्रतापविषाणां सत्यशौचचक्षुषं न्यायमार्गाभिमुखीम्, इमां गां गोपायामि अतस्तमहं मनसापि न सहेयं योऽपराध्येदेतस्यै।" (नी० वा० व्यव० समु०)

अर्थात् राजा समाधिस्थ होकर इस मन्त्रको जपे, कि—"मैं इस गोरूपा पृथिवीकी रक्षा करता हूँ, चार समुद्र जिसके थन हैं। धर्म बछड़ा है। उत्साह पूछ है, चार वर्ण और आश्रम खुर हैं। काम और अर्थ-पुरुषार्थ कान हैं। नीति और प्रताप सींग हैं, सत्य और शौच नेत्र हैं। यह न्यायमार्गकी ओर चल रही है। अतः जो अपने मनमें भी इसे पीड़ा पहुँचानेका विचार करेगा, वह महान् अपराधी समझा जायगा। फलतः मैं उसे कथमपि बर्दाश्त नहीं करूँगा अर्थात् उसको कड़ेसे-कड़ा दण्ड दूँगा।" अस्तु।

संसारमें प्राणियोंकी सुरक्षाका कार्य सबसे कठिन और खतरेका होता है। स्वार्थवश परस्पर लड़नेवालोंके पारस्परिक आधातोंसे अथवा दुःखग्रस्तोंको तत्तत् दुःखोंसे बचानेके लिए—अर्थात् क्षात्रधर्मके परिपालनके लिए, शासकोंको अपने आन्तरिक दयामय मृदुभावको छिपाये रहते हुए, परिस्थितिके अनुरूप अनेकानेक विचित्र आकार-प्रकार धारण करने पड़ते हैं। इसीकी सिद्धिके लिए साम, दान, भेद और दण्ड आदि उपायोंकी सृष्टि हुई है। क्षात्रधर्मके अन्दर प्राणिमात्रके लिए दयाभाव भरा रहता है। अतः केवल मनुष्य-समाजकी ही सुरक्षा नहीं, प्रत्युत प्राणिमात्रका त्राण करना, उसके लिए तदनुकूल व्यवस्था बनाये रखना, तदर्थ तेजोमय प्रभाव और स्वरूप बनाये रखना—क्षात्रधर्म है। ऐसा गुण प्राप्त करनेसे

ही वह 'गोप्ता' (प्राणि-रक्षक) कहलाता है। इसीसे वह सबका त्राण भी कर सकता है। इसी कारण क्षात्रधर्म सब धर्मोंका अध्यक्ष है। राज-धर्मकी महिमापर, मुग्ध होकर महाकवि कालिदासने उसका कैसा सटीक चित्रण किया है। देखिए—

'शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद् विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने॥'

(र० वं० २–१४)

विश्वमें शान्ति-स्थापित हुए बिना प्राणियोंकी सुरक्षा नहीं हो सकती। धर्मकी अभिवृद्धि तथा अधर्मका क्षय हुए बिना शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। दुष्टोंका दमन हुए बिना अधर्मका क्षय और धर्मकी अभिवृद्धि नहीं हो सकती। अतः दुष्टोंका दमन हुए बिना प्राणियोंकी सुरक्षा कथमपि नहीं हो सकती।

इसलिए जैसे अधर्मका क्षय, धर्मका संस्थापन, दुष्टोंका दमन और सत्पुरुषोंकी सुरक्षा—ये चार मुख्य उद्देश्य भगवान्‌के अवतार लेनेके हैं। वैसे ही यही चार उद्देश्य क्षात्र-धर्ममें भी निहित हैं। इसीलिए उक्त कार्यके लिए भगवान्‌का अवतार प्रायः क्षत्रियजातिमें ही होता है। प्राणियोंके सन्त्राणके लिए शासकको दुष्टोंका दमन अगत्या करना पड़ता है। एतदर्थ उसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थके बिना ही दूसरोंसे वैर, वैमनस्य, द्वेष आदि तक मोल लेकर भी अपनी जान हथेलीमें रखकर, समय-समयपर युद्ध-तक करना पड़ता है।

सारांश, क्षात्रधर्मका पालन करनेमें, रक्षाकार्यके लिए—प्रकृतिके गुणोंकी विचित्रताके कारण स्वभावभेदसे, उच्छृङ्खल हुए मानवसमाजको मर्यादाबद्ध करनेके लिए, युद्धकी स्थिति भी कभी-कभी अनिवार्य हो जाती है। अतः राजधर्ममें, धर्मरक्षार्थ युद्ध करना भी प्रधानतया उसके कर्तव्य कोटिमें आ जाता है अर्थात् परिस्थितिवश राजाको युद्धके लिए भी बाध्य हो जाना पड़ता है। इसीसे कामन्दकने लिखा है—

'इदं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतं परस्परस्त्रोधनलोलुपं जगत्।
सनातने वर्त्मनि साधुसेविते प्रतिष्ठते दण्डवशेन केवलम्॥'

(नी० सा० २–४२)

जैसे भयङ्कर गर्तकी ओर जानेवाले अन्धेको, उसकी प्रवृत्तिको रोककर, सन्मार्गकी ओर प्रवृत्त कर देनेवाला पुण्य और यशका भागी

होता है। वैसे ही कुपन्थकी ओर, अन्यायकी ओर चलनेवाले मानव-समाजको उधरसे हटाकर सत्पथमें प्रवृत्त कर देनेवाला प्रजा-शासक निश्चय ही मोक्षका भागी होता है। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—

'यदा निवर्त्यते पापो दण्डनीत्या महात्मभिः।
तदा धर्मो न चलते सद्भूतः शाश्वतः परः॥'

(शा० प० ६५–२७)

अर्थात् जब महामनस्वी राजा लोग दण्डनीतिके द्वारा पापीको पाप करनेसे रोकते रहते हैं, तब सत्स्वरूप परमोत्कृष्ट सनातनधर्मका ह्रास नहीं होता है। इसीलिए महर्षि गौतमने राजधर्मका निरूपण करते हुए कहा है कि शासकका यह भी एक प्रधान कर्तव्य है कि—'स्वधर्मसे विचलित होनेवाले व्यक्तियोंको वह बलात् उनके स्वधर्ममें प्रवृत्त करे'—

चलतश्चैतान् स्वधर्मे स्थापयेत्।'

(गौ० ध० सू० २ प्र० २ अ० ९ सूत्र)

इसीकारण राजधर्म तथा शासकके उत्तरदायित्वको ठीक-ठीक समझनेवाला राजा दिलीप-सरीखा राजर्षि, सिंहके आक्रमणसे एक गायको मुक्त करनेमें सब प्रकारसे असफल हो जानेपर भी, क्षत्रियजातिपर लगनेवाले कलंकसे, अयश और अधर्मसे भयभीत होकर, आखीरमें—एक निर्दोष पशुको दुःखसे बचानेके लिए उसके बदलेमें अपने प्राणोंतकका उत्सर्ग करनेको सन्नद्ध होकर एक महाक्रूर वन्य-पशुके सामने विनीतभावसे उसका भक्ष्य बननेकी करबद्ध प्रार्थना करता है—

'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥'

(रघु० म० का० २, ५३)

इसी गम्भीर और दुर्बोध आशयको हृदयमें रखकर, महारानी कुन्तीने कौरवोंके साथ सन्धिकी सम्भावना न रह जानेपर, अन्तमें भगवान् कृष्णके द्वारा अपने प्रिय पुत्रोंको राजशास्त्र-निर्णीत यही उपदेश भेजा था कि—

'यदर्थं क्षत्रिया सूते तत्कालोऽयमुपागतः।'

(म० भा०, उ० प०)

अतएव शासकको अपने स्वधर्म-(अर्थात् राजधर्म-) के परिपालनके लिए अपने सुख और प्राणोंकी परवाह न करके गर्भवती स्त्रीके सदृश बन जाना पड़ता है। जैसे गर्भवती स्त्री अपने सुखकी विशेष परवाह न करके

अपने गर्भस्थ सन्तानकी पुष्टि और सुरक्षाका पूरा ध्यान रखती है, वैसे ही दयार्द्रहृदय परदुःखासहिष्णु शासक भी सकल-प्राणि-संरक्षणरूप लोकोत्कृष्ट धर्माचरणके लिए अपने व्यक्तिगत सुख और स्वार्थकी विशेष अपेक्षा न रखकर अपनी प्रजाके हितोंका ही विशेष ध्यान रखता है। बस, यही संक्षेपमें राजधर्मका मर्म है। महाभारतमें कहा है—

'भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा।
यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राजाप्यसंशयम्॥'

(शा० प० ५६।४५)

इसीलिए महर्षि कौटल्यने कहा है कि—

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥'

(१ अ० १९ प्र० ४३)

देखिए, प्रजापालनकी, राज्यकार्यकी चिन्तामें मग्न होनेसे खिन्न हुए राजर्षि दुष्यन्तके राजधर्मकी सराहना करते हुए, उसके स्तावकोंने कितने सुन्दर शब्दोंमें संक्षेपसे यह उसका सार बतला दिया है—

'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते सृष्टिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥'

(अ० शा० ५ अंक ७)

क्या यह साधारण त्याग है? क्या यह ब्राह्मणोंके सर्वोच्च त्यागसे कुछ कम है? केवल एक संन्यासधर्म ही इसकी जोड़में आ सकता है। इसीलिए महर्षि कण्वके आश्रममें, महाराज दुष्यन्तको देखकर, वहाँके ऋषिकुमारोंने, ब्राह्मणोंके धर्म-(तप-) से क्षात्रधर्म-(रक्षा-) की तुलना करते हुए, उसका यह कैसा सुन्दर विवेचन किया है। देखिए—

'अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सर्वभोग्ये
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः॥'

(अ० शा० अं० १४)

छोटी पुस्तकमें अत्यन्त विशाल राजधर्मकी महिमाके विषयमें क्या-क्या लिखा जा सकता है? शास्त्रोंमें इसके एक-एक विषयपर गम्भीरसे गम्भीर विवेचन किये गये हैं। जिनमेंसे यहाँ उसके एक आभासमात्रका ही दिग्दर्शन कराया जा रहा है। रक्षाधर्म बहुत बड़ा अभयदान है। महाभारतमें देवराज इन्द्रने राजर्षि मान्धाताको इसका रहस्य समझाते हुए बतलाया है कि—राजधर्ममें वह शक्ति है कि वह उच्छृङ्खल पापात्माओंको भी मर्यादाबद्ध करके समूचे ही जगत्को सत्पथमें प्रवृत्त कर सकता है। जो लोग काम और क्रोधके वशीभूत होकर उच्छृङ्खल हो जाते हैं, वे भी राजाके भयसे पाप नहीं कर पाते हैं, और जो सब प्रकारके धर्मोंका पालन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे राजासे सुरक्षित होकर, सदाचारका सेवन करते हुए जनताको धर्मका सदुपदेश करते हैं। जिसके प्रचारसे जगत्का अभ्युदय और कल्याण होता है—

'निर्मर्यादाः काममन्युप्रवृत्ताः भीता राज्ञो नाधिगच्छन्ति पापम्।
शिष्टाश्चान्ये सर्वधर्मोपपन्नाः साध्वाचाराः साधु धर्मं चरन्ति॥'

(शा० प० ६४–२८)

तुलनात्मक दृष्टिसे बड़े-बड़े यज्ञ, दान, तप, और त्याग आदि कोई भी धर्म इसकी बराबरी नहीं कर सकते। केवल एक उच्चकोटिके संन्यासीका योगाभ्यास ही इसकी बराबरीमें आ सकता है। इसीलिए शास्त्रोंमें कहा है कि 'इस पाञ्च-भौतिक, त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्डपिण्डके अन्तवर्ती सूर्यमण्डलका भेदन करके, प्रकृतिके साम्राज्यसे निकलकर, उसके बाहर—दुःखक्लेशसे विवर्जित परमानन्दमय ब्रह्मकी जो त्रिपाद् विभूति है, उसमें निर्भय प्रवेश करलेनेकी क्षमता केवल दो ही पुरुषोंमें होती है—एक तो उच्चकोटिके वीतराग संन्यासी, तथा दूसरे देशरक्षार्थ रणाङ्गणमें अपना प्राणोत्सर्ग कर देनेवाले वीर क्षत्रिय'—

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥'

देश और प्राणियोंके संरक्षणार्थ, युद्धमें प्राणोत्सर्ग करनेवाले ऐसे वीरोंके इस लोकोत्कृष्ट त्यागपर मुग्ध होती हुई स्वर्गलोककी सुन्दरियाँ उन्हें अपना पति बनानेके लिए मैं-मैं करती हुई आपसमें कलह करने लगती हैं।

इसीलिए पितामह भीष्मने महाराज युधिष्ठिरको राजधर्मके सारतत्वका उपदेश देते हुए कहा है कि—'राजन् क्षत्रिय जातिके वीरोंके

लिए रोगग्रस्त होकर शय्यामें प्राण छोड़ना, अच्छी मृत्यु नहीं है। वह तो उनके लिए दुर्भरण है—

'अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्।
विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥
(शा० ९० ६–२५)

इसी कारण राजशास्त्रमें, देशरक्षार्थ सेनामें प्रविष्ट होकर युद्ध-यज्ञमें निपुण देश-वीरोंका मुख्य धर्म यही बतलाया गया है कि—"देश-रक्षार्थ संग्राममें प्रविष्ट होकर यथाशक्ति लड़ते हुए वीरोंके मुखमें, उनका मस्तक फूट जानेसे, यदि उन्हींके रक्तकी धारा चली जाय, तो वह रक्तपान उन वीरोंके लिए, सोमयागमें अत्यन्त पवित्र—सोम-रसके पानके तुल्य हो जाता है।" इसीसे राजधर्ममें रण-स्थलको अश्वमेध-यज्ञ एवं उसमें अपने प्राणोंकी बलि देनेवाले वीरोंको यज्ञपशु कहा गया है—'तपस्वियोंको जो गति हजारों वर्षतक घोर तप करके, बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती है, उस गतिको रणरूपी अश्वमेधमें प्राणत्याग करनेवाले वीर मनस्वी शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं'—

'तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते, प्रयत्नतः सत्रिभिरिज्यया च या।
व्रजन्ति तामाशु गतिं मनस्विनो रणाश्वमेधे पशुतामुपागताः'
(रा० नी० प्र०, यु० प्रकरण)

वीर क्षत्रियोंके लिए तो देश-रक्षार्थ संग्राममें खूब क्षत-विक्षत और रुधिरसे आप्लावित होकर रणाङ्गणमें प्राणत्याग करना ही उत्तम 'मृत्यु है। अतः जो क्षत्रिय धर्मरक्षार्थ संग्राममें असफल होकर क्षत-विक्षत देह हुए विना घर लौटता है, वह महाक्लीब है। उसके इस कर्मकी, कोई भी ऋषि, महर्षि आदि प्राचीन विद्वान्, प्रशंसा नहीं करते—

'अविक्षतेन देहेन समराद् यो निवर्तते।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥'
(शा० ९० ६०।१६)

१—इसीलिए विष्णुस्मृतिमें भी कहा है कि—"गो-ब्राह्मण-नृपति-मित्र-धन-दार-जीवितरक्षणाद् ये हताः, ते स्वर्गभाजः।" "वर्ण-सङ्करक्षार्थं च।"
(वि० स्मृ० ३ अ०)

अतएव क्षत्रियके लिए प्रजामें, दस्यु, कण्टक आदि दुर्जनोंका दमन करनेके सिवाय, अन्य कोई भी उत्तम कृत्य है ही नहीं—

'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।' (गीता)

अतः अपने प्रधान धर्मको देखते हुए देश-रक्षार्थ प्राणियोंका परित्राण करनेके लिए परिस्थितिवशात् युद्धके अनिवार्य हो जानेपर क्षत्रियको निःशङ्क होकर युद्ध भी करना ही चाहिए। क्षत्रियके लिए युद्ध-परित्याग बड़ा भारी दोष है—

'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च त्यक्त्वा पापमवाप्स्यसि॥'
(गीता)

अतः राजाको चाहिए कि हर तरहके उपायोंसे अपनी प्रजाको अपने-अपने धर्ममें अवस्थित करके राष्ट्रमें शान्तिकी सुव्यवस्था कायम रखते हुए देश-वासियोंके योग-क्षेमोपयोगी उद्योग-धन्धोंका शान्तिपूर्ण ढङ्गसे सञ्चालन करता रहे।

विश्वमें समस्त जीव, सारा मानव-समाज, सब धर्म, सब वर्ण, सब जाति एवं सब राष्ट्र, केवल एक राजधर्मके ही आधारपर टिके हैं। भीष्म पितामहने धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरसे कहा है कि—'सम्पूर्ण धर्मोंका आधार राजधर्म हैं—सब धर्म उसीके अधीन हैं, सब धर्मोंका अस्तित्व उसीपर निर्भर है, अतः राजधर्मका फल महा विशाल है। उसकी तुलनामें इतर सभी धर्मोंके फल अत्यन्त स्वल्प हैं' :—

'अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति धर्मानन्यान् धर्मविदो मनुष्याः।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः॥
सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजन् त्यागं धर्मं प्राहुरग्र्य पुराणम्॥'
(शा० प० ६३।२६, २७)

राजधर्मके अनुष्ठानमें यद्यपि मुख्यतया क्षत्रिय-जातिका ही अधिकार है, किन्तु परिस्थितिवश जब क्षत्रिय जाति अपने इस स्वधर्मसे च्युत हो जाय, अथवा धर्मका प्रचार बन्द हो जाय, तो वैसी अवस्थामें, क्षात्रधर्मके अनुष्ठानके विना जब धर्मकी सुरक्षा नहीं हो सकती, तब धर्म-रक्षार्थ ब्राह्मणोंको भी शस्त्र धारण करके प्राणियोंको रक्षाका कार्य करना चाहिए—

'शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।' (मनु०)

इसी अभिप्रायसे शास्त्रोंमें ब्राह्मणोंके लिए—**'क्षत्रोपेता द्विजातयः'** कहा गया है।

जैसे माता अपने बच्चोंको दुःखित या दुरवस्थित दशामें देखकर स्वयं भोजन या विश्राम करती हुई भी, अपने हाथका ग्रास वैसेका वैसा ही छोड़कर अपने बच्चोंके हित और संरक्षणके लिए तुरन्त दौड़ पड़ती है, वैसे ही राजधर्मका पालन करनेवाली वीर क्षत्रिय जाति भी अपने देश, राष्ट्र, समाज और दुःखित प्राणियोंका कष्टसे त्राण करनेके लिए अपना भोग और आराम—सब ज्योंका त्यों, छोड़कर दुष्टोंका निग्रह करनेको दौड़कर, सत्पुरुणोंका सन्त्राण करती है—

'स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ।'

चूँकि राजाका प्रधान धर्म रक्षा-कार्य ही है, अतः उसका अनुष्ठान छोड़कर, अन्य धर्मका अनुष्ठान करना क्षत्रियके लिए बहुत बड़ा पाप है—

'वृजिनं च नरेन्द्राणामन्यच्चारक्षणात् परम् ।'

(शा० प० ५७।१४)

रक्षा-कार्यमें, दुष्टोंका दमन और सत्पुरुषोंका संरक्षण आदि करनेमें, यद्यपि कभी-कभी क्रूरता, हिंसा आदि अनेकानेक पापोंके उत्पन्न होनेकी भी पूरी संभावना होती है, तथापि शास्त्र-विधिके अनुसार स्वनुष्ठित होनेके कारण धर्मार्थ राज्य-कार्यमें होनेवाली हिंसा, यज्ञकी हिंसाके समान, हिंसा नहीं कहलाती। इसीलिए क्षात्र-धर्ममें रणको अश्वमेध यज्ञ माना है।

महाभारतका युद्ध समाप्त हो जानेपर जब धर्मराज युधिष्ठिर अपने बन्धु-बान्धव, गुरु, आचार्य और स्वजन आदिके वधसे नितान्त खिन्न होकर क्षात्रधर्ममें इन भयंकर दोषोंको देखके व्यासादि ऋषि-महर्षियों, भाई-बन्धुओं, माता कुन्ती तथा भगवान् कृष्णतकके बहुधा समझानेपर भी उसका मर्म न समझ पाये, अतः उनका वह व्यामोह दूर न हो सका। वह अपने क्षात्र-धर्मका परित्याग एवं संन्यास-धर्मको ग्रहण करनेको भी उद्यत हो गये; तब उन्हें स्वधर्मपर दृढ़ रहनेके लिए पितामह भीष्मने क्षात्रधर्मकी महिमाका वर्णन करते हुए उसके भी सार—रक्षाधर्मको, ब्रह्मवेत्ताओंके ब्रह्मज्ञानसे भी उत्कृष्ट बतलाया। श्रीभीष्मने कहा कि—'राजधर्म ब्रह्मवेत्ताओंके ब्रह्मज्ञानसे भी श्रेष्ठ है। दुष्टोंके अत्याचारसे

भयभीत सत्पुरुषोंको जिस क्षत्रियसे क्षणभर भी आराम मिले, वह वीर हम लोगोंमें सबसे आगे स्वर्गको जीत लेता है'—

'यस्मिन् भयार्दिताः सन्तः क्षेमं विन्दन्त्यपि क्षणम्।
स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥'

(शा० ५०)

इसीलिए देवराज इन्द्रने राजनीतिके निरूपणके प्रसङ्गमें श्रीमान्धातासे कहा हैं कि—

'आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा, लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च।
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां, क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम्॥'

(शा० ५० ६४, २७)

अर्थात् युद्धमें अपने शरीरकी आहुति देना, सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करना, लोकव्यवहारका ज्ञान प्राप्त करना, प्रजाकी रक्षा करना, विषाद-ग्रस्त एवं दुःख-पीडितोंको दुःख और कष्टसे छुड़ाना—ये सब बातें राजाओंके क्षात्रधर्ममें ही विद्यमान हैं। अतः क्षत्रियको अपने प्राणोंका मोह छोड़कर—अपना देश, राष्ट्र, स्वधर्म और संस्कृतिकी सुरक्षाके लिए क्षणभंगुर देहकी भी परवाह न करके निर्विशंक युद्ध करना चाहिए। इसीसे महर्षि पराशरने क्षत्रियके लिए कहा है कि—

'जितेन लभ्यते लक्ष्मीर्मृतेनापि वराङ्गना।
क्षणध्वंसिनि कायेऽस्मिन् का चिन्ता मरणे रणे॥'

(परा० स्मृ० ३।३९)

अतएव क्षात्रधर्म ही सब धर्मोंका मूल है। उसीके आधारपर वर्ण-व्यवस्थाकी सारी भित्तियाँ खड़ी हैं। वर्णव्यवस्थाका अनुगमन करनेवाला क्षात्रधर्म है। अतः वर्णव्यवस्था और क्षात्रधर्मका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एकके अभावमें दूसरेका अभाव है। वर्तमान समयमें वर्णव्यवस्थाके उत्तरोत्तर ह्रासका मुख्य कारण भी क्षात्रधर्मके सम्यक् अनुष्ठानका अभाव ही है। जो कि भारत और भारतीयोंका दुर्भाग्य ही है। अतएव भारतके वीरोंको अपनी संस्कृति एवं वर्णव्यवस्थाको बचाये रखनेके लिए अपने क्षात्रधर्मके सम्यक् अनुष्ठानमें सदैव सन्नद्ध रहना चाहिए। क्योंकि वर्णव्यवस्था (लोक-व्यवस्था) और क्षात्रधर्मका अटूट सम्बन्ध है। इसीसे महाभारतमें कहा है—

**'प्रत्यक्षं सुखभूयिष्ठम आत्मसाक्षिक-मच्छलम् ।
सर्वलोकहितं धर्मं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥'**

(शा० १० ६४–५)

'क्षात्रधर्म अर्थात् राज-धर्म सर्व-प्रत्यक्ष है, वह सबको प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ता है, यानी इतर धर्मोंके समान वह अदृश्य नहीं रहता। सम्पूर्ण सुखोंसे वह ओत-प्रोत रहता है—अतः वह प्राणिमात्रको सुख देता है, सबका दुःख दूर करता है, सबकी भलाई करता है। उसका अनुभव लोग स्वयमेव करते हैं, और उसमें कहीं जरा भी छल-कपट नहीं रहता। अतः राजधर्म प्राणिमात्रके लिए अत्यन्त हितकारी है।' अस्तु।

राजधर्मके अनुष्ठानसे उत्तम आदर्श शासकोंके प्रभावसे ही समूचे राष्ट्रमें श्रद्धा, सुकाल, सुराज्य और सुख-सम्पत्तिके निश्चयसे घर-घरमें आनन्दका प्रसार होता है। समाजमें सर्वत्र गीत, वाद्य, नृत्य, तोरण-पताका, फूलमाला, उत्तमोत्तम वस्त्र-आभूषण, घरोंकी रंगाई पोताई एवं तरह-तरहके महोत्सव दिखलायी पड़ते हैं।

प्राचीनकालमें भारतवर्षका राज-धर्म ऐसा ही था। उस समय जनता अत्यन्त सुखी और समृद्ध थी। उसका एकमात्र कारण क्षत्रियोंद्वारा प्रतिष्ठित यह राजधर्म ही रहा है।

सेवाधर्म

धर्म और जीविकाके उपार्जनके विषयमें चारों वर्ण एवं आश्रमोंके लिए परस्पर विसदृश—भिन्न-भिन्न नियम बने हैं। ब्रह्मदेवने जगत्की रक्षाके लिए चारो वर्ण और आश्रमोंके लिए भिन्न नियमोंका निर्देश किया है, जिनमेंसे ब्राह्मण और शूद्रके लिए जीविकोपार्जनके नियम बड़े ही कड़े हैं। बहुत परिग्रह रखनेवाले व्यक्तिसे तपस्या और सेवा ठीक-ठीक नहीं हो सकती। अतः ब्राह्मण और शूद्र—ये दोनों त्याग-वृत्तिसे रहकर ही स्वधर्मका यथोचित उपार्जन कर सकते हैं।

शूद्रके लिए धर्मोपार्जनका मुख्य साधन सेवा है। बहुत विद्वान्से सेवाकार्य नहीं हो सकता। अतः शूद्रके लिए सेवाकर्मोपयोगी विद्यासे अधिक विद्योपार्जनकी आवश्यकता और उपयोगिता नहीं समझी गयी है। यही बात स्त्री-समाजके लिए भी है। अस्तु।

दयालुता, सत्यभाषण, परायी वस्तुको ग्रहण करनेकी अनिच्छा, अपनेसे अन्यवर्णकी स्त्रीसे विवाह न करना, निषिद्ध स्त्रीसे असंसर्ग—ये धर्म सभी वर्णोंके लिए समान हैं। ये सामान्य-धर्म हैं।

साधारण धर्मोंके अनुष्ठानमें चारो वर्ण एवं इतर सभी जातियोंका समान अधिकार है। क्योंकि सामान्य-धर्म सूर्यके प्रकाशके समान सभीके लिए हैं, वे सबके लिए समानरूपसे विहित हैं। अतः उनके आचरणमें किसीके लिए भी विधि-निषेध और अधिकारकी चर्चा नहीं है। ये [1]धर्म मनुष्यमात्रके लिए विहित हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त वर्ण, जाति, कुल—आदि विशेषताओंसे प्रयुक्त जो विशेष-धर्म हैं, उनके आचरणमें विशेष नियम हैं। विशेष-धर्मोंके अनुष्ठानमें तत्-तत् वर्ण एवं तत्-तत् जातियोंका ही अधिकार है। अतः विशेष-धर्मोंमें जिनके लिए जो विहित हैं, वे उन्हें करने चाहिए।

ईश्वरने जिस देश और जिस कालमें, जिस वर्ण और जिस जातिमें, जिस स्थान और जिस समाजमें—जिस व्यक्तिको उत्पन्न किया है, तदनुसार उस व्यक्तिके लिए वहाँके कुछ विशेष कर्त्तव्य होते हैं, वे ही उसके विशेष-धर्म कहलाते हैं। ब्राह्मणके रूपमें उत्पन्न होनेके कारण उसके करने-योग्य कुछ विशेष-कर्तव्य होते हैं। शूद्रके रूपमें उत्पन्न होनेसे उसके लिए भी कुछ कर्तव्य काम हैं, वे ही उसके विशेष-धर्म कहलाते हैं। इस प्रकार सामान्य-धर्मोंके अतिरिक्त हर-एक व्यक्तिके लिए जो विशेष कर्तव्य बतलाये गये हैं—उनके लिए उन्हें कुछ सुविधाएँ दी गयी हैं। सब कार्य सभीके लिए साधारण हों, तो इससे व्यवहारमें कष्ट ही होगा।

इस प्रकार धर्म सामान्य और विशेषरूपसे दो भागोंमें विभक्त हैं—एक 'सामान्यधर्म' दूसरे 'विशेष-धर्म'। इनमें भी विशेष-धर्मोंका आधारपीठ है—साधारण धर्म। क्योंकि साधारण धर्मोंका पालन किये बिना केवल विशेष-धर्मोंके अनुष्ठानसे कोई फल नहीं प्राप्त हो सकता। क्योंकि विशेष-धर्म साधारण-धर्मोंके ही आधारपर आधारित रहते हैं। साधारण-धर्म विशेष-धर्मोंकी जड़ हैं। अतः सामान्य-धर्मोंका अच्छीतरह पालन हुए बिना विशेष-धर्म कथमपि फलीभूत नहीं हो सकते। अस्तु।

१—अर्थात् धर्मको उत्पत्तिके साधन, यानी सदाचार।

वेदाध्ययन न होनेके कारण स्त्री और शूद्रके लिए अधिक वैदिक कर्म-कलापोंका विधान नहीं है। केवल अमन्त्रक, या नाम-मन्त्रोंसे बलि, वैश्वदेव, होम, श्राद्ध आदिका संक्षिप्त विधान है—

'शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद् धर्ममर्हति।
वेदमन्त्र-स्वधा-स्वाहा-वषट्कारादिभिर्विना ॥'

महर्षि जैमिनिने पूर्व-मीमांसामें धर्मशास्त्रमें वर्णित शूद्रके कर्तव्यकी ओर संकेत किया है—

'शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात्।'
(पू० मी० ६–७–६)

अतः धर्मोपार्जनके विषयमें द्विजातियोंकी अपेक्षया चतुर्थ-वर्ण शूद्रके लिए विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं।

धन-सङ्ग्रहके विषयमें ब्राह्मण और शूद्र—दोनोंवर्ण समान कोटिमें आ जाते हैं। शास्त्रीय दृष्टिसे ब्राह्मण और शूद्रोंमें वे ही उत्तम गिने जाते हैं, जो कि अधिक संग्रह-परित्यागी हों। यह बात दूसरी है कि ब्राह्मण अपने सत्वगुण और ज्ञानकी उत्कृष्टताके कारण स्वभावतः त्यागकी ओर स्वयं प्रवण रहता है, अतः शास्त्र उसे धन-सङ्ग्रहके लिए मृदुता-पूर्वक निषेध करता है। शूद्रवर्णमें तमोगुण एवं अज्ञान-बाहुल्यके कारण कामोपभोगकी तृष्णा अधिक होनेसे वह त्यागकी ओर स्वभावतः प्रवृत्त न होकर, विषयोपभोगकी ओर अधिक प्रवण रहता है, जिससे कि उसकी आत्माके उद्धारका मार्ग अवरुद्ध होकर उत्तरोत्तर पतनकी ही सम्भावना रहती है। क्योंकि तामसी प्रकृतिवालोंका लक्ष्य काम-क्रोध-प्रधान होनेसे उनके चित्तका झुकाव दिन-रात विषय एवं दुर्व्यसनोंकी ही ओर रहता है। इसीलिए वे लोग विषय और दुर्वासनाओंके प्रेमी बनकर अपने बड़ोंका अपमान करते हुए स्वकर्तव्यसे च्युत होकर समाजका अहित करके अकल्याणके भागी हो जाते हैं।

चूँकि चतुर्थवर्ण तामसी प्रकृतिका होनेके कारण विद्या, विवेक तथा ज्ञानकी अल्पतासे अदीर्घदर्शी होता है। इसीसे प्रायः उसकी प्रवृत्ति दुर्व्यसनोंकी ओर स्वभावतः प्रवण रहती है, ऐसी अवस्थामें उसपर यदि बड़ोंका पूर्णनियन्त्रण न हो, तो वह अपने तामस स्वभावपर उतारू होकर मर्यादाओंके उल्लङ्घन एवं खान-पान आदि व्यवहारोंमें यथेच्छा-

चारके मार्गको प्रशस्त करता हुआ राष्ट्रविध्वंसी दुर्व्यसनों एवं दुराचारोंका प्रचार करके राज्यमें शान्ति और उद्योग मूलक 'वर्णव्यवस्था'को उच्छिन्न कर सकता है। जिससे कि राज्यमें सर्वत्र पाप, दुराचार, अत्याचार, चोरी, डकैतीका मार्ग प्रशस्त होकर राष्ट्रकी चिरशान्ति भङ्ग होनेका भय है। यही अति भयङ्कर दोष स्त्री-समाजके भी स्वतन्त्र होनेसे उत्पन्न होते हैं।

इसीलिए स्त्री और शूद्र, दोनोंके स्वतन्त्र रहनेसे उनकी तथा समाजकी कल्याणहानि समझकर नगण्य शरीर-सुखकी अपेक्षया आत्माकी उन्नतिको लक्ष्यमें रखकर ही, स्त्री और शूद्र दोनोंको, स्वतन्त्र न रह कर, पराधीन रहनेकी आज्ञा शास्त्रोंने दी है। इसीलिए जैसे स्त्रीकी पापमय प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होनेके लिए उसके चञ्चल चित्तकी सर्वतोमुखी प्रवृतिको अवरुद्ध करके, उसको एक लक्ष्यपर सुस्थिर रखनेके लिए, उसके लिए एकमात्र अपने पतिके ही अधीन रहकर पातिव्रत्य धर्मका पालन ही उसके कल्याणका सरल और अचूक साधन बतलाया गया है, उसके सिवाय अन्य कोई वैसा साधन उसके अभ्युदय और निःश्रेयसका नहीं बतलाया गया है। ठीक इसीप्रकार शूद्रके लिए भी उसकी तमोगुणी प्रकृतिके महाबन्धनोंसे मुक्त होकर उसके आत्म-कल्याण सम्पादनका उसकी प्रकृतिके अनुरूप सेवाके सिवाय अन्य कोई सरल निरुपद्रव साधन न देखकर शास्त्रोंने उसको त्रैवर्णिकोंके ही अधीन और उन्हींकी सेवामें परायण रहनेका उपदेश देकर एकमात्र सेवा-धर्मको ही उसके अभ्युदय और निःश्रेयसका साधन बतलाया है—

'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥'

(मनु स्मृ० १।९१)

पूर्वकर्मानुसार स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चारों वर्णोंके कर्म निर्देश किये गये हैं। चारों वर्णोंको अपने-अपने कर्तव्यसे जो जीविका प्राप्त हो जाय, वह उनके धर्मानुकूल होनेके कारण उनके लिए अमृत है, उससे भिन्न वृत्ति उनके लिए गर्हित है। शूद्रोंका स्वाभाविक कर्म सेवामूलक है। चार वर्णोंमें शूद्रकी प्रकृति काम-प्रधान होती है। आजकल नाना कारणोंसे स्वभावका विपर्यय हो जानेके कारण चार वर्णोंमें प्रकृतिके अनुकूल कर्तव्यका पालन अनेक स्थलोंमें नहीं दिखायी देता, उसमें वर्णधर्मका कोई दोष नहीं है, किन्तु धर्मीके जन्म-

विपर्यय तथा कर्म-विपर्ययका ही दोष है। वर्ण-धर्मकी व्यवस्था सम्पूर्ण-रूपसे प्राकृतिक है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

चरण सेवकके रूपमें सारे शरीरकी वस्तु-संग्रहमें सहायता करता है। मनुष्यको शरीरकी रक्षाके लिए जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, वे सब मुख, बाहु, उदर और चरण, इन चार अंगोंके द्वारा ही संगृहीत हुआ करती हैं। मस्तक सोचकर शरीर-रक्षाके उपायोंका निर्णय करता है। हाथ उनका संग्रह और उनकी बाधाओंको दूर करता है। उदर संगृहीत वस्तुओंको पकाकर मस्तकसे पादपर्यन्त सारे शरीरमें शक्ति पहुँचाता है और चरण सेवकरूपसे सारे शरीरकी वस्तु-संग्रहमें सहायता करता है। अतः सम्पूर्ण शरीरकी रक्षाके लिए इन चारों अंगोंकी आवश्यकता है। इनमेंसे एक अङ्ग दूसरे अङ्गका कार्य कदापि नहीं कर सकता। चारोंकी परस्पर अत्यन्त प्रीति और समवेत सहायताके द्वारा ही सम्पूर्ण शरीरकी सुरक्षा और स्वास्थ्यरक्षा होती है। जिस प्रकार व्यष्टि-शरीरकी सुरक्षाके ऊपर लिखित चार अङ्ग हैं, उसी प्रकार समष्टि-शरीर-रूपी समाजकी रक्षाके लिए इन सभीकी परम आवश्यकता है। इसीलिए श्रुतिमें चार वर्णोंकी उत्पत्ति परमात्माके तत्-तत् अङ्गोंसे बतलायी गयी है—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत ॥'

अपनी-अपनी जन्मभूमिके गुणोंके (भगवान्के मुख आदिरूप मन्द और उत्तम जन्म-स्थानके) अनुसार प्रत्येक वर्ण और आश्रमकी प्रकृति उत्तम और मध्यमरूपसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है—

'वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः।
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ स्कन्ध १७।१५)

प्रकृतिके अनुसार द्विजातियोंके लिए धर्मोपार्जनके लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्मोंका निर्देशन होनेसे उनके धर्मोपार्जनका द्वार बहुमुख है। शूद्रके लिए एकमात्र सेवारूप कर्तव्यका ही मुख्यतया निर्देश होनेके कारण उसके लिए धर्मोपार्जनका द्वार केवल एकमात्र सेवा ही है। प्रकृतिके अनुसार चार वर्णोंके लिए भिन्न-भिन्नरूपसे कर्तव्योंका निर्देश किया है। शूद्रोंमें तमोगुणका बाहुल्य होता है। तमोगुण-मूलक बुद्धिका लक्षण यह

है कि—'अधर्ममें धर्म समझे तथा धर्ममें अधर्म समझे'[1]। जहाँ ऐसी विपरीत बुद्धि हो, वहाँ स्वाधीनरूपसे कार्य करनेपर प्रमाद, अनर्थ आदि दोष अवश्य ही उत्पन्न होंगे। इस कारण शूद्रवर्गके लिए महर्षियोंने यह आज्ञा दी है कि वह स्वतन्त्र होकर कार्य न करके त्रिवर्णकी आज्ञानुसार उनकी सेवारूपसे ही स्वकर्तव्यका पालन करे। इस तरह स्वकर्तव्य-पालन करनेपर शूद्र शीघ्र ही ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति करते हुए कृतकृत्य हो जाता है। प्रकृतिके अनुसार द्विजों, गौओं तथा देवताओंकी निष्कपट भावसे सेवा करना और उसीसे प्राप्त जीविकामें सन्तोष रखना, शूद्रकी प्रकृति है—

'शुश्रूषणं द्विजगवां सेवा स्वामिन्यमायया।
तत्र लब्धेन सन्तोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः॥'

(श्रीमद्भा० ११-१७-१९)

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंके भेदानुसार आर्यशास्त्रोंमें अधिकारके विचारसे चार वर्णोंके लिए चार-प्रकारकी शिक्षाप्रणाली निर्दिष्ट की गयी है। इनमें शूद्रका शिक्षादर्श काम अर्थात् कलाविद्या-प्रधान बतलाया गया है। वर्णव्यवस्थामें वैसे तो प्रत्येक वर्णके धर्म एकसे एक बढ़कर और विलक्षण हैं। उनकी आवश्यकता तथा उपयोगिताको देखते हुए परस्पर किसीको भी छोटा-बड़ा नहीं कहा जा सकता; तथापि शूद्रधर्म-(सेवाधर्म-) का स्थान मामूली नहीं है। सूक्ष्म विचार करनेपर शूद्रका सारा ही जीवन दया एवं परोपकारकी भावनासे ओत-प्रोत है। शूद्रका मुख्य धर्म सेवा है। सेवा अत्यन्त ही कठिन एवं कष्टसाध्य है। उसके सम्पादनके लिए बड़े त्याग और धैर्यकी आवश्यकता पड़ती है। सेवा बड़ी भारी तपस्या है। इसीलिए शास्त्रकारोंने शूद्रधर्म—सेवाको तपस्याकी कोटिमें गिना है—

'ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।
वैश्यस्य च तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥'

(मनु-११-२३५)

सब धर्मोंसे कठिन सेवाधर्म है। इसमें बड़े त्याग, धैर्य, शारीरिकबल और निःस्वार्थताकी आवश्यकता है। सेवकको बड़े क्रोधी, कृपण और उग्रस्वभाववाले स्वामी मिलते हैं। उनकी सेवा-शुश्रूषा करना और उन्हें

१—'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता।' (गीता)

प्रसन्न रखना कोई खेलवाड़ नहीं है। इनमें भी अतिवृद्ध, रोगी और शक्तिशाली राजा, महाराजा, सेठ-साहूकारोंकी सेवा करना तो और भी कठिन काम है। क्योंकि ऐसे लोगोंका स्वभाव बड़ा क्रोधी और चिड़-चिड़ा होता है। ऐसे लोग—**'क्षणे तुष्टाः क्षणे रुष्टाः'** होते हैं। अतः अपने स्वामीके चित्तको पहचानकर देश, काल, समय और परिस्थितिकी आवश्यकतानुसार स्वामीके क्रोध, कटूक्ति और मारतकको सहन करते हुए, उनको अपना आराध्यदेव समझकर, स्वयं अनेकानेक कष्टोंको सहन करते हुए अपनी व्यक्तिगत इच्छा और आवश्यकताओंको मनमें ही रोककर, निज सुखकी परवाह न करके, अपनी कायिक, वाचिक और मानसिक सकल चेष्टाओंके द्वारा हर प्रकारसे दूसरोंको ही सुख पहुँचानेकी चेष्टामें सारा जीवन लगा देना, क्या ब्राह्मणोंके सविधि-संन्यास या क्षत्रियोंके युद्धमें प्राणोत्सर्गसे कुछ कमती त्याग है? वास्तवमें सेवाधर्मका अनुष्ठान सब धर्मोंके अनुष्ठानसे अत्यन्त ही कठिन तप है। इसीलिए वीतराग महात्मा भर्तृहरिने कहा है कि सेवाधर्मका गम्भीर मर्म हमारी समझमें ही नहीं आता—

'मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वाचको जल्पको वा
धृष्टः पार्श्वे भवति च वसन् दूरतश्चाप्यगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥'

(नी० श०)

'अर्थात् सेवक यदि मौन रहे, कमती बोले, तो उसपर डाँट पड़ती है कि—'क्या गूँगे हो?' यदि अच्छी-तरहसे बातचीत करे, तो मालिक फटकारता है कि—'तुम बहुत बकवाद करते हो?' यदि वह पासमें बैठ जाय, तो उसको बड़ा भारी ढीठ बतलाते हैं और यदि दूर बैठे तो उसे महान् मूर्खकी उपाधि मिलती है। यदि डाँट फटकारको सहन करे, तो उसे डरपोक और स्वामीकी बातोंका उत्तर देने लगे, तो फिर महा अकुलीन, उद्धत कहलाता है। ऐसी अवस्थामें यदि कोई किसीकी सेवा करे भी तो कैसे करे? सेवा कैसे की जाय, इसका मर्म बड़े-बड़े सूक्ष्म तत्वज्ञ योगी भी अभी तक नहीं समझ पाये।'

इसीलिए ऐसी विशुद्धभावनासे अनुष्ठित सेवाधर्मके द्वारा शूद्रको वही गति प्राप्त होती है, जो कि स्वधर्मानुष्ठानमें तत्पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और पतिव्रता स्त्रियोंको प्राप्त होती है। उसमें भी—

'इज्याचारदमाहिंसा - दानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ॥'

(या० स्मृ० १ अ०)

—के अनुसार द्विजोंके लिए जैसे—यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि कर्मोंका अनुष्ठान धर्म है और योगाभ्यासके द्वारा आत्म-दर्शन करना परमधर्म है, वैसे ही सभी वर्णोंकी सेवा शूद्रका धर्म है, और निर्धन, तपस्वी, ब्राह्मणोंकी सेवा करना उसका परम-धर्म है। इसीसे भगवान् मनुने कहा है—

'स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः ।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥'

(मनुस्मृति १०,१२३)

सेवा धर्म श्रद्धा, दया, प्रेम, वात्सल्यभावसे ओत-प्रोत है। सेवकको बड़ोंको माता-पिता, और छोटोंको पुत्र या भाई समझकर हृदयसे घृणा-भावको एकदम हटा देना पड़ता है, घृणासे सेवा नहीं हो सकती। सेवा-धर्मका यथोचित पालन शूद्रोंके सिवाय दूसरोंसे हो ही नहीं सकता, सेवाके लिए घृणाभाव हृदयसे हटाकर सबके प्रति माताका-सा हृदय बना लेना पड़ता है। वैसा निर्घृणभाव औरोंसे तो क्या, साक्षात् पिताको भी अपने पुत्रके प्रति होना कठिन है। पिताको पुत्र प्राणप्रिय होता है, किन्तु जब उसका नन्हा-सा बालक कहीं मलमूत्र कर देता है, तो पिता घृणाके मारे नाक सिकोड़ते हुए उसकी माँको पुकारता है। परन्तु माता धन्य है, वह चाहे बहुमूल्य साड़ी पहने हो या भोजन करती हो, तो भी हाथका ग्रास वैसेका-वैसा ही छोड़कर बच्चेको गोदमें लेके उसे स्वयं स्वच्छ करती है। यही भाव सारे समाजके प्रति शूद्रवर्णका रहता है। यही शूद्रवर्णका सर्वस्व है।

माताका ऐसा स्नेहमय भाव—निर्घृण दयार्द्रभाव तो केवल अपने ही बालक या परिवारके साथ ममताके कारण, स्वार्थवश रहता है, परन्तु शूद्रवर्णका ऐसा मनोभाव सारे ही समाजके साथ स्वाभाविक (निःस्वार्थ) रहता है। अतएव वह सारे समाजके आबालवृद्ध सभीकी सेवा-शुश्रूषामें ही अपना पूरा जीवन समर्पण कर देता है। अतः सेवाधर्मका यथोचित अनुष्ठान शूद्रके सिवाय अन्य किसीसे हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि शूद्र केवल एक सेवाधर्मके द्वारा ही मनुष्य-जीवनके ऊँचेसे-ऊँचे

लक्ष्यपर पहुँचकर कृतकृत्य हो जाता है। अतएव सेवकके लिए आत्म-कल्याणार्थ अन्य धर्मानुष्ठानकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है, क्योंकि उसका मुख्य धर्म तो सेवा है, सेवासे इतर सब धर्म उसके लिए उपधर्म हैं, वे सब गौणधर्म है। अतः जैसे माता, पिता एवं गुरुकी सेवामें परायण रहनेवाले ब्रह्मचारीके लिए उनकी सेवा ही मुख्य धर्म है, अन्य धर्म गौण हैं। अतः उनके जीवित रहते उसे अन्य-धर्मके अनुष्ठानकी कोई भी आवश्यकता ही नहीं रहती। केवल माता, पिता और सद्गुरुकी सेवा ही उसके लिए परम तप है और उसीसे उस (पुत्र तथा शिष्य) का कल्याण सुनिश्चित है। इसीलिए भगवान् मनुने उसके लिए अन्य धर्मके अनुष्ठानका निषेध किया है—

'यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते॥'

(मनुस्मृति २,२३५)

जैसे स्त्री-समाजके लिए सास, श्वसुर और पतिकी सेवाशूश्रूषा ही परम धर्म है और उसीके अनुष्ठानसे स्त्री-समाजका कल्याण सुनिश्चित है, अतः उनकी सेवा छोड़कर आत्मकल्याणके लिए स्वतन्त्रता पूर्वक तीर्थ, व्रत, यज्ञ, दान, तपस्या आदि किसी भी धर्मके अनुष्ठानकी, उनके लिए कोई आवश्यकता नहीं होती। उनकी सेवा शुश्रूषा करते हुए उनकी आज्ञानुसार अपने सेवाकार्यके अतिरिक्त समयमें संक्षेपसे व्रत, देवपूजा आदि अनुष्ठान करना चाहिए।

अतःजैसे स्त्रीके लिए सेवा, शुश्रूषाके अतिरिक्त समयमें यज्ञ, दान, व्रत, तप आदि विधि-विधान और मन्त्र आदिमें संक्षेप है, वैसे ही शूद्रके लिए भी है। स्त्रीके दस संस्कार होते हैं, जिनमें विवाहको छोड़कर शेष सब बिना मन्त्रके ही होते हैं। केवल विवाह-संस्कार समन्त्रक होता है। वह भी इसलिए कि पति त्रैवर्णिक होनेके कारण, पतिका यज्ञ और वेदाध्ययनमें अधिकार होनेके कारण, पतिके साथ सहाधिकार होनेसे उसका विवाह-संस्कार समन्त्रक होता है और यज्ञाधिकारिणी भी होती है। किन्तु शेष संस्कार शूद्रवत् अमन्त्रक ही होते हैं। शूद्रके भी दस संस्कार होते है और यज्ञ एवं वेदाध्ययनमें अधिकार न होनेसे वे सब अमन्त्रक ही होते हैं—गर्भधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, मुण्डन, कर्णवेध और विवाह—

'नवैताः कर्णवेधान्ताः मन्त्रवर्जं क्रियाः स्त्रियाः।
विवाहो मन्त्रवत्तस्याः शूद्रस्यामन्त्रतो दश ॥'

(व्यास-स्मृति)

शूद्र भी वर्ण है, अतएव वर्ण-धर्मके अनुष्ठानमें उसका अधिकार है। किन्तु अपने स्वधर्म—सेवाधर्ममें अनुपयोगी होनेके कारण उसके लिए विशेष-धर्मोंके अनुष्ठानका विधान नहीं है। अतः वैदिक मन्त्र, स्वधाकार, स्वाहाकारके बिना संक्षिप्त नाममन्त्रोंसे ही उसको श्राद्ध आदि क्रियाओंका अनुष्ठान करना चाहिए—

शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद् धर्ममर्हति।
वेदमन्त्रस्वधास्वाहा - वषट्कारादिभिर्विना ॥'

अतः जैसे व्यष्टि-परिवारकी सेवा-शुश्रूषा, घरकी देख-रेख करना स्त्रीका धर्म है, वैसे ही समष्टि-पारिवारकी सेवा-शुश्रूषा, यह सब शूद्रका धर्म है। सेवाधर्मके अनुष्ठानमें सेवोपयोगी कला विद्यासे इतर वेदादि विद्याओंकी आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए स्त्रियों और शूद्रोंके लिए समाजसेवाके उपयोगी कला-विद्याके अध्ययन और शिक्षणका विधान तथा वेदशास्त्रोंके अध्ययनका निषेध हैं—

'स्त्री शूद्रौ नाधीयेताम्।'

महाभारतमें कहा है कि—'चूँकि ब्रह्मदेवने दासधर्मके अनुष्ठानमें शूद्रको नियुक्त किया है, अतः सबकी सेवा करना ही उसका मुख्य धर्म है। शूद्रको सेवासे ही महान् सुख और पुण्य प्राप्त होता है—

'प्रजापतिर्हि वर्णानां दास्ये शूद्रमकल्पयत्।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते।
तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत्सुखमवाप्नुयात् ॥'

(शा० प० ६०।२८)

सेवावृत्तिके द्वारा धर्मोपार्जन करनेवाला शूद्रवर्ण अपने व्यक्तिगत सुखोपभोगकी परवाह न करके अपने सेव्य-जनोंके ही सुखमें अपनेको सुखी समझता है। यही बात स्त्री-धर्ममें भी पायी जाती है। अपने पति-पुत्रादिके सुखमें ही अपनेको सुखी समझना, स्त्रीधर्मका सर्वस्व है। अस्तु।

जीविकोपार्जनके साधन धर्मोपार्जनसे पृथक् रहनेसे समाजकी समुचित सेवा नहीं हो सकती, अतः सेवाधर्मकी सिद्धिके लिए शूद्रके लिए जीविकाका भी सन्निवेश सेवाकर्ममें ही कर दिया गया है—

'शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा वृत्तिश्च स्वामिनो भवेत्।'

इसीलिए सेवाधर्मप्रधान शूद्रवर्णके लिए स्वधर्मके अनुष्ठानके अतिरिक्त स्वतन्त्र होकर अर्थ और सुखोपभोगकी सामग्रीके सञ्चय करनेका स्पष्ट निषेध है। क्योंकि धनसञ्चय करनेसे फिर वह अपने बड़ोंके अधीन न रहकर बड़ोंको स्वयं अपने अधीन करके उन्हें सेवक बनाकर स्वधर्मानुष्ठानसे वंचित हो जाता है। इसीसे महाभारतमें कहा है कि—

'शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः।
सञ्चयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथञ्चन।
पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद् गरीयसः॥'

(शा० प० ६० ३०)

इसी अभिप्रायको लक्ष्य करके भगवान् मनुने भी कहा है—

'शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनञ्चयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥'

(मनु० स्मृ० १०, १२९)

हाँ, स्वधर्मानुष्ठानसे विशुद्धान्तःकरण शूद्र भी धर्मोपयोगी अर्थका संग्रह राजाकी आज्ञासे कर सकता है—

'राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः।'

(म० भा० शा० प०)

वास्तवमें, सेवकोंको स्वतन्त्र होकर व्यर्थ धन-संग्रहकी आवश्यकता ही क्या है। क्योंकि उनके भरण-पोषण और योग-क्षेमकी सारी चिन्ता और उसकी यथोचित सारी व्यवस्था तो उसके स्वामिजनोंको करनी चाहिए। जैसे छोटे पुत्रके भरण-पोषणकी चिन्ता पिताको करनी चाहिए एवं स्त्रीके भरण-पोषणकी चिन्ता पतिको करनी चाहिए, वैसे ही सेवकके भरण-पोषणकी चिन्ता उसके स्वामीको होनी चाहिए। इसी अभिप्रायसे मनुने स्त्री, पुत्र और दासको समकक्ष मानकर कहा है—

'भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम्॥'

(मनु० ८।४१६)

अतः महाभारतमें कहा है कि 'तीनों वर्णोंको चतुर्थवर्णके भरण-

पोषणकी सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर समझकर अपने धारण किये वस्त्र, अलङ्कार तथा वरती हुई सामग्री सब सेवकोंको देनी चाहिए।'

(शा० पर्व० २३, ३५)

हिन्दू-समाजमें शूद्रोंका क्या स्थान है, इसपर प्रायः आजकलके लोगोंमें बड़ा भ्रम फैला हुआ है। वे समझते हैं कि उच्च वर्णवालोंने सब अच्छे-अच्छे कार्य तो अपने लिए रख लिए हैं और शूद्रोंके साथ सर्वथा अन्याय किया है। परन्तु धर्मशास्त्रोंको देखनेसे पता चलता है कि वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। हिन्दू-समाजका विभाग गुण-कर्मानुसार हुआ है। वंशानुक्रमका ध्यान रखते हुए वह जन्मना है। इसमें प्रत्येकका कार्य जन्मसे ही निश्चित रहता है और उसे उसकी शिक्षा तभीसे बराबर मिलती है। शूद्र, चौथा वर्ण और एक-जाति है। ब्रह्माने उनके लिए यही प्रधान कर्म बतलाया है कि वे लोग शुद्ध-चित्तसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी सेवा करें—

'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

(मनुस्मृति ९-९१)

हाँ, यदि सेवासे उसका निर्वाह न हो तो वह चित्रकारी आदि कारुकके काम करके अपना निर्वाह कर सकता है। अतः ऐसी परिस्थितिमें भी जिन कर्मोंके करनेसे द्विजातियोंकी सेवा शुश्रूषा सिद्ध हो सकती है, उन शिल्पकला, काष्ठकर्म एवं विविध प्रकारकी कारीगरीका ही काम उसे करना चाहिए—

'अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत् कारुककर्मभिः॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥'

(मनु–१०–९९, १००)

याज्ञवल्क्यने भी कहा है कि 'द्विजोंकी सेवा करना शूद्रोंका धर्म है, किन्तु यदि उससे जीविका न चल सके, तो वह वैश्यके कर्मसे अथवा द्विजोंका हित करता हुआ बिबिध प्रकारके शिल्पकर्मसे अपना निर्वाह कर सकता है'—

'शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तयाजीवन् वणिग् भवेत्।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन्॥

(या० स्मृ० १, १२०)

अत्रिने उन्हें कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यद्वारा भी अपना निर्वाह करनेका अधिकार दिया है—

'शूद्रस्य वार्ता शुश्रूषा द्विजानां कारुकर्म च।'

(अत्रि स्मृ० १५)

'बृहत्-पाराशरी' धर्मशास्त्रने भी वाणिज्यद्वारा धनोपार्जनका अधिकार उन्हें दिया है। वह लवण, मधु, तैल, दूध, दधि, तक्र, घृत आदिको बेच सकता है—

'लवणं मधु तैलं च दधि तक्रं घृतं पयः।
न दूषयेच्छूद्रजातिं न कुर्यात् सर्वविक्रयम्॥

(२ अध्याय ५–१२)

आज भी ये तथा अन्य कितने ही व्यवसाय शूद्रोंके हाथमें हैं। इस-तरह आर्थिक उन्नति करनेका उन्हें अवसर दिया गया है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि ब्राह्मणको भी धन-सञ्चय करनेमें पाप बतलाया गया है। इसलिए शूद्रोंके साथ यह अन्याय नहीं कहा जा सकता। उनके लिए धार्मिक नियमादि अतिसरल रक्खे गये हैं। वृत्ति, केश, वेष आदिके लिए कोई नियम नहीं है—

'अनियता वृत्तिः, अनियतकेशवेशाः।'

(वसिष्ठ-स्मृति २२–२५, २६)

खान, पान, विवाह आदिमें उन्हें बहुत कुछ स्वतन्त्रता है। लहसुन आदि खानेमें उन्हें कोई पातक नहीं लगता। यज्ञोपवीत न होनेसे उन्हें सन्ध्यो-पासनादिके प्रपञ्चमें नहीं पड़ना पड़ता—

'न शूद्रे पातकं किञ्चित् न च संस्कारमर्हति।' (मनु १०।१२६)

परन्तु इसके साथ ही उसे कितने ही शास्त्रोक्त कर्म करनेका अधिकार भी दिया गया है। अधिकार-भेदकी दृष्टिसे केवल क्रम तथा प्रकार कुछ बदल दिया गया है। द्विजोंकी शरीर-शुद्धि तीन-बार आचमन करनेसे होती है, तो स्त्री और शूद्रके लिए एक-ही आचमन पर्याप्त है—

'त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
शारीरं शौचमिच्छन् हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत् सकृत्॥
(मनु १, १३९)

केवल नमस्कार-मन्त्रोंसे वह पञ्चमहायज्ञ भी नित्य कर सकता है। इससे उसका अभ्युदय होता है—

'पञ्चयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते।
तस्य प्रोक्तो नमस्कारः कुर्वन् नित्यं न हीयते॥'
(विष्णु स्मृ० ५, ९)

याज्ञवल्क्यने भी लिखा है कि अपनी भार्यामें रत, पवित्र, निज-भृत्योंका पालक और श्राद्ध-कर्ममें परायण शूद्र नमस्कार-मन्त्रसे पञ्च यहायज्ञोंको सदैव करता रहे—

'भार्यारतिः शुचिर्भृत्यभर्ता श्राद्धक्रियारतः।
नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत्॥'
(या० स्मृति० १, १२१)

धर्मको चाहनेवाले धर्मज्ञ और सज्जनोंकी वृत्ति करनेवाले शूद्र वेद-मन्त्ररहित शास्त्रोक्त कर्म करनेसे दोषी नहीं होते, किन्तु प्रशंसनीय हो जाते हैं—

'धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥'
(मनु० ९, १२७)

इसके अतिरिक्त सामान्य-धर्म तो सबके लिए आवश्यक हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दम, क्षमा, दया, आदि सामान्य-धर्म तो सभी मनुष्योंके धर्म-साधन हैं। अस्तु।

शास्त्रोंमें सबके लिए स्वधर्म पालनमें सबसे अधिक जोर दिया गया है। उसीसे व्यक्ति अपना कल्याण कर सकता है। पवित्र रहने, श्रेष्ठजनोंकी सेवा करने, कोमल वचन बोलने, अहङ्कार-रहित होने और सदा ब्राह्मण आदिके आश्रयमें रहनेसे शूद्र अपनी जातिसे उत्कृष्ट-जातिभावको प्राप्त होता है—

'शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषु - मृंदुवागनहङ्कृतः।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते॥'
(मनु० ९, ३३५)

वृद्ध तथा सदाचारी होनेसे शूद्र भी प्रशंसनीय तथा आदरणीय हो जाते हैं। ९० वर्षसे अधिक अवस्थावाले शूद्र भी द्विजोंके लिए मान्य हैं—

'मानार्हः शूद्रोऽपि नवतिं गतः' (मनु० २, १३७)

निन्दा-रहित शूद्र सदाचरणमें जितना-जितना प्रवृत्त होता है, उतना-उतना ही वह इस लोकमें मान्य हो जाता है—और मरनेपर स्वर्गका सुख भोगता है—

'यथा यथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।
तथा तथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः॥'

(मनु० २, ११८)

विद्या, कर्म, अवस्था, सम्बन्ध और धनसे युक्त मनुष्य क्रमसे सम्मानके योग्य होते हैं। अधिक विद्या आदिसे युक्त शूद्र भी वृद्धावस्थामें आदरणीय हो जाता है—

'विद्याकर्मवयोवन्धुवित्तैर्मान्या यथाक्रमम्।
एतैः प्रभूतैः शूद्रोऽपि वार्धके मानमर्हति॥'

(या० स्मृ० १, १३६)

ब्राह्मणोंको शास्त्रका यह आदेश है कि वे 'सेवामें तत्पर, मद्य-मांससे वर्जित, और सदा अपने कर्ममें निरत शूद्रोंको कभी न त्यागें'—

'द्विजशुश्रूषाभिरतान् मद्यमांसविवर्जितान्।
स्वकर्मनिरतान् नित्यं तान् शूद्रान्न त्यजेद् द्विजः॥'

(पराशर स्मृ० ८, १६)

विष्णुपुराणमें कहा गया है कि, द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वेदाध्ययन करना पड़ता है और फिर स्वधर्माचरणसे उपार्जित धनके द्वारा यज्ञादिकर्म करने पड़ते हैं। इसमें भी व्यर्थ वार्तालाप, व्यर्थ-भोजन और व्यर्थ-यज्ञ उनके पतनके कारण होते हैं। इसलिए उन्हें सदा संयमी रहना आवश्यक है। सभी कर्मोंमें विधिके विपरीत करनेसे उन्हें दोष लगता है। यहाँ तक कि भोजन-पानादिको भी वे अपनी इच्छानुसार नहीं भोग सकते। सम्पूर्ण कार्योंमें उन्हें परतन्त्र ही रहना पड़ता है। इस तरह वे अत्यन्त क्लेशसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति करते हैं। परन्तु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार हैं, वह शूद्र

द्विजोंकी सेवा करनेसे ही सद्गति प्राप्त कर लेता है। उसके लिए भक्ष्याभक्ष्य अथवा पेयापेयका कोई नियम नहीं है। इसलिए वह अन्य जातियोंकि अपेक्षा धन्यतर है। ऐसी दशामें यह कैसे कहा जा सकता है कि, शूद्रोंके साथ अन्याय किया गया है।

× × × ×

क्या त्रेतायुगमें शूद्रपर अन्याय हुआ ?

त्रेता युगके शूद्र-तपस्वी, शम्बूकके विषयमें, आजकलके लोगोंमें यह भ्रम फैला है कि—"आदर्श नरेश, मर्यादा-पुरुष रामके राज्यमें भी शूद्र-वर्णपर बड़ा अन्याय हुआ है। क्योंकि उनके राज्यमें भी महान् तपस्वी—शम्बूकके साथ अन्याय किया गया है—विना ही अपराधके उस तपस्वीको मार दिया गया।"

यह धारणा नितान्त निर्मूल है। [1]वाल्मीकि रामायणमें—जहाँ कि यह मूल प्रसङ्ग है, यह बात बड़े गम्भीर विवेचनके साथ, इस तरह सुस्पष्ट कही गयी है कि, जिससे इस विषयमें किसीको शङ्का करनेका कोई अवसर ही नहीं रह जाता। वहाँ धर्म-अधर्मके सूक्ष्म-विवेचनके साथ यह विषय सटीक समाधानके साथ विशदरूपसे वर्णित है। उसका सारांश यह है कि—

'न पुत्र-मरणं केचिद् द्रक्षन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा आसन् रामे राज्यं प्रशासति॥'

—के अनुसार श्रीरामके आदर्शमय राज्यमें—जब किसी बालककी अल्पमृत्यु नहीं हो सकती थी—एक ब्राह्मणके बालककी मृत्यु हो गयी। उसके पिताने रामके दरबारमें धरना देकर राष्ट्र-शासक श्रीरामकी राज्य-व्यवस्थामें अधर्म होनेका सन्देह अभिव्यक्त किया। मर्यादा-पुरुषोत्तमके राज्यमें अविश्वास प्रकट करते हुए उसने यह घोषणा कर दी कि—"शासकके ही दोषसे मेरे बालककी मृत्यु हुई है।" तब आदर्श-नरेश रामने अपने सुशासित राज्यमें, जनतामें कहीं भी अधर्मका आचरण न देखकर उच्चकोटिके त्रिकालदर्शी योगीश्वरों, ऋषि-महर्षियोंको बुलाकर, दीन-होकर उनसे इसका कारण पूछा। उन त्रिकालदर्शी योगीश्वरोंमेंसे देवर्षिनारदने अपने योगबलसे सारी परिस्थितिको जान करके—युगधर्मके

१—उत्तरकाण्डके ७४ वें अध्यायमें।

अनुसार तपस्याके विषयमें अधिकारका विवरण करते हुए श्रीरामसे कहा कि—

'राजन्, [1]पहले सत्ययुगमें अनशन आदि काय-क्लेशरूपी तप करनेवाले केवल ब्राह्मण ही होते थे। उस समय कोई भी अब्राह्मण किसी प्रकार भी काय-क्लेशरूपी तप नहीं करता था। अन्य वर्णके लोग केवल अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका ही आचरण करते थे। क्योंकि वह युग ज्ञानसे प्रकाशमय था। उस समय अज्ञानका आवरण न होनेसे सभी मनुष्य आत्म-ज्ञानसे सम्पन्न थे—अपनेको देहातिरिक्त विशुद्ध आत्मा समझते थे। सबलोग दीर्घ-दृष्टि थे। किसीकी भी अल्पमृत्यु नहीं होती थी। अतः उस समय काय-क्लेशरूपी तप करनेकी आवश्यकता और अधिकार ब्राह्मण वर्णके अतिरिक्त औरोंको नहीं था।

तत्पश्चात् कालक्रमसे लोगोंमें जब वह [2]ब्रह्मात्म-बुद्धि शिथिल हो गयी, तो फिर लोगोंके मनमें कुछ देहात्म-भावना उत्पन्न होने लगी—तब त्रेतायुगका समय आया। [3]त्रयीसे विहित त्रेता-अग्निसे साध्य होनेवाले यज्ञ-यागादि सत्कर्मोंमें लोगोंकी प्रवृत्ति होनेके कारण उस युगका नाम 'त्रेता' हुआ। त्रेता-युगमें—सत्ययुगमें केवल ब्राह्मणोंद्वारा की जानेवाली—तपस्यामें क्षत्रिय वर्णका भी अधिकार हो गया। अतः त्रेतामें क्षत्रिय-जातिके लोग भी काय-क्लेशरूपी तप करने लगे। त्रेता युगके तपस्वियों (ब्राह्मण और क्षत्रियों) की अपेक्षा तत्पूर्ववर्त्ती (अर्थात् सत्ययुगके) तपस्वी (ब्राह्मण) वीर्य और प्रभावमें अधिक उत्कृष्ट होते थे।

पहले, सत्ययुगमें, जो ब्राह्मण तपस्या और वीर्यसे विशिष्ट थे, और जो क्षत्रिय तपस्या और शक्तिमें उनसे न्यून थे—त्रेतायुगमें वे (ब्राह्मण और क्षत्रिय) दोनों ही, समान-शक्तिशाली हो गये। अर्थात् सत्ययुगमें क्षत्रियोंका तपस्यामें अधिकार न होनेसे, उस युगके ब्राह्मणोंकी अपेक्षा उनमें न्यूनता थी; परन्तु त्रेतामें वे दोनों ही तपस्या-धर्मके अधिकारी हो जानेसे (ब्राह्मण और क्षत्रिय) तपस्या और शक्तिमें समान हो गये।

१—'पुरा कृतयुगे राजन् ब्राह्मणा वै तपस्विनः।
अब्राह्मणस्तदा राजन् न तपस्वी कथञ्चन ॥' इत्यादि।
(वा० रा० उत्तरकाण्ड–७४ अ० १०–३०)

२—मैं देहातिरिक्त आत्मा हूँ— ऐसी धारणा।

३—वेदसे।

और सत्ययुगके ब्राह्मणोंकी अपेक्षया त्रेतायुगके ब्राह्मणोंमें भी न्यूनता हो गयी। अतः त्रेतायुगमें तपस्यामें ब्राह्मण और क्षत्रिय—दोनोंमें कोई विशेषता न होनेके कारण, उस समय ब्राह्मणमें क्षत्रियकी अपेक्षया कोई विशेषता न देखकर, उस समयके धर्मप्रवर्तनके अधिकारी मनु आदि राजर्षियोंने फिर चारों वर्णोंके सर्वसम्मत सदाचारका भेदक शास्त्र (धर्मशास्त्र) बनाया। क्योंकि सत्ययुगमें शास्त्रके विना ही सब लोग अपने-अपने धर्ममें निरत थे।

त्रेतायुगमें—जब कि सर्वत्र वर्णाश्रमसे प्रयुक्त यज्ञादि धर्मका बोल-बाला था और धर्माचरणके प्रतिबन्धक पापका आविर्भाव नहीं हुआ था—सर्वत्र धर्मका ही प्रकाश था। तब (कालसे प्रेरित होकर) हिंसा, अनृत, असन्तोष और कलहरूप अधर्मने अपना एक चरण अर्थात् एक चतुर्थांश पृथिवीमें अवतरित (प्रवृत्त) कर दिया। इसलिए त्रेतायुगके मनुष्य सत्ययुगके मनुष्योंके सदृश निर्मल ज्ञानसे रहित होनेके कारण ब्रह्मज्ञानके अधिकारसे हीन होकर, प्रायः अग्निहोत्र आदि धर्मोंमें ही प्रवृत्त हुए। और मनुष्योंमें ज्ञानकी न्यूनता हो जानेके कारण ही अधर्म भी—एक चरणसे प्रवृत्त हो गया। इस कारण उस समयके मनुष्य सत्ययुगीय मनुष्योंकी अपेक्षा क्षीण (तेजोहीन) हो गए। क्योंकि अधर्मसे आक्रान्त हुए मनुष्योंका तेज मन्द हो जाता है।

इसी कारण तबसे मनुष्योंकी जीविकाका उपाय भी कृषि आदि ही हो गया। क्योंकि सत्य-युगमें सारीभूमि [1]अकृष्टपच्या थी, अतः सब लोग अकृष्टपच्य आहारवाले थे। सत्ययुगके मनुष्योंके लिए मलकी तरह अत्यन्त हेय—रजोगुण मूलक जो अनृत, अर्थात् कृषि आदि जीविकोपाय था, त्रेतायुगमें वह जीविकाका मुख्य साधन बन गया। उस अनृत-रूप चरणसे, ही अधर्म भी पृथिवीमें अवतीर्ण हो गया। जिससे कि लोगोंमें—अपने-अपने पूर्वजोंके देश, नगर, गृह, भूमि—आदि वस्तुओंके विषयमें—परस्पर (रजोगुण मूलक) द्वेष होने लगा। प्रजामें द्वेषरूप मलको उत्पन्न करनेवाला, समस्त अनर्थोंका मूल वह मिथ्याज्ञानात्मक देहात्म-बुद्धिरूप अहंकार ही अधर्मका 'अनृत' नामक [2]प्रथम पाद है।

१—विना बोये ही सकल अन्न उत्पन्न कर देनेवाली।

२—अधर्मके चार पाद हैं—(१) हिंसा, (२) अनृत, (३) असन्तोष और (४) विग्रह।

त्रेतामें, जब अधर्मने अनृत नामक अपना प्रथम पाद पृथिवीमें प्रवृत्त कर दिया, तब प्राणियोंकी आयुका परिमाण—जो कि सत्ययुगमें अपरिमित था—परिमित हो गया। अतः सत्ययुगके मनुष्योंकी अपेक्षा त्रेतायुगके मनुष्योंके प्रभाव और आयुमें भी न्यूनता हो गयी। तब लोगोंने आयुका ह्रास करनेवाले अधर्मका परिहार करनेके लिए पुरुषार्थ (उद्योग) किया। अतः अधिकारी लोग यज्ञ, दान और तपस्यारूप शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए उनके प्रभावसे फिर सत्यधर्ममें परायण होने लगे। इससे सिद्ध होता है कि—त्रेता-युगमें यज्ञादि कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तकी शुद्धि हो जानेसे देहात्माभिमानरूप अधर्मकी निवृत्ति तुरन्त हो जाती थी। अस्तु।

त्रेतायुगमें ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ही वर्ण यज्ञादिके द्वारा शुद्धचित्त होकर तपस्या करते थे। वैश्य, शूद्र एवं अन्यान्य जातिके लोग ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णकी (अर्थात् तपस्या करनेवालोंकी) सेवाशुश्रूषा करते थे। 'एक कमावे और दसको खिलावे'—इस कहावतके अनुसार तपस्या करनेवालोंकी तपस्याका फल सभीको प्राप्त हो जाता था। तब वैश्य और शूद्र वर्णवाले शुश्रूषारूप परम उत्कृष्ट स्वधर्मका आचरण करते थे—वैश्यलोग कृषि आदि स्वकर्मके द्वारा अपनेसे उत्कृष्ट द्विवर्णकी, अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णकी सेवा करते थे और शूद्रलोग अपनेसे उत्कृष्ट अन्य तीनों वर्णोंकी सेवा करते थे।

इसके अनन्तर, त्रेतायुगके अन्तमें, जब अधर्मका प्रथम पाद वैश्य और शूद्रोमें ठीक तरहसे सुस्थिर हो गया, तो फिर (सेवकका दोष स्वामीको भी प्राप्त होनेके कारण—उनके पूर्ववर्ती) ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग भी ह्रासको प्राप्त हो गये। तब अधर्मने फिर ममतारूपी अपने द्वितीय चरणको भी इस पृथिवीमें अवतीर्ण कर दिया। अधर्मके द्वितीय पादके अवतीर्ण होनेके कारण ही तीसरे युगका नाम 'द्वापर' हुआ।

द्वापर-युग अधर्मके दो चरणोंका आश्रय बन गया। तबसे अनृत, अहंभाव, ममता आदि दोषोंका प्रसार होनेके कारण, विहित-कर्मोंका अतिक्रमणरूप अधर्म जब और अधिक बढ़ने लगा तो फिर (द्वापर युगमें) वैश्य वर्णको भी कायक्लेशरूपी तपस्याका अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार तीनों युगोंमें तीन वर्णोंमें तपका समावेश अर्थात् उन्हें तपस्या करनेका अधिकार हो गया। इस तरहसे सत्य, त्रेता और द्वापर—इन तीनों युगोंमें (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन) तीन वर्णोंका अवलम्बन करके

तपोरूप धर्म भी पृथिवीमें प्रतिष्ठित हो गया। परन्तु शूद्रवर्ण इन तीनों युगोंमें भी तपोरूप धर्मको नहीं प्राप्त हुआ, किन्तु आगे भविष्यत्कालकी अर्थात् कलियुगकी शूद्रजातिको तपश्चर्याका अधिकार प्राप्त होगा। अतः उस समय अर्थात् कलियुगमें ही शूद्रवर्ण तपस्या करनेका अधिकारी होगा इस समय—त्रेतामें नहीं—

'अस्मिन् द्वापर-संस्थाने तपो वैश्यान् समाविशद्।
त्रिभ्यो युगेभ्यस्त्रीन् वर्णान् क्रमाद्वै तप आविशद्॥
त्रिभ्यो युगेभ्यस्त्रीन् वर्णान् धर्मश्च परिनिष्ठितः।
न शूद्रो लभते धर्मं युगतस्तु नरर्षभ॥'

(वा० रा० उ० का० ७४ अ० २४, २५)

अतः जब कि द्वापरयुगमें भी शूद्रके लिए तपस्या करना धर्म नहीं—किन्तु महान् अधर्म है, तो फिर आज अर्थात् इस त्रेता-युगमें तो कहना ही क्या है? अतः अवश्य ही कोई दुर्बुद्धि शूद्र, इस समय आपके राज्यमें तपस्वी बनकर कहीं कायक्लेश-रूप तप कर रहा है। उसी अधर्मके प्रभावसे आपके राज्यमें यह बाल-मृत्यु हो गयी है। क्योंकि राजाके देश या नगरमें जब कोई (विहित कर्मोंका लोप, या निषिद्ध-कर्मोंका आचरण-रूप) अधर्मका आचरण करता है, तो वही अधर्म उसके राज्य या नगरमें अलक्ष्मीमूलक अर्थात् अमङ्गलका कारण हो जाता है। और राजा यदि उसका निवारण नहीं करता, तो वह नरकको प्राप्त होता है; इस लोक और परलोकमें—दोनों ही जगह दुःखभागी भी होता है—इसमें सन्देह नहीं[1]। क्योंकि धर्मतः प्रजाका परिपालन करनेवाला शासक ही प्रजाओंके स्वाध्याय, तप, और सुकृत-कर्मोंके षष्ठांशका भागी होता है—अन्यथा नहीं।

अतः जब कि प्रजाकी सुरक्षाके लिए ही राजा उनसे धन-धान्य-एवं पुण्य आदि कर्मोंका षष्ठांशरूपी वेतनको ग्रहण करता है, तो फिर (प्रजाका भृत्य होकर) वह अपनी प्रजाकी रक्षा ठीक तरहसे क्यों न

१—यही बात विष्णुपुराणमें भी कही गयी है—

'अशास्त्र-विहितं घोरं तप्यमानेषु वै तपः।
नरेषु नृपदोषेण बाल्ये मृत्युर्भविष्यति॥' (६–१–४०)

'अर्थात् राजाके दोषसे लोगोंके शास्त्रविरुद्ध घोर तप करनेके कारण प्रजाओंको बाल्यकालमें मृत्यु होने लगेगी।'

करे ? क्योंकि न्यायसे प्रजाकी रक्षा करनेपर जैसे वह धर्म आदिके षष्ठांशका भोक्ता होता है, वैसे ही रक्षा न करनेपर उनके अधर्मके षड्भागकी प्राप्ति भी उसे अवश्य ही होती है। इसीलिए आप अपने राष्ट्रमें अधर्मका अन्वेषण कीजिये—ऐसा करनेपर ही प्रजामें धर्म एवं आयुकी अभिवृद्धि होगी—

'हीनवर्णो नृपश्रेष्ठ तप्यते सुमहत्तपः।
भविष्यच्छूद्रयोन्यां हि तपश्चर्या कलौ युगे॥
अधर्मः परमो राजन् द्वापरे शूद्रजन्मनः।
स वै विषय-पर्यन्ते तव राजन् महातपाः॥
अद्यं तपति दुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्ययम्।
यो ह्यधर्ममकार्यं वा विषये पार्थिवस्य तु॥
करोति चाश्रीमूलं तत्पुरे वा दुर्मतिर्नरः।
क्षिप्रं च नरकं याति स च राजा न संशयः॥
अधीतस्य च तप्तस्य कर्मणः सुकृतस्य च।
षष्ठं भजति भागं तु प्रजा धर्मेण पालयन्॥
षड्भागस्य च भोक्तासौ रक्षते न प्रजाः कथम्।
स त्वं पुरुषशार्दूल मार्गस्व विषयं स्वकम्॥
दुष्कृतं यत्र पश्येथास्तत्र यत्नं समाचर।
एवं चेद्धर्मवृद्धिश्च नृणां चायुर्विवर्धनम्।
भविष्यति नरश्रेष्ठ बालस्यास्य च जीवितम्॥'

(वा० रा० उ० का ७४।२६-३२)

अस्तु।

धर्म और व्यवहार-सम्बन्धी अति गंभीर, जटिल समस्याओंके समाधानमें सर्वोच्च निर्णय—'[1]एको वाऽध्यात्मवित्तमः' के अनुसार उच्चकोटिके अध्यात्मवेत्ताओंका ही सही और सर्वमान्य होता है। अतएव इस देवर्षि-निर्णीत निर्णयके आधारपर आदर्श-नरेश रामने उस ब्राह्मण-बालकके शवकी सुरक्षाका प्रबन्ध करवाकर अपना धनुष-बाण और खड्ग लेकर, पुष्पक विमानमें बैठके क्रमशः पश्चिम, उत्तर और पूर्व दिशामें यत्र-तत्र, सर्वत्र घूम-घूमकर ऐसे तपस्वीका अन्वेषण करते हुए सारी

---

१. 'चत्वारो वेदतत्त्वज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्याद् एको वाऽध्यात्मवित्तमः॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति-आचा०)

भूमिको सुस्पष्टतया, भलीभाँति देखा। परन्तु वहाँ उन्हें वैसा कोई भी व्यक्ति नहीं दिखलायी पड़ा। तब उन्होंने दक्षिण दिशामें विन्ध्यपर्वतके निकटवर्ती—शैबल नामक पर्वतके उत्तरमें एक सुन्दर सरोवर देखा। वहीं पर नीचे मुँह किये तपस्या करनेवाले एक तपस्वीको देखा। तुरन्त उसके पास पहुँचकर श्रीरामने उससे पूछा—

'हे सदाचारी, तुम धन्य हो! मैं श्रीदशरथपुत्र राम हूँ। हे तपोवृद्ध, तुम किस फलकी कामनासे यह कठोर तप कर रहे हो? तुम चारों वर्णोंमेंसे कौन हो—सत्य कहो?'

उस तपस्वीने कहा कि—'मेरा जन्म शूद्र-वर्णमें हुआ है। मैं इसी देहसे देवलोकमें पहुँचनेके लिए यह तप कर रहा हूँ?' तब श्रीरामने तुरन्त उसका शिरश्छेदन किया। इन्द्रादि देवताओंने पुष्पोंकी वृष्टि करते हुए श्रीरामके राजधर्मकी प्रशंसा की और उनसे वर मागनेके लिए कहा। श्रीरामने कहा कि—'आप लोग यदि प्रसन्न हैं, तो वह ब्राह्मण-बालक जीवित हो जाय! क्योंकि मेरे ही दोष से वह अल्पायु में मरा है!' देवता बोले कि—'महाराज, वह बालक तो शम्बूकके शिरच्छेदन होते ही उसी क्षणमें जीवित हो गया है।' अस्तु।

इस प्रकार वहाँका आदिसे अन्ततकका, सारा ही प्रसङ्ग पढ़नेपर ज्ञात होता है कि—राजधर्मका रहस्य अतीव गहन है। उच्चकोटिके योगीश्वर ही वास्तवमें उसे समझ सकते हैं। उसका मर्म समझ पाना अयोगियोंकी बुद्धिका विषय नहीं है। अतः आदर्श नरेश श्रीरामके राज्यमें शूद्रोंपर अन्याय होनेकी आशङ्का बिना सिर और पैरकी ही है।

धर्मका लाभ आचरणसे

धर्मको केवल जान लेनेसे ही लाभ नहीं होता, लाभ तो होता है उसका प्रत्यक्ष आचरण करनेसे। अतः धर्मका यदि आचरण न किया जाय, केवल उसका ज्ञानभर प्राप्त कर लिया जाय, तो ऐसा कोरा ज्ञान—विधवा-स्त्रीके शृंगारके समान, केवल दुःखदायक ही होता है। अर्थात् धर्मका वास्तविक फल केवल उसके ज्ञानमात्रसे ही नहीं, बल्कि उसका आचरण करनेसे प्राप्त होता है। इसी अभिप्रायसे सोमदेव सूरीने कहा है—

'दुर्भगाभरणमिव केवलं देहखेदावहमेव ज्ञानं स्वयमनाचरतः।'

(नी० वा० ध० स०)

अतः जो मनुष्य धर्मका स्वयं आचरण नहीं करता, उसके सभी मनोरथ स्वप्नमें राज्यप्राप्तिके समान असफल होते हैं—

'स्वयमनाचरतां मनोरथाः स्वप्नराज्यसमाः।'

(नी० वा० धर्म-समुद्देश)

इसीलिए भगवान् मनुने कहा है कि—'यद्यपि निर्मलीका फल जलकी सब गन्दगीको दूर कर देता है, उसमें वैसी शक्ति है, तथापि केवल उस (निर्मली) का नाम ले लेनेसे ही जल स्वच्छ नहीं हो सकता। वह स्वच्छ तो होता है—निर्मलीको घोलकर उसमें मिलानेसे। इसीतरह केवल 'धर्म, धर्म' चिल्लानेसे या दूसरोंको उपदेश देनेमात्रसे लाभ नहीं होता। लाभ तो होता है—उसका आचरण करनेसे—

**'फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति॥'**

(मनु० ६-६७)

इसीलिए तीर्थंकर वर्धमान महावीरने भी कितना सुन्दर कहा है—

**'पोल्लेव मुट्ठी जहसे असारे, अयंतिए कूड कहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे अमहग्घए होइ हु जाणए सु॥'**

(उत० २०।४२)

'अर्थात् जिसतरह पोली मुट्ठी और बिना छापका (खोटा) सिक्का असार होता है, उसीतरह जो व्यक्ति व्रतोंमें स्थिर नहीं होता, उसके गुणहीन वेशकी कीमत नहीं होती, वह असार ही होता है। क्योंकि वैडूर्य मणिकी तरह चमकता हुआ भी काँच जानकारके सामने मूल्यवान् नहीं होता।'

सारांश, धर्म स्वयं आचरणकी वस्तु है, केवल दूसरोंको दिखाने, या उपदेश देनेभरके लिए नहीं। क्योंकि ऐसे नामधारी धर्मोपजीवी लोग तो [1]कथोपजीवियोंके समान सर्वत्र ही सुलभ हैं। परन्तु धर्मका सचमुच आचरण करनेवाले सच्चे धार्मिक तो कोई विरले ही होते हैं। इसीसे सोमदेव सूरीने स्पष्ट ही कह दिया है कि—

'सुलभः खलु कथक इव परस्य धर्मोपदेशे लोकः।'

(नी० वा० ध० समु०)

---

१. केवल पैसा कमानेके लिए कथा सुनानेवाले—कोरे ज्ञानियोंके समान।

इसीलिए हितोपदेशमें भी कहा है—

'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ॥' (मित्र० ५)

इसीसे वाल्मीकि-रामायणके टीकाकारने भी यह कितना अच्छा कहा है कि—

'धर्मोपदेशसमये जनाः सर्वेऽपि पण्डिताः ।
तदनुष्ठानसमये मुनयोऽपि न पण्डिताः ॥'

अतः जैसे अर्थोपार्जन और उसकी सुरक्षा अत्यन्त कठिन काम है, वैसे ही, किंवा उससे भी कठिन काम है—धर्मका उपार्जन और उसकी सुरक्षा। जैसे कष्टसे उपार्जित और चिरसञ्चित भी अर्थ जरा-सा प्रमाद या असावधानीसे नष्ट हो जाता है, वैसे ही थोड़े-से प्रमाद या असावधानीसे कष्टोपार्जित चिरसञ्चित धर्म भी नष्ट हो जाता है। इसीसे भगवती श्रुतिने कहा है कि धर्मके विषयमें कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए—

'धर्मान्न प्रमदितव्यम्' (तैत्तिरीय उप०)

आरम्भमें धर्मके लक्षणोंके निरूपणमें कहा गया है कि—धर्म आत्मा- (या बुद्धि-) का गुण है। अतएव धर्माचरणसे मनुष्यकी आत्मा (या मन-बुद्धि) में स्वच्छता—निर्मलता आ जाती है और धर्मच्युत हो जानेसे आत्मामें मालिन्य बढ़ता जाता है। धर्ममें ऐसी अमोघशक्ति है कि वह मनुष्यके पापाक्रान्त चित्तको भी विशुद्ध करके उसे स्वच्छ बना देता है। भयंकर पापको नष्ट कर देता है। इसीलिए श्रुतिने कहा है—

'धर्मेण पापमपनुदति ।'

अति प्रबल अर्थ और कामकी वासनासे मलिन और विक्षिप्त चित्तको भी धर्म अतीव स्वच्छ एवं स्थिर करके उसको ब्रह्मसाक्षात्कार करने योग्य बना देता है। इसीलिए धर्मको आत्मविशोधक कहा गया है—

'धर्मायात्मविशोधनाय नमः ।' (भागवत ५)

महाभारतमें भगवान् कृष्णसे श्रीबलरामने कहा है कि, 'सत्पुरुषोंने धर्मका अच्छी तरह आचरण किया है, किन्तु वह अर्थ और काम—इन दो वस्तुओंसे संकुचित हो जाता है। अत्यन्त लोभीका अर्थ और अधिक आसक्ति रखनेवालेका काम—ये दोनों ही धर्मको हानि पहुँचाते हैं—

'धर्मः सुचरितः सद्भिः स च द्वाभ्यां नियच्छति ।
अर्थश्चात्यर्थलुब्धस्य कामश्चाति - प्रसङ्गिणः ।'
(शा० प० ६०, २१)

अतः जो लोग अर्थ और काममें आसक्त नहीं होते हैं, वे ही व्यक्ति धर्मका उपार्जन कर सकते हैं; धर्माचरणके मुख्य अधिकारी वे ही हो सकते हैं। अर्थार्थी एवं कामासक्त लोगोंको धर्मकी चर्चा भी अच्छी नहीं लगती। वे लोग तो दिन-रात, हर समय, अर्थ और कामके ही चिन्तनमें तल्लीन रहते हैं। ऐसे अर्थासक्त और कामासक्त जनोंका सङ्ग करनेवालोंका अनुराग भी उत्तम पुरुषार्थ—धर्म तथा मोक्षमें नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'अर्थबुद्धिर्न धर्मकृत् ।' (६ स्कन्ध १९ अ० ७१)

इसी कारण अर्थासक्त और कामासक्त पुरुषोंको भगवत्प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इसीलिए मोक्ष-सुखार्थियोंको ऐसे अर्थासक्त एवं कामासक्त लोगोंसे दूर रहनेकी शास्त्रकारोंकी आज्ञा है।

इसी अभिप्रायसे महाभारतमें कहा कि 'अर्थ और काम—दोनों ही एक-से हैं। दोनों ही मनुष्योंको सत्पथपर जानेमें बाधा पहुँचाते हैं—उन्हें मोहित कर लेते हैं। रति-जनित आमोद-प्रमोदके द्वारा स्त्रियाँ मनको हर लेती हैं, और अर्थ भोगोंके द्वारा मनुष्यके धर्मको नष्ट कर देता है—

'अर्थाश्च नार्यश्च समानमेतच्छ्रेशंसि पुंसामिह मोहयन्ति ।
रतिप्रमोदात् प्रमदा हरन्ति भोगैर्धनं चाप्युहन्ति धर्मान् ॥'
(शा० प० अनु० प० २२-४१)

इसीलिए भगवान् मनुने कहा है कि—'जो लोग अर्थ और काममें आसक्त नहीं हैं, वे ही वास्तवमें धर्मानुष्ठानके अधिकारी हो सकते हैं—

'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥'
(म० स्मृ० २-१३)

अधर्ममें प्रवृत्ति और उसका कारण

संसारमें सब अनर्थोंका मूल अधर्म है। अधर्ममें लोगोंकी प्रवृत्ति बड़ी शीघ्रतासे, अनायास ही हो जाती है। पापमें प्रवृत होनेके कारण हैं—दोष। महाभारतके सनकसुजातीय पर्वमें कहा है कि मनुष्योंमें–शोक, क्रोध,

लोभ, काम, अतिनिद्रा, ईर्ष्या, मोह, तृष्णा, कायरता, गुणोंमें दोषदर्शन और निन्दा—ये बारह बड़े भयंकर, प्राणानाशक दोष रहते हैं। और एकके बाद दूसरा आ-आकर ये सभी दोष मनुष्योंको घेर लेते हैं, जिनके बशमें होकर मूढबुद्धि मनुष्य पाप करने लगता है—

'शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मानः परासुता।
ईर्ष्या मोहो विधित्सा च कृपासूया जुगुप्सता।
द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः॥
एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यान् पर्युपासते।
यैराविष्टो नरः पापं मूढसंज्ञो व्यवस्यति॥'

(उद्योगपर्व—४५ अ० १–२)

इसीकारण मनका स्वभाव, अत्यन्त उच्छृङ्खल अर्थात् अपने हिताहितके विवेकसे हीन, उद्दण्ड पशुकी भाँति चञ्चल है। वह केवल तात्कालिक सुख-दायक अथवा सुखाभास विषयोंकी ही ओर, बार-बार रोकनेपर भी दौड़ता है। किन्तु परिणाममें सुखावह मार्गमें प्रयत्नसे प्रेरित करनेपर भी नहीं प्रवृत्त होता। इसीलिए उसकी प्रवृत्ति अधर्मकी ओर अनायास और धर्मकी ओर बड़ी कठिनाईसे होती है। इसीसे आचार्य सोमदेव सूरीने, अपने नीतिवाक्यामृतमें कहा है–कि—'सम्पूर्ण प्राणियोंकी मतिरूपी नदीका बहाव, उल्टा और सोधा, दोनों ही ओर चलता है—पापकी ओर तथा पुण्यकी ओर। इनमेंसे पहला अर्थात् पापकी ओर बहनेवाला प्रवाह तो अतीव सुलभ है; परन्तु दूसरा अर्थात् धर्मकी ओर चलने वाला प्रवाह अत्यन्त दुर्लभ है—

'मतिनदी सर्वेषां प्राणिनामुभयतो वहति, पापाय धर्माय च।
तत्राद्यं स्रोतोऽतीव सुलभं दुर्लभं तु द्वितीयम्॥'

(धर्मसमुदेश)

इसीलिए शास्त्र-कारोंने कहा है कि—'धर्ममें प्रवृत्त होना बड़े-बड़े शास्त्र–पारङ्गत विद्वानोंके लिए भी बड़ा कठिन काम है—

'मानुष्ये सति दुर्लभा पुरुषता पुंस्त्वे पुनर्विप्रता
विप्रत्वे बहुविद्यतातिगुणता विद्यावतोऽर्थज्ञता।
अर्थज्ञस्य विचित्रवाक्यपटुता तत्रापि लोकज्ञता
लोकज्ञस्य समस्तशास्त्रविदुषो धर्मे मतिर्दुर्लभा॥'

इसी आशयसे तीर्थंकर महावीरने भी कहा है कि—'मनुष्य-जन्मको पाकर भी उस धर्मको सुननेका अवसर पाना दुर्लभ है; जिसको सुनकर मनुष्य, तप, संयम और अहिंसाको स्वीकार करता है। कदाचित् धर्मका सुनना सुलभ भी हो जाय, तो उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है। क्योंकि न्यायमार्गको सुनकर, जानकर भी अनेक जीव उससे गिर जाते हैं। कदाचित् धर्मको सुनकर उसमें श्रद्धा हो भी जाय, तो फिर उसके लिए पुरुषार्थ करना (उद्योग करना) तो और भी दुर्लभ होता है। क्योंकि धर्ममें रुचि होनेपर भी बहुतसे लोग उसका पालन नहीं करते। अतः मनुष्य जन्म पाकर जो धर्मको सुनता और उसपर श्रद्धा करताहुआ उसके अनुसार आचरण करता है, वह तपस्वी नये कर्मोंको रोकता हुआ अपने सञ्चित कर्मरूपी रजको धुन डालता है।' अस्तु,

(उ० ३–८।९।१०।११)

लोगोंकी प्रवृत्ति धर्मको छोड़कर, हेय—अधर्मकी ओर अर्थात् दुष्कर्मोंकी ओर क्यों हो जाती है, इसका कारण शास्त्रोंमें यही बतलाया है कि—'अधर्ममें प्रवृत्त हुए लोगोंकी पहले-पहले बहुत बढ़ती देखनेमें आती है; अधार्मिक लोग आरम्भमें खूब फलते-फूलते हैं। धन, दौलतसे सम्पन्न होकर वे बड़े सुखी और समृद्ध प्रतीत होते हैं। अतः साधारण लोगोंमें उनकी बड़ी धाक जम जाती है। जगह-जगहसे अर्थकी सिद्धियाँ दिखायी देती हैं, शत्रुओंपर विजय प्राप्त होती है। इन बातोंका लोगोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसीसे साधारण लोग अधर्मको ही अच्छा समझने लगते हैं और उसीका अनुकरण करते हुए स्वयं भी वैसा ही आचरण करने लगते हैं। इसी कारणसे प्रजामें सर्वत्र अनाचार, दुराचार और भ्रष्टाचारको प्रोत्साहन मिल जाता है। देखादेखीसे लोग धर्म-विमुख होकर अधर्म-परायण होते जाते हैं। बस्, इसीसे देश और राष्ट्रमें व्यर्थ ही अधर्मका दुःखद प्रचार बढ़ता जाता है। सर्वत्र अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। महाभारतमें राजनीतिके प्रसङ्गमें बड़ा गम्भीर विवेचन, इस विषयमें, किया गया है। पितामह भीष्मने कहा है कि—'जो लोग अधर्ममें प्रवृत्त रहते हैं, अनीति, अत्याचार और भ्रष्टाचार करते हैं, उनकी स्वार्थोंकी सिद्धि होती दिखायी पड़ती है। लोग उसीको अच्छा (मङ्गलमय) समझकर उसीका अनुसरण करने लगते हैं—

'अधर्मे वर्तमानानामर्थसिद्धिः प्रदृश्यते।
तदेव मङ्गलं लोकः सर्वः समनुवर्तते॥'
(शा० प० ९०-७)

इस प्रकार अधार्मिक लोगोंके सहसा, अनायास प्राप्त हुए ऐश्वर्यको देखकर बड़े-बड़े विवेकी-पुरुष भी उससे प्रभावित हो जाते हैं, जिससे कि समाजमें न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, एवं कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके विचारका मार्ग ही अवरुद्ध हो जाता है। इसीसे प्रजामें राग-द्वेष, निन्दा, आदि दुर्गुणोंकी अभिवृद्धि होकर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे सारा ही देश और राष्ट्र दुःखी और बरबाद हो जाता है। इस तरह सभी लोग एक दूसरेके दुराचरणका अनुकरण करते हुए अधर्मके चक्करमें पड़ जाते हैं—

'एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः॥'
(म० भा०)

इस तरहसे एक बार किसी तरह अधर्ममें प्रवृत्ति हो जानेपर फिर उससे छुटकारा होता ही नहीं। क्योंकि फिर उसे छोड़ना बड़ा ही दुष्कर हो जाता है। इसीसे तीर्थङ्कर श्री महावीरने बहुत ठीक कहा है कि—

'अदु कण्णनासच्छेयं कण्ठच्छेदणं तिइक्खन्ती।
इह एत्थ पावसंतत्ता न वेन्ति पुणो न काहिन्ति॥'
(उ० सू०)

'अर्थात् पापी पुरुष इस लोकमें नाक, कान और कण्ठका छेदन सह लेते हैं, परन्तु यह नहीं निश्चय कर लेते कि—'अब हम पाप नहीं करेंगे।'

अधर्मका परिणाम

परन्तु दीर्घदर्शियोंको यह बात सदैव ध्यानमें रखनी चाहिए कि—अधर्ममें प्रवृत्त हो जानेपर अन्तमें उसका परिणाम बड़ा ही दुःखद होता है। भ्रष्टाचार करनेवालोंकी, अधर्म-परायण लोगोंकी दशा महाभयङ्कर, दुःखमयी एवं दयनीय हो जाती है और अन्तमें वे समूल ही नष्ट हो जाते हैं। केवल पाप और अकीर्त्ति ही उनके लिए शेष रह जाते हैं। इसीलिए महाराज मनुने कहा है—

'अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥'

(म० स्मृ० ४।१७४)

महाभारतमें पितामह भीष्मने कहा है कि—'मूर्ख मनुष्यको अपना किया हुआ पाप याद नहीं आता। परन्तु पापकर्ममें प्रवृत्त हुए पुरुषका पाप स्वयं ही उसके पीछे लगा रहता है। जैसे राहु चन्द्रमाके पास स्वतः पहुँच जाता है, उसी प्रकार पापाचरण करने वाले मूढ़ मनुष्यके पास उसका पाप स्वयं चला आता है'—

'पापं कृतं न स्मरतीह मूढो विवर्तमानस्य तदेति कर्तुः ।
राहुर्यथा चन्द्रमुपैति चापि तथाबुधं पापमुपैति कर्म ॥'

(शा० प० १९१–२९)

अतः अधर्म भले ही लोगोंको सद्यः फल न दे, तथापि तीन पीढ़ीके अन्दर तो वह अपना फल अवश्य ही दे देता है। इसीलिए मनुस्मृति एवं मत्स्यपुराणमें कहा है कि—

'नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥'
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
पापमाचरितं कर्म त्रिवर्गमनुवर्तते ।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभुक्तमिवोदरे ॥'

(मनु० स्मृ० ४–१७२ । मत्स्य पु० २८ अ०)

इसीलिए मनुने कहा है कि—'जो मनुष्य अधार्मिक है, जिसका धन, जिसकी कमाई, अशुद्ध है और जो हिंसामें निरत रहता है, ऐसे लोगोंको संसारमें कभी भी सुख नहीं मिल सकता'—

'अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥'

(मनु ४।१७०)

अतएव सुखार्थी मनुष्योंको अधर्मसे अत्यन्त सावधान होकर सदैव धर्ममें ही प्रवृत्त रहना चाहिए। यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि मनुष्यकी चित्तवृत्ति अधर्मकी ओर उसकी हृदय-स्थित वासनाके द्वारा स्वतः अपने आप ही हो जाती है। अतः उस ओर प्रवृत्त होनेके लिए

मनुष्योंको किसी पथ-प्रदर्शककी आवश्यकता नहीं पड़ती है। यदि कोई भूला-भटका, सीधा व्यक्ति इस कलाका स्वयं न भी समझ पाये, तो उसे इसकी शिक्षा पानेके लिए किसी ट्रेनिङ्ग-कालेजकी शरण नहीं लेनी पड़ती। इस कलाके बड़े-बड़े पारङ्गत लोग अपने आप पुरश्चारी हो-होकर इस जगत्का (अधर्म-शिक्षण कलाका) नेतृत्व करनेके लिए, जगह-जगह स्वयं ही प्रस्तुत रहते हैं। इसीलिए सोमदेव सूरीने कहा है कि—

'अधर्मकर्मणि को नाम न उपाध्यायः पुरश्चारी वा।'

(नी० वा० ध० समु०)

दम्भ और पाखण्डमें प्रवृत्ति

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि के अनुसार कभी-कभी दुर्दैववश धर्माचरण करने वालोंकी भी परिस्थित प्रतिकूल हो जाती है। जिससे विचलित होकर अदीर्घदर्शी, अर्थात् केवल तत्कालिक सुखमें ही लुब्ध हो जाने वाले कितने ही [1]अविवेकी मनुष्य भ्रान्तिमें पड़कर, स्वयं वञ्चित हुए दम्भी और पाखण्डियोंके वाग्जालके चक्करमें पड़कर—वेद, शास्त्र, एवं अनुभवी सन्त-महात्माओंद्वारा अनुभूत परम्परागत अपने सच्चे सत्यपथको छोड़कर—अविवेकियोंद्वारा गृहीत, पाखण्डयमय—कुपथमें प्रवृत हो जाते हैं, स्वधर्मको छोड़कर परधर्मको स्वीकार कर लेते हैं। और अपने परम्परागत सद्धर्मकी निन्दा करते हुए निर्मूल परधर्मका प्रचार करने लगते हैं। ऐसे ही भ्रान्त लोगोंकी बुद्धिपर तरसते हुए श्री-शुक महर्षिने कहा है, कि—

'धर्म इत्युपधर्मेषु नग्न - रक्तपटादिषु।
प्रायेण सज्जते भ्रान्त्या पेशलेषु च वाग्मिषु॥'

(श्रीमद् भागवत ४–१९–२५)

अर्थात् नग्न, रक्ताम्बर, तथा कापालिक आदि पाखण्डपूर्ण आचारोंमें मनुष्योंकी बुद्धि प्रायः मोहित हो जाती है। क्योंकि वे मत अपाततः देखनेमें सुन्दर हैं और बड़ी-बड़ी युक्तियोंसे अपने पक्षका समर्थन करते हैं। वास्तवमें ये केवल उपधर्म हैं। लोग भ्रमवश धर्म मानकर इनमें आसक्त हो जाते हैं।

ऐसे हतभाग्य मनुष्य हाथमें आयी हुई अक्षय-निधिको छोड़कर, कच्चे

१—इसीसे महर्षि चाणक्यने कहा है—

'दुर्मेधसोऽसच्छास्त्रं मोहयति।' (चा० सू० ८–१)

काँचके टुकड़ेके लिए तरसते हैं। किंवा सकल मनोरथोंको पूर्ण कर देने वाली प्रत्यक्ष खड़ी कामधेनुको त्यागकर पीछेके पैरोंसे प्रहार करने वाली (अर्थात् दुहने वालेको हर समय लात मारने वाली) ऊँटनीको दुहना चाहते हैं। ऐसे ही बुद्धिहीनोंके दुर्भाग्यपर तरस खाते हुए किसी सहृदय भक्तने भगवान्से यह कितना सुन्दर कहा है। देखिए—

'स्थितवति त्वयि दातर्यस्मदभ्यर्थितानाम्
　　इतरमनुसरन्तो दर्शयन्तोऽर्थिमुद्राम्।
चरमचरणपातैर्दुर्ग्रहं दोग्धुकामाः
　　करभमनुसरामः कामधेनौ स्थितायाम्॥'

इसीलिए भक्तवर श्रीप्रह्लादने कहा है कि—'मौन, ब्रह्मचर्यव्रत, शास्त्राध्ययन, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्मानुष्ठान, शास्त्रोंका प्रवचन, एकान्तनिवास, जप और समाधि—ये सब मोक्षके एक-से-एक साधन हैं। परन्तु जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं है, उनके लिए ये सब केवल जीविकाके साधन—व्यापारमात्र रह जाते हैं। और दम्भियोंके लिए तो ये जीविकोपार्जनके साधनभी नहीं होते। क्योंकि जबतक उनकी पोल नहीं खुलती तभीतक इनसे उनकी जीविका चलती है, पोल खुल जानेपर तो वह भी नहीं रहती'—

'मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययन - स्वधर्म-
　　व्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां
　　वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्'॥'
　　　　　　　　　　　　(भा० ७-९-४६)

अतएव अपना अभीष्ट चाहनेवाले दीर्घदर्शी, विवेकवान् मानवको अपने धर्मपर सदैव अविचल रहना चाहिए। दम्भी और पाखण्डियोंके वाग्जालमें कदापि नहीं फँसना चाहिए। इसी उद्देश्यसे आपस्तम्ब महर्षिने अपने धर्म-सूत्रमें इस विषयपर बड़ा प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा कि—धर्मात्माको चाहिए कि वह [1]कुहक, [2]शठ, [3]नास्तिक, एवं शास्त्रीय ज्ञानसे शून्य—मूर्ख लोगोंके वाग्जालसे बचे, अर्थात् इनके बहकावेमें कभी

१—लोगोक सामने शुद्ध और एकान्तमें यथेच्छाचारी। २—धूर्त।
३—परलोकको न माननेवाले।

न आवे । क्योंकि धर्म और अधर्म—'हम हैं' ऐसा कहते हुए—लोकमें अपना अस्तित्व प्रकाशित करनेके लिए मूर्तिमान् होकर प्राणियोंके सामने नहीं विचरते[2] हैं। और न देवता, गन्धर्व एवं पितर लोग ही हमें यह बतलाते हैं कि—"यह धर्म है और यह अधर्म है।" इसी कारण अपरिपक्व विचारवाले भोलेभाले मनुष्य धूर्त, और पाखण्डियोंके वाग्जालसे मोहित होकर, स्वधर्मका परिवर्तन करके, उपधर्म—पाखण्डमें फँस जाते हैं।

यदि धर्म और अधर्म, गौ और व्याघ्रके समान, मूर्तिमान् होकरके 'हम हैं' कहते हुए जनताके सामने अपना अस्तित्व प्रकाशित करते हुए, लोकमें विचरते होते अथवा विशिष्ट ज्ञानवाले देव, गन्धर्व आदि सूक्ष्मदर्शी लोग जनताको यह बतला देते कि—'यह धर्म है और यह अधर्म है।' तब तो लोग धर्माधर्मको स्वयं प्रत्यक्ष देखकर उन्हें ठीक-ठीक पहचान करके दम्भी और पाखण्डियोंके मतोंमें नहीं आकृष्ट हो पाते। परन्तु ऐसा नहीं होता, धर्म, अधर्म मूर्तिमान् होकर किसीके सामने नहीं आते—क्योंकि वे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अगोचर हैं। अतः उन्हें कोई देख नहीं पाता। उनका ज्ञान नित्य, निर्दोष वेद और तन्मूलक शास्त्रोंद्वारा ही हो सकता है। धर्म और अधर्मको देखनेकी शक्ति योगी एवं सर्वज्ञ पुरुषोंमें ही होती है अयोगी एवं असर्वज्ञोंको उनका साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः ऐसे लोगोंके लिए तो धर्मके विषयमें शिष्टाचार ही शरण है। इसीलिए श्रीमाधवाचार्यने अपने 'कालमाधव' ग्रन्थमें कहा है, कि—

'अयोगिनोऽसर्वज्ञस्य च धर्मतत्वसाक्षात्कारा-
संभवाच्च शिष्टाचार एव शरणम्।'

(उपो० प्र०)

इसी कारणसे अल्प-बुद्धि लोग पाखण्डियोंके तात्काकिल प्रलोभनोंमें फँसकर, स्वधर्मका परित्याग और परधर्मको ग्रहण करके अपने सर्वोच्च सुखसे वञ्चित हो जाते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्योंको इस वञ्चनासे भी सावधान रहना चाहिए। और—

१—'अनसूयुर्दुष्प्रलम्भः स्यात् कुहक-शठ-नास्तिक बालवादेषु।'

(आप० धर्म सूत्र—१–७–२०–५)

२—'न धर्माधर्मौ चरत आवं स्व इति। न देव-गन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म इति।' (आ० ध० सू० १–७–२०–७)

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

—के अनुसार सदैव स्वधर्मपर सुस्थिर रहना चाहिए। इसीसे सोमदेवसूरीने कहा है कि—'कुशल-बुद्धि मनुष्य प्राणोंके निकलनेपर भी अशुभ कर्म अर्थात् अधर्मका अनुकरण नहीं करते'—

'कण्ठगतैरपि प्राणैर्नाशुभं कर्म समाचरन्ति कुशलबुद्धयः।'

(धर्मसमु०, नी० वा०)

इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—'प्रत्येक धर्मावलम्बियोंको न तो दूसरोंके धर्मको ग्रहण करना चाहिए और न दूसरोंके धर्मसे द्वेष ही करना चाहिए—

'नान्यधर्मं हि सेवेत न द्रुह्याद् वै कदाचन।'

(शु० नी० ३–५३)

अधर्मसे सावधान

अधर्मनिष्ठ मनुष्य जंगली हाथीके समान, केवल तात्कालिक सुखमें ही लुब्ध होकर पीछे परिणाममें आपद्ग्रस्त होकर सुखके लिए सदैव पछताता रहता है—

'वनगज इव तदात्वसुखलुब्धः को न भवत्यास्पदमापदाम्।'

(नी० वा०)

धर्मातिक्रमण करके उपार्जित वित्तको तो दूसरे लोग ले लेते हैं, जिसके लिए लोग अधर्म करते हैं, उसकी मौज तो औरोंको (स्त्री, पुत्र आदि हिस्सेदारोंको) मिलती है। अधर्म करनेवाला व्यक्ति तो स्वयं हाथीकी बेकार हत्या करडालनेवाले—अविवेकी सिंहके समान केवल पापका ही भागी बनता है। अर्थात् जैसे मत्त गजराजको मार डालनेसे, अरण्यके राजा—सिंहको, कुछ भी लाभ नहीं होता। क्योंकि गजेन्द्रके गण्डस्थलसे निकले मोतियोंको तो और ही लोग ले लेते हैं। वैसे ही मनुष्यके अधर्माचरणसे उपार्जित वित्तको तो और लोग ले लेते हैं, अधर्म करनेवालेके हाथमें तो केवल पाप और अन्तमें उसका पछतावा ही शेष रह जाता है—

'धर्मातिक्रमाद् धनं परे नयन्ति,
स्वयं तु पापस्य भाजनं सिंह इव सिन्धुरवधात्।'

(नी० वा०)

अस्तु। धर्मनिरक्षेप—अधार्मिक व्यक्तिको भविष्यमें किसी भी प्रकार सुख-सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सकता। क्योंकि जो उसका पूर्वोपार्जित सुकृत है, उसे तो वह भोगकर समाप्त ही कर रहा है, और आगे, भविष्यके लिए कुछ भी संचय नहीं करता। अतः भविष्यमें उसकी दशा ठीक वैसी ही होती है, जैसे कि, खेतीके लिए सुरक्षित बीजको ही खा-चुकनेवाले बहु-पारिवारिक कृषककी होती है। इस विषयमें सोमदेवसूरीने कितना सुन्दर कहा है, देखिए—

'बीजभोजिनः कुटुम्बिन इव नास्त्य-
धार्मिकस्य आयत्यां किमपि शुभम्।'
(नी० वा०)

कृषकका तो कहींसे कर्ज या उधार लेकर भी किसी प्रकार आगेका काम चल सकता है, परन्तु धर्माचरणसे हीन व्यक्तिकी तो दुःख भोगनेके सिवाय और कोई गति ही नहीं है। क्योंकि अन्य, लौकिक वस्तुओंकी तरह धर्म कहींसे कर्ज या उधार लेनेकी वस्तु तो है नहीं। यदि वह किसीका दृष्टिगोचर होता तो संभवतः कुछ वैसा भी किया जा सकता, किन्तु वह तो अदृश्य है।' अतः अधार्मिक व्यक्तिका भविष्य सदैव अन्धकारमय हो जाता है। इसलिए अपना कल्याण चाहनेवाले बुद्धिमान्को अधर्मसे सावधान होते हुए धर्मपर सदैव दृढ़ रहना चाहिए।

संसारमें धर्ममें ही एक ऐसी शक्ति है कि जिसने अर्थ और काम-परायण मनुष्यको इस युक्तिसे नियन्त्रित कर रक्खा है कि—'यदि वह अन्याय-उपायोंसे अर्थकामका संग्रह करेगा तो फिर वासनाकी अग्नि प्रलयाग्नि बन कर कुछ दिनोंमें उसे ही भस्मसात् कर देगी—उसके मनुष्यत्वका नाश करके उसको पूरा पशु बना देगी।' अतः मनुष्यको धर्ममें अटल रहना चाहिए। अस्तु।

धर्मको समझना कठिन है

धर्मको ठीक-ठीक समझ लेना भी बड़ा कठिन है, क्योंकि धर्मका रहस्य अत्यन्त ही गहन है। कहीं-कहीं ऐसा भी हो सकता है कि, जो काम किसीके लिए अधर्म है, परिस्थितिवश वही काम दूसरेके लिए धर्म हो जाता है। हिंसाकरना, किसीका प्राणलेना, दूसरेको कष्ट देना मनुष्यमात्रके लिए अधर्म है; इसलिए वह निषिद्ध है। उसके आचरणसे

मनुष्यको पाप लगता है। परन्तु जो मनुष्य किसीको मार डाले, दूसरेकी हत्या कर दे, अथवा किसीका धन हर ले, ऐसे अपराधीको मारना, उसे प्राणदण्ड देना, उसका धन हर लेना—शासक या न्यायाधीशके लिए धर्म हो जाता है। इसीसे महर्षि शुक्राचार्यने स्पष्ट कहा है—कि, 'दुष्टोंकी हिंसा—यज्ञमें होने वाली हिंसाकी तरह—अहिंसा ही है'—

'अहिंसैवासाधुहिंसा पशुवच्छ्रुतिचोदनात्।'

(शु० नी० २।९२)

इसीसे कामन्दकने नीतिसारमें कहा है—

धर्म्यामापेदिरे हिंसाम् ऋषिकल्पा महीभुजः।
तस्मादसाधून् पापिष्ठान् निघ्नन् दोषैर्न लिप्यते॥

(नी० सा० ६–५)

महर्षि व्यासदेवने कहा है कि—

'अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता॥

(म० भा० शा० प० ३३।३२)

अर्थात् कहीं धर्मही अधर्म हो जाता है और कहीं अधर्मरूप प्रतीत होने वाला कर्मही धर्म बन जाता है, इसलिए विद्वान् पुरुषको धर्म और अधर्मका रहस्य अच्छीतरह समझ लेना चाहिए। इसीलिए भगवान् मनुने कहा है कि—'धर्मको ठीक-ठीक समझनेके लिए मनुष्यको प्रत्यक्ष, अनुमान और विविध प्रकार के शास्त्रोंको अच्छीतरहसे समझ लेना चाहिए—

'प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥'

(१२–१०५)

इसीलिए महाभारतमें इस विषयपर बहुत प्रकाश डाला है। राजनीतिपर्वमें कहा है कि—

'लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम्।
अहिंसासाधुहिंसेति श्रेयान् धर्मपरिग्रहः॥'

(शा० प० १६ अ० ४९ श्लो०)

अर्थात् लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिए ही धर्मतत्त्वका प्रतिपादन किया गया है। सर्वथा हिंसा न की जाय, अथवा दुष्टकी हिंसा की जाय, यह प्रश्न उपस्थित होनेपर जिसमें धर्मकी रक्षा हो, वही कार्य श्रेष्ठ मानना चाहिए। यदि गौशालामें बाघ आजाय, तो उसकी हिंसा ही उचित होगी—क्योंकि, उसका वध न करनेसे कितनी ही निरपराध गौओंकी हिंसा हो जायगी। अतः 'आर्त-रक्षा'-रूप धर्मकी सिद्धिके लिए वहाँ उस हिंसक प्राणीका वध ही श्रेयस्कर होता है।

इसीकारण अपराधी व्यक्तिको दण्ड देनेसे, शासक या न्यायाधीशको पाप नहीं लगता, प्रत्युत पुण्य ही प्राप्त होता है।

इसी प्रकार सत्य बोलना, सदा ही महान् धर्म और झूठ बोलना महान् पाप है। परन्तु भागती हुई गौके पीछे उसे ढूंढनेवाला कसाई यदि किसी प्रत्यक्षदर्शी सत्यवक्तासे पूछे कि—'जरा बतला तो दीजिये, कि, 'गौ किधरको गयी ?' ऐसी परिस्थितिमें सत्यसे अधिक मूल्य असत्यका होता है। इसीसे देवी-भागवतमें कहा है कि—

'सत्यं न सत्यं, खलु यत्र हिंसा, दयान्वितं चानृतमेव सत्यम्।
हितं नराणां भवतीह येन तदेव सत्यं न तथाऽन्यथैव॥'

(दे० भा० ३ स्कन्ध ११-३६)

इसी अभिप्रायसे भगवान् मनुने भी कहा है कि, 'जहाँ सत्य कहनेपर किसी मनुष्यकी प्राणहानि होनेकी सम्भावना हो, वहाँ सत्यका परित्याग करके असत्य बोलना चाहिए। क्योंकि ऐसी परिस्थितिमें असत्य ही सत्य हो जाता है, अधर्म ही धर्म हो जाता है—

'शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद् वधः।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद् विशिष्यते॥'

(म० स्मृ० ९।१०४)

इसीकारण महाभारतमें द्रोणाचार्यके द्वारा होनेवाले असंख्य नर-संहारको रोकनेके लिए भगवान् श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरको द्रोणाचार्यके सामने 'अश्वत्थामा हतः' ऐसा असत्य वचन कहनेको बाध्य किया—

'स भवांस्त्रातु नो द्रोणात् सत्याज्ज्यायोऽनृतं वचः।
अनृतं जीवितस्यार्थे वदन्न स्पृश्यतेऽनृतैः॥'

(द्रोणपर्व १९०-४७)

अतः धर्मको ठीक-ठीक समझ लेना भी अपने बूतेकी बात नहीं है। उसको ठीक-ठीक समझनेके लिए आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति, इन चारों विद्याओंका यथार्थ ज्ञान और शुद्ध तप अपेक्षित हैं, तब कहीं कुछ उसके स्वरूपका आभास दिखलायी पड़ता है। इसीसे महाभारतमें कहा है कि—

'धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत्।' (शा० प० ७१-७३)

अर्थात् जिसको शास्त्रका ठीक-ठीक ज्ञान और उसपर निष्ठा न हो, उसके धर्म और अर्थ—दोनोंही—अस्थिर होते हैं। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है—

'धर्मतत्वं हि गहनमतः सत्सेवितं नरः।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां कर्म कुर्याद् विचक्षण॥'

(शु० नी० ३-३८)

इसी अभिप्रायसे भगवान् कृष्णको अर्जुनसे कहना पड़ा कि—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥'

(गीता-१८ अ०)

अतः धर्मका रहस्य अत्यन्त गहन है। साधारण लोग उसका मर्म नहीं समझ सकते। महर्षि शुक्राचार्यने कहा है—

'स्वधर्मं परमं मत्वा परस्वहरणं नृपाः।
परस्परं महायुद्धं कृत्वा प्राणान् त्यजन्त्यपि॥
राज्ञो यदि न दोषः स्याद् दस्यूनामपि नो भवेत्।
सर्वं पापं धर्मरूपं स्थितमाश्रयभेदतः॥
बहुभिर्यः स्तुतो धर्मो निन्दितोऽधर्म एव सः।
धर्मतत्वं हि गहनं ज्ञातुं केनापि नोचितम्॥'

(शु० नी० १-७९-८१)

इसीलिए धर्म-तत्वको ठीक-ठीक समझ लेना अत्यन्त गहन है। उसको तो वही समझ सकता है, जो मन, वचन और कर्मसे प्राणिमात्रका सुहृद् और हित-चिन्तक हो—

'सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां हितचिन्तकः।
मनसा कर्मणा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥'

(म० भा०)

इसी उद्देश्यसे महाभारतमें कहा है कि—

'न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुसेव्य च।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि॥'

(वनपर्व १५०–२६)

अर्थात् बिना धर्मको समझे और बिना वृद्ध-जनोंकी सेवा किये बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् व्यक्ति भी धर्म और अर्थके रहस्यको अच्छी-तरह नहीं जान सकते।

क्योंकि राग-द्वेषादि दोषोंसे अभिभूत हृदयवाले लोगोंद्वारा समर्थित बातोंमें यथार्थ स्थितिका अस्तित्व कहाँ तक रह सकता है? इसीसे भगवान् मनुने धर्म उसे ही कहा है कि—'जो सर्वदा, सर्वथा राग-द्वेष-रहित, सद्विद्वानोंद्वारा हृदयसे समर्थित हो—

'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥'

(म० स्मृ० २–१)

अस्तु।

धर्मका तात्विकरूप एक होनेपर भी उसके व्यावहारिक-रूप नाना प्रकारके हैं। देश, काल एवं जगत्के घटना-वैचित्र्यसे धर्मके तात्विकरूपमें तनिक भी परिवर्तन नहीं होता। धर्ममें यदि वास्तविक सत्यता हो तो बाह्यरूपके आश्रयसे भी उसकी सत्ताकी उपलब्धि अवश्य ही हो जायगी। क्योंकि बाहरका आवरण अन्दरके जीवित प्रवाहको रोककर नहीं रख सकता। अस्तु,

महाभारतमें कहा है कि—'धर्म ही मनुष्योंकी योनि है। वही स्वर्गमें देवताओंका अमृत है। धर्मात्मा मनुष्य मरनेके पश्चात् धर्मके बलसे ही सदा सुख भोगते हैं'—

'धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते॥'

(म० भा० शा० प० १९३ अ० ३३ श्लोक)

सामर्थ्यके अनुसार धर्म

हाँ, धर्मात्माओंको यह जान लेना भी आवश्यक है कि—प्रत्येक मनुष्यको अपनी शक्तिके अनुसार ही धर्मका अनुष्ठान करना चाहिए, अर्थात् जिस

धर्माचरणके पीछे अपनी स्थिति दयनीय हो जाय, ऐसा, यानी अपनी शक्तिके बाहर, धर्म करना भी, अच्छा नहीं होता। इसीसे श्रीसोमदेव सूरीने कहा है कि—'जिस त्यागके पीछे अपनेको अपना देश ही त्यागना पड़े, अर्थात् अपनी दुर्गति हो जाय, ऐसा धर्म करना भी उचित नहीं होता—

'स खलु त्यागो देशत्यागः, यस्मिन्कृते भवत्यात्मनो दौःस्थित्यम्।'

(नी० वा० ध० स०)

अतएव मनुष्यके लिए बिना समझे बूझे ही इस तरहका धर्मानुष्ठान करना भी उचित नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—'मनुष्यके लिए वे ही धर्म, अर्थ और काम शास्त्रविहित हैं, जिनसे कि, उसके स्वजनोंको सुख मिले। जिनसे केवल अपनेको ही सुख मिलता है, किन्तु अपने स्वजनोंको कष्ट होता है, वे धर्म, अर्थ और काम हितकारी नहीं हैं'—

'पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदोऽह्यनुभावितः।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते॥'

(१० स्कन्ध ५–२८)

अतः मनुष्योंको धर्मकृत्य भी अपनी शक्तिके ही अनुसार करना चाहिए, जिससे फिर पीछे ऐसा न हो कि, कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट उपस्थित हो जाय? इसीलिए नीति-वाक्यामृतमें कहा है—

'तद्व्रतमाचरितव्यं यत्र न संशयतुलामधिरोहतः शरीरमनसी।'

(नी० वा० ध०)

धर्ममें एक विलक्षण शक्ति यह भी है कि, वह अर्थ और कामकी तरह, कभी व्यर्थ नहीं जाता, बिना फल दिये वह कभी भी क्षीण नहीं होता। और उससे मनुष्यको सदा ही सुख मिलता है, किन्तु अर्थ और काममें यह बात नहीं है। इसीलिए मनुष्यको अर्थ-कामकी अपेक्षा धर्ममें ही विशेष अनुराग रखना चाहिए। शान्तिपर्वमें कहा है—

'धर्मे चार्थे च कामे च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिन् लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते॥'

(म० भा० शा० प० ९१।५२)

अस्तु।

धर्म, अर्थ और काम, ये तीनों ही पुरुषार्थ मनुष्यके जीवनको सफल, सार्थक एवं पूर्ण करने वाले हैं। इन तीनोंका पृथक्-पृथक् महत्व है।

अतएव मनुष्यको युक्तिपूर्वक, इन तीनोंका उपार्जन करना चाहिए। कामन्दकने नीतिसारमें कहा हैं कि, मनुष्यको धर्मसे अर्थ, अर्थसे काम और कामसे सुखको प्राप्ति होती है। जो मनुष्य इन तीनोंका युक्तिसे सेवन नहीं करता, वह इनका हनन करके, अपनी हत्या अपने आप कर डालता है—

'धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात् सुखफलोदयः।
आत्मानं हन्ति तान् हत्वा युक्त्या यो न निषेवते॥'

(नी० सा० १।४९)

अतएव मनुष्य-जीवनका एक क्षण भी त्रिवर्गके उपार्जनके विना व्यर्थ बरबाद नहीं होना चाहिए। इसीलिये आयुर्वेदके मूर्धन्य विद्वान् चरकने लिखा है—

'वृत्त्युपायान्निषेवेत ये स्युर्धर्माविरोधिनः।
शममध्ययनं चैव सुखमेवं समश्नुते॥'

(चरक १-१०४ श्लो०)

अर्थात् मनुष्यको कृषि आदि पद्धतिसे अर्थोपार्जन, तथा शान्ति और अध्ययनके द्वारा धर्मोपार्जन करना चाहिए। इसतरह 'अर्थ' और 'धर्म'-का उपार्जन करनेसे सुखरूप 'काम' उसे स्वतः प्राप्त हो जाता है। अतः सुखार्थी मनुष्यको चाहिए कि सबसे पहले धर्मका उपार्जन करे, फिर धर्मयुक्त अर्थका संग्रह करे। इसके बाद फिर धर्म और अर्थ, दोनोंकी अनुकूलता रखते हुए कामका सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्गका संग्रह करनेसे मनुष्य सफल-मनोरथ हो जाता है—

'धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम्॥'

(शा० प० १६७ अ० २७)

इस तरहसे अर्जित त्रिवर्ग मनुष्यको अभ्युदयके सुखसे पूर्ण करके अनायास ही निःश्रेयसकी ओर प्रवण कर देता है। इसीलिए शिवपुराणमें कहा है—

'धर्मादर्थोऽर्थतो भोगो भोगाद् वैराग्यसंभवः।
धर्मार्जितार्थभोगेन वैराग्यमुपजायते॥'

(शि० पु० वि० सं० १,१,५०)

त्रिवर्गमें सन्तोष नहीं

धर्म, अर्थ और कामसे कोई भी मनुष्य कितना भी सम्पन्न क्यों न हो, फिर भी उसे अपनेको त्रिवर्गसे परिपूर्ण समझकर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए अर्थात् त्रिबर्गसे परिपूर्ण होकर भी, पुनः-पुनः अधिकाधिक मात्रामें उसका सम्पादन करते ही रहना चाहिए। क्योंकि सारे ही विश्वका जीवन-निर्वाह इन तीनोंपर ही निर्भर है। इसीसे महाभारतका, सबके लिए यह उपदेश है कि—

'न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः।
एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता॥'
(शा० प० ९२-१२)

इसलिए ये तीनों ही पुरुषार्थ बड़े महत्वके हैं। इन तीनोंमें भी अधिक महत्व धर्मका है। क्योंकि वह चारों पुरुषार्थोंकी जड़ है। अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्म इसलिए भी श्रेष्ठतम है, कि उससे कभी भी अनर्थ होनेकी सम्भावना नहीं रहती। धर्मसे सदैव सुख प्राप्त होता है, वह सुखका साक्षात्-हेतु है। अर्थ और काममें यह बात नहीं होती, अर्थ और काम धर्मसे सम्बद्ध होनेपर ही सुखके हेतु होते हैं। क्योंकि वे सुख-को देनेमें धर्मके समान साक्षात् स्वतन्त्र नहीं हैं। वे धर्मके द्वारा, अर्थात् धर्मानुकूल होकर ही प्राणियोंको सुख दे सकते हैं, अन्यथा—धर्मविरुद्ध होनेसे तो वे महान् अनर्थके भी कारण बन जाते हैं। परन्तु धर्ममें यह बात नहीं है। वह तो अपने संसर्गसे अर्थ और कामको भी मोक्षसुखोपयोगी बनाकर मनुष्यके जीवनको कृतार्थ कर देता है। अतएव विवेकशील पुरुषको अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्ममें ही अधिकाधिक तत्पर रहना चाहिए। इसीसे महर्षि शुक्राचार्यने राजनीतिमें धर्मका ही सर्वाधिक आदर किया है :—

'स्थितो मृत्युमुखे चाहं क्षणमायुर्ममास्ति न।
इति मत्वा दानधर्मौ यथेष्टौ तु समाचरेत्॥'
(शु० १-२००)

इसीलिए पुरुषार्थोंके सन्निवेश और उनकी गणनाके क्रममें, अर्थ और कामको दोनों ओरसे, धर्म तथा मोक्षद्वारा बाँध दिया गया है। स्वतन्त्र होकर उनकी प्राप्ति होनेमें क्या-क्या अनर्थ नहीं हो सकता ? इसीलिए

कामशास्त्रके आचार्य महर्षि वात्स्यायनने भी लिखा है कि—जैसे हाथमें आये हुए बीजको भविष्यमें होनेवाले बहुत अनाजके लोभसे त्यागा जाता है (खेतमें बो दिया जाता है) । उसी प्रकार मोक्षसुखके लिए अर्थ और कामको संकुचित करके भी धर्मका सेवन करना चाहिए—

'लोकयात्राया हस्तगतस्य च बीजस्य
भविष्यतः सस्यस्यार्थे त्यागदर्शनाच्चरेद्धर्मान् ।
(का० सू० वा० भा०)

इसी अभिप्रायसे महर्षि गौतमने अपने 'धर्मसूत्र' में कहा है कि 'मनुष्यको धर्म, अर्थ और कामका उपार्जन किये विना, अपने प्रातः, मध्याह्न एवं सायं-समयको निष्फल नहीं करना चाहिए और इनमें भी अर्थ और कामकी अपेक्षया अधिक आदर धर्मका ही करना चाहिए । क्योंकि धर्मात्माको लोक और परलोक—सर्वत्र ही सुख मिलता है'—

'न पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णनफलान् कुर्याद्
धर्मार्थकामेभ्यः, तेषु च धर्मोत्तरः स्यात् ।
(गौतम० ध० सूत्र)

इसीलिए महर्षि वाल्मीकिने लिखा है कि, धर्मात्मा भरत जब भगवान् रामके दर्शनार्थ चित्रकूटमें पहुचे, तो उनसे राज्यकी कुशल पूछते हुए मर्यादापुरुष रामने अपने प्राणप्रिय भ्राताको, 'त्रिवर्ग' के उपार्जनके विषयमें सावधान रहनेपर जोर दिया । उन्होंने कहा कि—

'कच्चिदर्थेन वा धर्मम्, अर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥
कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे ॥'
(वा० रा० अयो० का० १०० स० ६२, ६३)

इसीसे महर्षि द्रोणाचार्यने भीषण-युद्धके लिए संग्राममें जाते हुए अपने एकमात्र प्रियपुत्र अश्वत्थामाके लिए अपना अन्तिम सन्देश यही भेजा था कि—

'धर्मार्थकामकुशलो धर्मार्थावप्यपीडयन् ।
धर्मप्रधान-कार्याणि कुर्याश्चेति पुनः पुनः ॥'
(म० भ० द्रो० प० १५१–३७)

त्रिवर्गका सेवन

धर्म, अर्थ और काम—इन त्रिविध पुरुषार्थोंके उपार्जनमें तीन प्रकारकी बाधा (अड़चन) उपस्थित होती है। धर्माचरण करनेवाले (धर्मात्मा) पुरुषको धर्मोपार्जनमें—अर्थ और काम, इन दोनोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली पीड़ा बाधा पहुँचाती है। इसीप्रकार अर्थ-लोभीको अर्थोपार्जनमें धर्म और कामसे एवं अत्यन्त भोगासक्त, कामी पुरुषको विषयोपभोगमें, धर्म और अर्थद्वारा प्राप्त होनेवाली पीडा बाधा उपस्थित करती है। अतः इन तीनों प्रकारकी बाधाओंसे यत्नपूर्वक बचकर इनका फल प्राप्त करना चाहिए। धर्मका फल है—अर्थ और काम अर्थात् भोगकी प्राप्ति। अर्थका फल है—धर्म एवं कामकी प्राप्ति। इसीतरह कामका फल है—इन्द्रिय-तृप्तिपूर्वक आरोग्यलाभ। इन तीनों प्रकारके फलोंको शुभ जानना चाहिए। सारांश यह कि—इन त्रिविध पुरुषार्थोंका सेवन इसप्रकार करना चाहिए कि ये तीनों परस्पर एक दूसरेके बाधक न हों अर्थात् इन तीनोंका सामञ्जस्य ही सुखदायक होता है। इसीलिए कहा है :—

‘त्रिवर्गे त्रिविधा पीडा ह्यनुबन्धस्तथैव च।
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडास्तु परिवर्जयेत्॥
धर्मं विचरतः पीडा सापि द्वाभ्यां नियच्छति।
अर्थं चात्यर्थलुब्धस्य कामं चातिप्रवर्तिनः॥’

(म० भा० आ० प० १३९-६९)

महाभारतमें कहा है, कि—‘जो मनुष्य कामसे धर्म और अर्थको, अर्थसे धर्म और कामको, तथा धर्मसे अर्थ और कामको, हानि न पहुँचाकर, धर्म, अर्थ और काम—तीनोंका यथोचितरूपसे सेवन करता है, वह अत्यन्त सुखका भागी होता है :—

‘धर्मार्थौ धर्मकामौ च कामार्थौ चाप्यपीडयन्।
धर्मार्थकामान् योऽभ्येति सोऽत्यन्तं सुखमश्नुते॥’

(शा० प० ६०।२)

परस्पर विरोध

यहाँ एक यह गम्भीर प्रश्न उपस्थित होता है कि—धर्म, अर्थ और काम, ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर एक-दूसरेके विरोधी हैं। तब इन परस्पर-

विरोधियोंका एक जगह रहना अर्थात् इन परस्पर-विरोधियोंका एक पुरुषसे उपार्जन हो जाना, कैसे सम्भव हो सकता है ? प्रश्न बड़ा जटिल है। महाभारतमें धर्मराज युधिष्ठिरके सामने यक्षने भी यही प्रश्न रक्खा था कि—

‘धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः॥’

(वन प० ३१३ अ० १०१)

इस शङ्काका जो समाधान धर्मावतार महाराज युधिष्ठिरने किया है, वह प्रत्येक दीर्घदर्शी पुरुषके, विशेषतः भारतीय आर्योंके हृदय-पलटपर स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित करलेने योग्य है। राजा युधिष्ठिरने यक्षसे कहा कि हाँ, ठीक है। धर्म, अर्थ और काम ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर-विरोधी हैं। अतः एह ही व्यक्तिसे, इन तीनोंका एकसाथ अनुष्ठान होना असम्भव है। तथापि जब धर्म और भार्या (स्त्री), ये दोनों परस्पर एक-दूसरेके वशमें हो जाते है, अर्थात् जब धमंसे स्त्री पूर्ण प्रभावित हो जाती है और स्त्रीके धर्मानुकूल आचरणसे धर्म प्रभावित हो जाता है, तब धर्म, अर्थ और काम ये तीनों ही अपना पारस्परिक विरोध त्यागकर, एक जगह रहने लगते हैं। अर्थात् धर्मपत्नी-(भार्या-) के धर्मानुकूल हो जानेपर त्रिवर्गका पारस्परिक विरोध होता ही नहीं—

‘यदा धर्मश्च भार्या च परस्पर-वशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः॥’

(म० भा० व० प० ३१३।१०२)

इसी बातको मार्कण्डेय-पुराणने भी पुष्ट किया है। वहाँ कहा है कि ‘मनुष्योंके धर्मार्थ-कामके उपार्जनका सबसे प्रबल साधन पत्नी है—

‘पत्नी धर्मार्थकामानां कारणं प्रबलं मतम्।
विशेषतश्च धर्मस्य.... ... ...॥’

(मा० पु० ६८ अ० ६)

स्त्री-समाजका आदर्श

इससे स्पष्ट है कि गृहस्थ-आश्रममें त्रिवर्गके उपार्जनका उत्तरदायित्व, धर्मार्थकामके उपार्जनकी सारी ही जिम्मेदारी, स्त्री-समाजके ही ऊपर निर्भर है। कितनी विलक्षण बात है यह ? साक्षात् धर्मको अपने वशमें

अर्थात् अपने अधीन कर लेना कितना कठिन है? फिर यह बात पुरुष-समाजके लिए न बतलाकर, स्त्रीवर्गके लिए ही क्यों बतलायी गयी है? इससे यह सुस्पष्ट है कि धर्मको वशमें कर लेनेकी शक्ति पुरुषवर्गमें है ही नहीं? यह लोकोत्तर शक्ति तो केवल स्त्री-समाजमें ही है।

इसी कारण भारतवर्षमें, विशेषतः हिन्दूसमाजमें स्त्रीको 'धर्मपत्नी' शब्दसे कहा जाता है। 'धर्मपत्नी' शब्दसे भी यही ध्वनि निकलती है—

'धर्मार्थं—धर्मवशीकरणार्थं पत्नी, धर्मपत्नी।'

यह बात विवाह-संस्कारके अनन्तर वरके प्रति कहे जानेवाले कन्या-पिताके उपदेश-वाक्योंसे भी सिद्ध होती है। कन्यादान करके कन्या-पिता अपने जामातासे कहता है कि,

'धर्मे चार्थे च कामे च त्वयेयं नातिचरितव्या'

'अर्थात् धर्मार्थकामके उपार्जनमें तुम इसका साथ कभी मत छोड़ना? क्योंकि यह तुम्हारी धर्मपत्नी हो गयी है।' अस्तु।

वास्तवमें त्रिवर्गके पारस्परिक-विरोधका परिहार करके अर्थ और कामको भी धर्मके साँचेमें ढालकर, उन्हें भी धर्ममय—धर्मानुकूल बना लेना ही स्त्री-पुरुषके विवाहका मुख्य प्रयोजन है। उसमें भी यह कार्य केवल भार्यासे ही सिद्ध हो सकता है, पुरुषसे नहीं। अतः गृहस्थाश्रममें स्त्री-जाति ही धर्मकी सिद्धिकी मूल कारण है। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—

'स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मः' (अनु० पर्व ४६।१०)

महाराज मनुने भी कहा है कि—

'अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह॥'

(मनु० ९।२८)

'अर्थात् सुन्दर-सन्तान उत्पन्न करना, धार्मिक कार्योंका सम्पादन, बालक एवं वृद्धजनोंकी सेवा-शुश्रूषा, उत्तमरति, अपनी और पितरोंकी स्वर्ग-प्राप्ति—ये सब काम स्त्रीके ही अधीन हैं।

इसीलिए भार्याको प्राप्त करनेका मुख्य प्रयोजन क्या है, यह बतलाते हुए ज्योतिष-शास्त्रके पारदर्शी विद्वान्, दैवज्ञ श्रीरामाचार्यने भी कितनी गंभीर दूरदर्शितासे विवाहसंस्कारके पूर्वोक्त रहस्यको, थोड़े-से शब्दोंमें अभिव्यक्त किया है। देखिए—

'भार्या त्रिवर्गकरणं शुभशीलयुक्ता
शीलं शुभं भवति लग्नवशेन तस्याः।
तस्माद् विवाहसमयः परिचिन्त्यते हि
तन्निघ्नतामुपगताः सुतशीलधर्माः॥'
(मु० चि० ६ प्र० १)

चूँकि स्त्रियोंमें ही त्रिवर्गके पारस्परिक-विरोधका परिहार-पूर्वक उनका यथोचित समन्वय कर सकनेकी विलक्षण कला विद्यमान है। इसी-कारण स्त्रीसमाजके संरक्षणपर शास्त्रोंमें अत्यधिक जोर दिया गया है। क्योंकि स्त्रीरक्षाके विना धर्माचरण हो ही नहीं सकता है। महाराज मनुने कहा हैं कि 'स्त्री-रक्षापर ही प्रत्येक वर्णका अर्थात् समूचे समाजका सारा त्रिवर्ग निर्भर रहता है। इसीलिए दुर्बलसे-दुर्बल पुरुष भी अपनी स्त्रीकी रक्षाका प्रयत्न करते हैं'—

'इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम्।
यतन्ते रक्षितुं भार्यां भर्तारो दुर्बला अपि॥'
(म० स्मृ० ९।६)

इस उच्चतम विश्वजनीन आदर्शकी सुरक्षाके लिए ही हमारे सूक्ष्म-दर्शी ऋषि-महर्षियों और राजर्षियोंने स्त्रियोंकी स्वतन्त्रतासे मनुष्य-समाजका महान् अहित समझकर उनकी स्वतन्त्रताका निषेध किया है—

'अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥'
(मनु० ९–२)

इसीलिए नारदस्मृतिमें कहा है कि 'उत्तम कुलकी भी महिलाएँ स्वतन्त्र हो जानेपर नष्ट हो जाती हैं। अर्थात् अपने वंशके गौरवको नष्ट कर देती हैं। इसीलिए प्रजापतिने उनके लिए परतन्त्र रहना ही श्रेयस्कर बतलाया है'—

'स्वातन्त्र्याद् विप्रणश्यन्ति कुले जाता अपि स्त्रियः।
अस्वातन्त्र्यमतस्तासां प्रजापतिरकल्पयत्॥'
(व्यव० प० १३–३०)

महर्षि हारीतने कहा है कि—मनुष्योंको सबसे अधिक ध्यान स्त्रियोंकी सुरक्षापर रखना चाहिए। क्योंकि—

'एकव्रतस्कन्नभावात् परेन्द्रियोपहतत्वाच्च दुष्टाः कुलसङ्करकारिण्यो भवन्ति, जीवति जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकस्तस्माद् रेतोपघाताज्जायां रक्षेज्जायानाशे कुलनाशः, कुलनाशे तन्तुनाशस्तन्तुनाशे देवपितृयज्ञनाशो देवपितृयज्ञनाशे धर्मनाशो धर्मनाशे आत्मनाशः, आत्मनाशे सर्वस्वनाशः।'

(व्यव० प्रकाश० ४०५ पृ०)

'अर्थात् स्त्रियाँ एक-व्रतमें दृढ़ताकी कमी यानी 'सतीका एकही पति होता है'—इस व्रतमें दृढ़ताकी कमी एवं परपुरुषमें अनुरक्ति हो जानेसे दूषित होकर पर-पुरुषको जाति, गुण, और शील-स्वभावके अनुरूप वर्ण-सङ्कर सन्तान उत्पन्न करके अपने कुलकी गरिमाको नष्ट कर देती हैं। वर्ण-सङ्कर दो तरहके होते हैं कुण्ड और गोलक। पतिके जीते हुए पर-पुरुषसे जन्मी सन्तानको कुण्ड और पतिके मरनेपर पर-पुरुषसे उत्पन्न सन्तानको 'गोलक' कहते हैं।

ये दोनोंही सन्तानें अपने कुटुम्ब, समाज और राष्ट्रके हितोंके लिए बड़ी घातक सिद्ध होती हैं। अतएव कुलीन-पुरुषोंको परपुरुषोंके सम्पर्कसे अपनी जायाकी रक्षा सदैव करनी चाहिए। क्योंकि जायाका नाश होनेसे अर्थात् स्त्रीके दूषित हो जानेसे सत्कुलका नाश हो जाता है, कुलकी पवित्रता और उसके उत्तम गुणोंका बिनाश हो जाता है। कुलके विनाशसे शुद्ध सन्तानकी परम्परा नष्ट हो जाती है। शुद्ध वंश-परम्पराके अभावमें देवयज्ञ, पितृयज्ञ आदि सत्कर्मोंका लोप हो जाता है। सत्कर्मोंका लोप हो जानेपर धर्मका नाश हो जाता है। धर्मके नाशसे आत्मनाश और आत्म-नाश हो जानेपर मनुष्यका सर्वस्व-नाश हो जाता है।'

इसीलिए देवगुरु बृहस्पतिने कहा है कि 'स्त्रियोंके बन्धुवान्धबों को सूक्ष्म प्रसङ्गोंसे भी, यानी साधारणसी अनुचित बातोंसे भी उन्हें रोकना चाहिए। और कुटुम्बकी बूढ़ी, सास आदिको अच्छीतरह दिन-रात उनकी देखभाल रखनी चाहिए—

'सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यो निवार्या स्त्री स्वबन्धुभिः।
श्वश्र्वादिभिः पालनीया गुरुस्त्रीभिर्दिवानिशम्॥'

(व्यव० प्र० ४०५ पृ०)

भगवान् मनुने कहा है कि 'स्त्री जैसे पुरुषकी सेवा-शुश्रूषा करती है, ठीक वैसा ही पुत्र वह उत्पन्न करती है। अतः प्रत्येक पुरुषको

अपनी प्रजाकी विशुद्धिके लिए स्त्रीकी रक्षा विशेषतः करनी चाहिए—

'यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात् प्रजा-विशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः ॥'

(मनु० ९-९)

शङ्ख और लिखित महर्षियोंने कहा है कि 'ऋतुकालके समय स्त्रियोंका मन जैसे व्यक्तिपर जाता है, बस्, ठीक उसीके समान शील-स्वभाव, और रंगवाली सन्तान उत्पन्न हो जाती है—

'यस्मिन् भावोऽर्पितः स्त्रीणामार्तवे, तादृशं तन्तुं जनयन्तीति ।'

(शङ्खलिखित स्मृति)

अतएव इन्हीं सब बातोंका ध्यान रखते हुए भगवान् मनुने कहा है कि—'अपनी सन्तति, अपने चरित्र और वंश, अपनी और अपने धर्मकी सुरक्षा मनुष्य तभी कर सकता है, जब कि वह प्रयत्न-पूर्वक अपनी स्त्रीकी रक्षा करे'—

'स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥'

(मनु० ९।७)

भारतवर्षके गार्हस्थ्य-जीवनमें आदर्शमय स्त्री-समाजके द्वारा त्रिवर्गके समीकरणकी महिमा आज भी विश्वमें विदित है। विजयाभिलाषी दुर्योधन समय-समयपर माता गान्धारीसे अपनी विजयके लिए जब-जब भी प्रार्थना करता था, तब वह उसे सदा यही उत्तर देती थी कि, 'अरे मूढ, तू धर्माचरण कर, जहाँ धर्म है, वहीं विजय है—

'शृणु मूढ वचो मह्यं यतो धर्मस्ततो जयः ।'

(म० भा० श० प० ६३—६१)

सारांश, मानवमात्रको सुखकी अभिलाषा होती है। इसकी पूर्ति मुक्तिके बिना सम्भव नहीं है; फिर भी जगत्में जो गृहस्थाश्रमको यथावत् व्यवस्थित कर पाते हैं, वे पर्याप्त मात्रामें सुखका अनुभव किया करते हैं। गृहस्थाश्रमका सुख स्त्रीपर निर्भर रहता है। सती स्त्रीमें न केवल स्त्रीके बरन् सचिव, सखा, वैद्य, डाक्टर आदिके भी अगणित गुण रहते हैं। इसीलिए रघुवंशीय सम्राट् अजने अपनी पत्नी इन्दुमतीको अपना

[1]सर्वस्व बतलाया है और मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामने सीताको [2]गृहलक्ष्मी।

पर ये सभी गुण स्त्रीके शील अर्थात् सतीत्वसे ही विकसित होते हैं और शोभा पा सकते हैं। यदि स्त्रीका सतीत्व सुरक्षित न रहे, तो उसके पतिका सर्वनाश अवश्यम्भावी है। अस्तु।

कितना उच्च विश्वदुर्लभ और विश्वजनीन यह आदर्श है? पाश्चात्योंकी शिक्षा-दीक्षा और वहाँके आचरणोंसे अत्यधिक प्रभावित होकर, हर बातमें वहींका अनुकरण करनेसे, शीलवली वृद्ध-महिलाओंसे उनके शील, सदाचार, सद्गुण और सतीत्व-धर्मकी समुचित शिक्षा-दीक्षाको ग्रहण न करनेसे तथा उचित समयपर शास्त्र एवं कुलपरंपरागत रीतिसे विवाह-संस्कार न होनेके कारण अब भारतीय आर्यमहिलाओंमें यह लोकोत्तर, विलक्षण शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती चली जा रही है। यह बात केवल भारतके लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वके लिए महान् दुर्भाग्यकी बात है। क्योंकि यह भारतवर्ष सम्पूर्ण विश्वका हृदय-कमल है। विश्वके लिए यह कल्याण-पथका प्रदर्शक है। अतएव यहाँकी इस विश्व-जनीन संस्कृतिकी रक्षाके लिए भारतके मनीषियोंका ध्यान विशेषतः आकृष्ट होना चाहिए। अस्तु।

सकाम और निष्काम धर्म

धर्मानुष्ठानके दो प्रकार हैं—सकाम-भाव और निष्काम-भाव। इनमेंसे सकाम-भावसे धर्मोपार्जन करनेकी शास्त्रीय पद्धतिका नाम—प्रवृत्तिधर्म है और निष्काम-भावसे धर्मानुष्ठानकी पद्धतिको निवृत्ति-धर्म कहते हैं। मनुष्यको पहले प्रवृत्ति धर्मका सम्पादन करके, पीछे निवृत्तिधर्मका अनुष्ठान करना चाहिए। प्रवृत्तिधर्मके अनुष्ठानसे अभ्युदय अर्थात् ऐहलौकिक सुखका उदय और निवृत्ति-धर्मके आचरणसे निःश्रेयस मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है—

'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।
आवर्तेत प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम्॥'

(श्रीमद्भागवत ७–१५–४७)

१—गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥'
(रघुवंश ८, ६७)

२—'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोः' (उत्तर रामचरित–१, ३८)

यही बात मनुस्मृतिकारने भी कही है—

'सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥'

(म० स्मृ० १२–८८,८९)

अस्तु। सकाम-भावसे अर्थात् फलकी प्राप्तिकी अभिलाषासे, अनुष्ठित धर्म मनुष्यको तीसरे ही पुरुषार्थ (काम) तक पहुँचा सकता है, अर्थात् सकाम धर्म मनुष्यको उसकी अभिलषित वस्तु—धर्म, अर्थ अथवा काम—तक, यानी त्रिवर्गतक ही पहुँचाकर वहीं समाप्त हो जाता है। वह उसे चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) तक नहीं पहुँचा सकता। क्योंकि सकाम-भावसे आचरण करनेसे उसमें एक मल (यानी एक दोष) आ जाता है। वह है—अपध्यान, अर्थात् फलकी अभिलाषा। फलकी कामना धर्मको मलयुक्त—अर्थात् सदोष कर देती है। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—

'अपध्यानमलो धर्मः' (शा० प० १२३–१०)

समल होनेके कारण सकाम धर्मकी शक्ति तीसरे ही पुरुषार्थमें पहुँचाकर, समाप्त हो जाती है। परन्तु निर्मल-धर्म अर्थात् निष्काम भावसे अनुष्ठित धर्म मनुष्यको अन्तिम पुरुषार्थ, मोक्षरूप भगवत्तत्त्वतक पहुँचा देता है—

'धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकाय-कर्मभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम्॥'

(भाग० ४–१४–१५)

इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'जो मनुष्य निष्काम भावसे कर्म करता है, उसका वह कर्म पहलेके किए हुए समस्त कर्मोंके संस्कारोंको नष्ट कर देता है। उस पुरुषके लिए, उसके पूर्व जन्म और इस जन्मके किये हुए—दोनों प्रकारके कर्म न तो अप्रिय फल उत्पन्न करते हैं और न प्रिय फलके ही जनक होते हैं। क्योंकि फलकी आसक्ति और कर्तापनके अभिमानसे शून्य होनेके कारण उसका उन कर्मोंसे सम्बन्ध ही नहीं रह जाता'—

'यः करोत्यनभिसन्धिपूर्वकं तस्य निर्णुदति यत् पुराकृतम्।
नाप्रियं तदुभयं कुतः प्रियं तस्य तज्जनयतीह सर्वतः॥'

(शा० प० १९५–६०)

इसीसे भगवान् कृष्णने भगवद्गीतामें निष्काम कर्मकी ओर बार-बार सङ्केत किया है। परन्तु निष्काम होनेके लिए त्यागकी बड़ी आवश्यकता है, विना त्यागके निष्काम भावनाका होना ही असंभव है। अस्तु।

कोरी निष्कामतासे हानि

निष्कामके पक्षपातियोंको यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि—सभोको पहलेसे ही निवृत्तिधर्म, निष्कामधर्मका उपदेश नहीं देना चाहिए। क्योंकि सकाम-भावको छोड़कर, प्रवृत्ति-मार्गको त्यागकर, पहलेसे ही निष्काम-धर्मके अनुष्ठानसे उच्च लक्ष्यपर कोई भी नहीं पहुँच पाता। क्योंकि विषयोंका यथोचित उपभोग किए बिना, जगत्से सच्चा वैराग्य किसीको होता नहीं है। विषयोंकी वासनाएँ सूक्ष्मरूपसे मनमें जड़ जमायी रहती हैं। अतः विषयोंके यथोपभोग किये बिना मनुष्यकी विषयोंसे वास्तविक विरक्ति नहीं होती। केवल श्मशान-वैराग्य होनेसे वासनाएँ निवृत्त नहीं हो जाती हैं। ऐसी परिस्थितिमें फिर बालक, युवा और वृद्ध—हर किसीको पहले प्रवृत्ति धर्मका, अर्थात् सकाम-भावसे धर्मोपार्जनका उपदेश न देकर, आरम्भसे ही निवृत्तिधर्मका, निष्कामधर्मका, उपदेश देना, उन्हें लक्ष्यसे भ्रष्ट करा देना है।

इसीलिए विश्वमें धर्मका सार्वभौमरूप धारण कर लेनेपर भी बौद्ध-धर्मका ह्रास इसी कारणसे हुआ। निर्वाण पथके पथिक सब यथेच्छाचार और यथेच्छ आहारमें प्रवृत्त हो गए। अन्तमें विवेकियोंको पुनः सनातन-धर्मकी ही ओर झुकना पड़ा।

आज भी हरएकको, जिधर भी देखिए, लोग बिना विचारे 'निष्काम'-'निष्काम'का ही पाठ पढ़ाते हैं। ऐसे व्यक्ति और उनके अनुयायी अन्तमें विषयवासनाओंके ऐसे चक्करमें पड़ जाते हैं कि न घरके रहते हैं और न घाटके ! ऐसे ही लोगोंके विषयमें श्रीसोमदेवसूरीने कहा है कि—

'यः कामार्थौ उपहत्य धर्ममेवोपास्ते
स पक्वं क्षेत्रं परित्यज्य, ऊषरं कृषति।'

(ध० समु०—नी० वा०)

'अर्थात् जो व्यक्ति पहले अर्थ और कामको ठुकराकर केवल (निवृत्त-) धर्मका ही अनुष्ठान करता है, अर्थात् पहले प्रवृत्ति-धर्मका अनुष्ठान न करके केवल निवृत्ति धर्मके पीछे दौड़ता है, वह आदमी सुपरिपक्व अन्नसे

भरपूर खेतको छोड़कर पीछे फिर अन्नके लिए तरसते हुए ऊषर भूमिको जोतता है।'

इसीसे वेद और शास्त्रोंमें निष्कामधर्मको अपेक्षा सकामधर्मकी ही अधिक चर्चा आती है। क्योंकि, बिना लौकिक विषयोंका अनुभव प्राप्त किये, मनसे विषय-वासनाका परित्याग होना नितान्त कठिन है :—

'नानुभूय न जानाति पुमान् विषयतीक्ष्णताम्।
निर्विद्येत स्वयं तस्मान्न तथा भिन्नधीः परैः॥'

(श्रीमद्भागवत० ६–६–४१)

स्वधर्मानुष्ठानसे ईश्वराराधन

अतः प्रत्येक मनुष्यको अपने-अपने अधिकारके अनुसार, उचित मार्गसे, पहिले सकाम-धर्मका यथेच्छ अनुष्ठान करके तत्फल स्वरूप अर्थ और कामका भी उचित मात्रामें उपार्जन करते हुए ईश्वरार्पण-बुद्धिसे ऐहलौकिक सुखोंका उपभोग करते हुए शनैः शनैः उनसे निवृत्ततृष्ण होकर फिर 'निवृत्ति-धर्म'का अनुष्ठान करके मनुष्य जीवनको साङ्गोपाङ्ग सफल करना चाहिए। यही निष्कण्टक राजमार्ग है। श्रीमद्भागवतमें इस विषयपर बहुत-बहुत गम्भीर विवेचन हैं—

'प्रायः स्वभावविहितो नृणां धर्मो युगे युगे।
वेददृग्भिः स्मृतो राजन् प्रेत्य चेह च शर्मकृत्॥
वृत्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥'

(७–११–३१, ३२)

इस प्रकार शास्त्रीय-पद्धतिसे प्रवृत्ति-धर्मका आचरण करते-करते धर्मात्मा पुरुष धर्मसे अन्तःकरण विशुद्ध हो जानेपर अन्तमें फिर अनायास ही निवृत्ति-मार्गकी ओर झुक जाता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने स्वयं कहा है :—

'यः स्वधर्मेण मां नित्यं निराशीः श्रद्धयान्वितः।
भजते शनकैस्तस्य मनो राजन् प्रसीदति॥'

(श्रीमद्भाग० ४–२०–९)

अर्थात्, जो पुरुष किसीप्रकारकी कामना न रखकर अपने वर्णाश्रम-

कर्मोंके द्वारा नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की आराधना करता है, उसका चित्त धीरे-धीरे विशुद्ध हो जाता है।

अतः अनापत्तिके समय जिस व्यक्तिके लिए जिस उपायसे, जिस द्रव्यको ग्रहण करना शास्त्र-विरुद्ध न हो, उसको उसीसे अपने सब कार्य सम्पन्न करने चाहिए। इसप्रकार वेदोक्त और शास्त्रोक्त स्वकर्मोंके आचरणसे गृहस्थ-आश्रममें रहने वाला मनुष्य भी भगवान्‌को अनायास ही प्राप्त हो जाता है—

'यद् यस्य वानिषिद्धं स्याद् येन यत्र यतो नृप।
स तेनेहेत कर्माणि नरो नान्यैरनापदि॥
एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मकृत्।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिभाङ् नरः॥'

(भाग० ७ स्कं० १५–६६–६७)

इसी आशयसे महर्षि याज्ञवल्क्यने भी कहा है कि—

'न्यायागतधनस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि हि मुच्यते॥'

(या० स्मृ० ३ अ०)

अस्तु।

धर्ममें कैसी शक्ति है और धर्मका क्या स्वरूप है? यह समझ लेना साधारण बुद्धिवालोंके लिए अपने वशकी बात नहीं है। जो लोग अत्यन्त धीर, गम्भीर, सात्त्विक और जितेन्द्रिय होते हैं, जो इसलोक और परलोकके सुखभोगके लिए—अर्थ और कामकी तृष्णासे विकल न होकर—अपने धर्मका अपव्यय नहीं करते, वे ही लोग धर्मके स्वरूप और उसकी महिमाको यथार्थतः समझ सकते हैं। वैसे ही लोग धर्मानुष्ठानके अधिकारी होते हैं। उन्हींको धर्मका सर्वोत्तम फल—निःश्रेयस अर्थात् भगवत्प्राप्ति रूप मोक्षतत्व प्राप्त होता है। मनुने कहा है—

'प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥'

(मनु स्मृ० १२–९०)

इसीलिए तीर्थंकर वर्धमान महावीरने कहा है कि, मुमुक्षु-पुरुष क्षुधा, तृष्णा, ताप और शीत आदि अरुचिकर प्रसङ्गों एवं बड़े-बड़े भयके

प्रसङ्गोंको भी अव्याकुल चित्तसे सहन करता है। क्योंकि वह जानता है कि धर्मके लिए देह-दुःख महान् फलका हेतु होता है'—

'खुहं पिवासं दुस्सिज्जं सीउण्हं अरइं भयं।
अहि आसे अव्वहिओ देहदुक्खं महाफलं॥' (उ० सू०)

ऐसे दृढ़ धर्मानुरागी धन्यात्मा ही निःसङ्ग होकर विशुद्ध (अर्थात् फलेच्छारूप मलसे रहित) निष्काम धर्मका अनुष्ठान करते हैं। ऐसे ही महापुरुष अन्तमें सूर्यमण्डलको भेदन करके, प्रकृति-मण्डलकी अवधिको पार करके व्यापक, पूर्ण परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो जाते हैं। महर्षि कपिलने देवहूतिसे कहा है—

'ये स्वधर्मान् न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः॥
निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः।
स्वधर्माख्येन शुद्धेन परिशुद्धेन चेतसा॥
सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम्।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम्॥'
(श्रीमद्भाग० ३-३२-५-७)

अतः जो स्वधर्मका पालन, अच्छी तरह कहता है, वह कर्मोंसे भी ऊपर उठकर गुणातीत हो जाता है। भगवान् कृष्णने उद्धवसे कहा है कि,

'इति मां यः स्वधर्मेण भजन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते दृढाम्॥'
(श्रीमद्भाग० ११-१८-४४)

अर्थात् जो पुरुष इस प्रकार अनन्यभावसे, अपने वर्ण और आश्रम-धर्मके द्वारा मेरी सेवामें लगा रहता है और समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करता रहता है, उसे मेरी अविचल भक्ति प्राप्त हो जाती है।

इसके विपरीत, जो अशान्त, अजितेन्द्रिय और विषयासक्त रजोगुणी पुरुष स्वधर्मका अनुष्ठान तुच्छ अर्थ और कामकी प्राप्तिके लिए, केवल सकाम-भावसे करते हैं, वे उसका अपव्यय करते हैं, उन्हें उसका सर्वोत्तम फल नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए उनका धर्म पूर्ण सफल नहीं कहा जा सकता। इसीसे निवृत्तिशास्त्रमें, ऐसे सकाम धर्मवालोंको धैर्य-विहीन एवं आतमघाती कहा है—

'त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ।' (भाग० ३ स्कं०)

ऐसे ही लोगोंके विषयमें तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान महावीरने भी कहा है कि 'जिसतरह कालकूट विष पीनेवालेको मार देता है, जिस तरह उल्टा ग्रहण किया हुआ शस्त्र शस्त्रधारीके लिए ही घातक होता है और जिसतरह विधिसे वशमें नहीं हुआ बेताल मन्त्रधारीका ही विनाश कर देता है, उसीतरह विषयोंकी पूर्तिके लिए आचरण किया हुआ धर्म आत्माके पतनका ही कारण हो जाता है'—

'विसं तु पीयं जह कालकूडं हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
एसो वि धम्मो विस आववन्नो हणाइ वेयाण इवाविवन्नो ॥'

(उत्त० २०।४४)

इसीलिए महर्षि आपस्तम्बने कहा है कि—

'नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्मांश्चरेत् ।'

(आप० ध० सू० १–७–२०–१)

अर्थात् लोकमें प्रचलित अर्थ-काम, ख्याति, लाभ, पूजा, सत्कार आदि क्षुद्र-क्षुद्र प्रयोजनोंके लिए धर्मानुष्ठान नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस भावनासे अनुष्ठित धर्म फल देतेसमय व्यर्थ पड़ जाते हैं—वे सर्वोत्तम फल नहीं दे सकते—

'निष्फला ह्यभ्युदये भवन्ति ।' (आ० ध० सू० १–७–२०,२)

इसीलिए महाराज युधिष्ठिरने रानी द्रौपदीसे कहा है—

'न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात् पापचेतनः ॥'

(वन-पर्व ३१–६)

अतः, जैसे फलके लिए आमका पेड़ लगानेपर उसकी छाया और सुगन्ध तो अपने आप ही प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही उच्च लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए धर्मानुष्ठान करनेपर अर्थ, काम आदि लौकिक फल आनुषङ्गिक, अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। दैवात् यदि कदाचित् वे न भी प्राप्त हों, तो उससे धर्मकी कोई हानि नहीं होती—

'तद् यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्ध इत्यनूत्पद्यते, एवं धर्मं चर्यमाणम् अर्था अनूत्पद्यन्ते नाचेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति ।'

(आ० ध० सू० १–७–२०–३)

धर्मानुष्ठानसे सद्गुणोंका प्रादुर्भाव

धर्माचरणसे मनुष्यमें प्रताप, प्रभाव, नीति, शौर्य, शक्ति, औदार्य—आदि सद्गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। धर्मके प्रभावसे मनुष्योंके दुर्व्यसन, दीनता, दौर्भाग्य—आदि सब दोष दूर हो जाते हैं। इसीलिए नीतिवाक्यामृतमें कहा है कि—'मनुष्यको अपने सहज दुर्व्यसनोंको धर्मानुष्ठानकी अद्भुत महिमा तथा अधर्मजनित दोषों एवं धार्मिक पुरुषोंकी कथाओंके श्रवणसे दूर करना चाहिए'—

'सहजं व्यसनं धर्मसम्भूताद्भुताभ्युदयहेतुभि-रधर्मजनित-महाप्रत्यवायप्रतिपादनैरुपाख्यानैर्योगपुरुषैश्च प्रशमयेत्[२]।'

(व्यसन-समु० ३)

धर्ममें एक यह भी विशेषता है कि उसके उपार्जनमें किसी सहायककी आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल शास्त्रकी विधिके अनुसार उसका आचरण करनेसे वह प्राप्त हो जाता है। इसीसे पितामह भीष्मने कहा है कि—

'एक एव चरेद् धर्मं नास्ति धर्मे सहायता।
केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति॥'

(शा० प० १९३–३२)

धर्मकी वृद्धि

धर्मकी वृद्धिका उपाय है—सत्वगुणकी अभिवृद्धि। सत्वगुणकी वृद्धि होनेसे मनुष्यको भगवान्‌की भक्ति प्रदान करनेवाला धर्म प्राप्त होता है। सात्विक पदार्थोंके सेवनसे सत्वगुणकी अभिवृद्धि होती है। सत्वगुणकी वृद्धिसे सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारके अनुष्ठानसे फिर धर्मकी अभिवृद्धि होती है—

१—इसीलिए महर्षि चाणक्यने कहा है—'सर्वेषां भूषणं धर्मः।'

(चा० सू० ५–७३)

२—और शिष्ट-पुरुषोंकी सङ्गति एवं दुर्जनोंके सङ्गत्यागसे तथा पुरातन-महापुरुषोंके चरित्रसम्बन्धी कथाओंको सुनकर आहार्य-व्यसनको दूर करना चाहिए—

'शिष्टसंसर्गदुर्जनासंसर्गाभ्यां पुरातनमहापुरुष-चरितोत्थिताभिश्च कथाभिराहार्यंव्यसनं प्रतिबध्नीयात्।'

(नी० वा० व्यसन० ४)

'सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥'

(श्रीमद्भा० ११-१३-२)

जिससे सत्वगुणकी वृद्धि होती है, वह अति उत्तम सदाचाररूप-धर्म मनुष्यके रजोगुण और तमोगुणको नष्ट कर देता है। रजोगुण और तमोगुणके नष्ट हो जानेपर उनके कारण उत्पन्न होनेवाला अधर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाता है—

'धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्ववृद्धिरनुत्तमः ।
आशु नश्यति तन्मूल अधर्म उभये हते ॥'

(श्रीमद्भा० ११-१३-३)

सत्वगुण प्रकाशक, निर्मल और शान्त है। जिस समय वह रजोगुण और तमोगुणको दबाकर बढ़ता है, उस समय मनुष्य सुख, धर्म और ज्ञान आदिका भाजन हो जाता है—

'यदेतरौ जयेत् सत्वं भास्वरं विशदं शिवम् ।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥'

(भा० ११-२५-१३)

अत एव निवृत्ति मार्गके साधकको चाहिए कि वह—सात्विक पदार्थोंका ही सेवन करे। क्योंकि उससे धर्मकी वृद्धि होती है। धर्मसे 'तत्वमसि' इत्यादि महावाक्योंद्वारा आत्माके अपरोक्ष साक्षात्कारकी प्राप्ति होती है, और स्थूल एवं सूक्ष्म, दोनों देहोंके मूल कारण—सत्वादि गुणोंकी निवृत्ति तकका ज्ञान उत्पन्न होता है। इसीलिए भागवतमें कहा है :—

'सात्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्वविशुद्धये ।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम् ॥'

(११-१३-६)

जैसे एक ही सत्, चित्, आनन्दरूप परब्रह्म परमात्मा—

'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'

—के अनुसार अनेकानेक रूपोंको धारण करके अनेक स्वरूप हो जाता है, वैसे ही धर्म भी विश्वके कल्याणके लिए—वर्ण, आश्रम, देश, काल, कुल, जाति, व्यक्ति, समाज, अधिकार और लोगोंकी भावनाके अनुरूप—वर्णधर्म, आश्रमधर्म, देशधर्म, कालधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म, राजधर्म,

सेवाधर्म, स्त्रीधर्म, (व्यक्तिधर्म), समाजधर्म, आपद्धर्म, कालधर्म, युगधर्म, साधारणधर्म और विशेषधर्म आदि-आदि नाम और रूपोंको धारण करके अपनी अमोघ-शक्तिके द्वारा मनुष्य-समाजको, जगत्को मर्यादाबद्ध करके मानव-जातिको पाशविक उच्छृङ्खलतासे बचाकर मनुष्यको ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय प्रदान करके अन्तमें पूर्ण आनन्दरूप निःश्रेयस तत्त्वमें पहुँचा देता है। अस्तु,

धर्मसे ही भगवत्प्रसन्नता

संसार-चक्रमें पड़े हुए मनुष्यके लिए जिस साधनके द्वारा उसे भगवान् वासुदेवमें प्रेममय भक्तियोग प्राप्त हो जाय, उससे अतिरिक्त और कोई भी कल्याणकारी मार्ग नहीं है :—

'न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत्॥'

(भाग० २-२-३३)

इसीलिए भगवान् ब्रह्मदेवने चित्तको एकाग्र करके तीन-बार समस्त वेदोंका मनन करके अपनी विशुद्ध बुद्धिसे यही निश्चय किया कि, जिससे सर्वात्मा, भगवान्में अनन्य प्रेम प्राप्त हो, वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है :—

'भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया।
तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेत्॥'

(श्रीमद्भाग० २-२-३४)

'समस्त चराचर प्राणियोंमें उनके आत्मारूपसे भगवान् ही परिलक्षित होते हैं। क्योंकि ये बुद्धि आदि सब दृश्य पदार्थ, उनका अनुमान करानेवाले लक्षण हैं। वे इन सबके साक्षी, एकमात्र द्रष्टा हैं'—

'भगवान् सर्वभूतेषु लक्षितः स्वात्मना हरिः।
दृश्यैर्बुद्ध्यादिभिर्द्रष्टा लक्षणै - रनुमापकैः॥'

(श्रीमद्भाग० २-२-३५)

अतः स्वकर्तव्य-पालनरूप धर्मके आचरणद्वारा, तज्जन्य पुण्यरूप धर्मका उपार्जन और सञ्चय करके यह सुखार्थी मानव-समाज—

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

(गीता—१८-)

—के अनुसार साधारण लौकिक सुखोंसे ऊपर उठता हुआ, उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम सुखोंकी ओर अग्रेसर होकर, अन्तमें सच्चे सुख, सच्ची शान्तिरूप दिव्य आनन्दमय, सिद्धधर्मरूप परमेश्वरको पाकरके अपने मनुष्य-जीवनको पूर्ण सफल कर लेता है। इसीसे देवर्षि नारदने कहा है कि—

'धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥'
(भाग० ७–६, २६)

'अर्थात् वेदादि शास्त्रोंमें जो धर्म' अर्थ और काम—इन तीन पुरुषार्थोंका निरूपण है, तथा जो अध्यात्मविद्या, कर्मकाण्ड, न्याय, दण्ड-नीति और विविध प्रकारके जीविकाके साधन बतलाये गये हैं—ये सब (साधन) तभी सत्य—सार्थक, हो सकते हैं, जबकि ये सब अपने परम हितैषी परमपुरुष परमेश्वरको स्वात्म-समर्पण करनेमें सहायक हों। अन्यथा ये सब निरर्थक हैं।' इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—

'जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थास्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥'
(शान्तिपर्व २४५–२३)

'अर्थात् जिसका जीवन धर्मके लिए है। धर्म भगवान्‌को समर्पण करनेके लिए है, तथा जिसके दिन और रात पुण्यके उपार्जनके लिए हैं, उसको देवता ब्रह्मज्ञ मानते हैं।'

सारांश, यह है कि धर्ममें सुस्थिर हुए बिना मनुष्यका भय नहीं मिट सकता। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'संसारमें न तो कोई ऐसी सभा है, न कोई ऐसी सत्पुरुषोंकी परिषत् है, और न कोई ऐसा जन-समाज ही है, जिसे पाकर कि मनुष्य निर्भय हो जाय। अतः जो बुद्धिमान् धर्म-तत्वमें अवगाहन करके उसीको अपनाता है, वही धुरन्धर है और वही निर्भय हो सकता है—

'न तत् सदः सत्परिषत् सभा च सा
प्राप्य यां न कुरुते सदा भयम्।

धर्मतत्त्वमवगाह्य बुद्धिमान्
योऽभ्युपैति स धुरन्धरः पुमान् ॥'
(शा० प० २२६-१८)

अतः सदाचारसे, सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे, जब मनुष्यका मन राग-द्वेष आदि दोषोंको दूर करके दर्पणके समान स्वच्छ एवं दीप्तिमान् हो जाता है, तब वह द्युतिमान् अर्थात् सद्, असत्‌के विवेकसे प्रकाशमान् एवं नित्य-सुख (मोक्ष) का अभिलाषी होकर निर्वाणभावसे धर्ममें प्रवृत्त होता है और कर्ममार्गसे अतीत एवं कामनाओंसे रहित पूर्ण परब्रह्म, परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है—

'आत्मादिभिः कर्मभिरिध्यमानो धर्मे प्रवृत्तो द्युतिमान् सुखार्थी ।
परंहितत् कर्मपथादपेतं निराशिषं ब्रह्म परं ह्युपैति ॥'
(म० भा० शा० प० २०९-१४)

धर्मसे ही विजय

धर्मोन्नतिकी चरमसीमा—आत्मोन्नति है। इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है कि—'योगबलसे आत्माका साक्षात्कार कर लेना ही परम धर्म है।' यही परा विद्या है। इसीमें शिक्षाके आदर्शोंका अन्तिम पर्यवसान है। इसीसे महर्षि चाणक्यने कहा है कि—

'कथञ्चिदपि धर्मं निषेवेत ।'
(चा० सू० ६-४६)

अतएव सम्पूर्ण रामायण तथा महाभारत—इन दोनों ही इतिहास-ग्रन्थोंका यही सार है कि—"मनुष्यको सर्वदा स्वधर्मका आचरण करना चाहिए अर्थात् अपने कर्तव्यका परिपालन करना चाहिए। धर्माचरणसे ही मनुष्योंके सब अभीष्ट सिद्ध होते हैं। धर्म-विमुख होनेसे उनके कोई भी अभीष्ट सिद्ध नहीं होते। अतः चाहे कितना बड़ा सङ्कट क्यों न आ जाय, दशा कितनी ही बुरी क्यों न हो जाय—पर मनुष्यको स्वधर्मका परित्याग कथमपि नहीं करना चाहिए।"

मनुष्य-जीवनकी सफलता, सार्थकता और शोभा धर्मके आचरणसे ही होती है। तपस्या और धर्माचरणसे हो भगवद्-गुणोंका चमत्कार दृष्टि-

गोचर होता है। धर्म ही सारी सफलताओंकी कुञ्जी है। धर्म ही प्राणियोंके सुख-समृद्धिकी आधार-शिला है। मानव-जीवनको कृतार्थ कर देनेवाला प्रथम पुरुषार्थ धर्म है। अतः धर्म ही सब पुरुषार्थोंका सम्राट् है। जहाँ धर्म है वहाँ श्रीकृष्ण (भगवान्) हैं, और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है—

'यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।'

(शा० प० ६२-३२)

•

'स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य स जीवति।
गुणधर्म विहीनो यो निष्फलं तस्य जीवितम्॥'

'अर्थ'

'अर्थो नराणां पतिरङ्गनानां
वर्षा नदीनाम् ऋतुराट् तरूणाम् ।
स्वधर्मचारी नृपतिः प्रजानां
गतं गतं यौवनमानयन्ति ॥'

(सुभाषित-रत्न भाण्डागार)

'अर्थ'

द्वितीय पुरुषार्थका नाम 'अर्थ' है। जिसके द्वारा मनुष्यके इसलोक और परलोकके समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं, उसको 'अर्थ' कहते हैं—

'यतः सर्वप्रयोजन-सिद्धिः स अर्थः।' (नी० वा० अर्थसमुद्देश)

अर्थ मनुष्योंके भोग, आरोग्य और धर्मका मुख्य साधन है। इसीसे अर्थकी ओर सबकी प्रवृत्ति होती है। महर्षि चाणक्यने कहा है—

'अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः।' (चा० सू० ७ अ० २८)

अर्थका अर्थ (अर्थात् मतलब) है—अभिलषित वस्तु। अतः अर्थको सभी प्राप्त करना चाहते हैं। इसीलिए उसका 'अर्थ' नाम भी सार्थक है—**'अर्थ्यते सर्वैः इति अर्थः'**[1]। अर्थात् जिसको प्राप्त करनेकी अभिलाषा सब करते हैं, उसे अर्थ कहते हैं।

अर्थको प्राप्त करनेकी अभिलाषा सब क्यों करते हैं? इसका कारण महर्षि चाणक्यने यह बतलाया है, कि—प्राणियोंकी सुख-समृद्धिका मूल है—धर्म। धर्मका मूल है—अर्थ।

'सुखस्य मूलं धर्मः।' 'धर्मस्य मूलम् अर्थः।' (चा० सू० १–१,२)

चूँकि सुखको सब चाहते हैं, इसलिए सुखके लिए ही सब लोग अर्थको चाहते हैं। इसीलिए महर्षि कौटल्यने त्रिवर्गमें 'अर्थ'को ही प्रधान मानकर उसे धर्म और कामका मूल बतलाया है—**'अर्थ एव प्रधान इति कौटल्यः। अर्थमूलौ धर्मकामौ।'** (कौ० अर्थशास्त्र)

अर्थकी परिभाषा

अर्थ उस वस्तुको कहते हैं, जिससे कि प्राणियोंकी जीविका (जीवन-निर्वाह) चल सके। अतः अर्थपर ही सबकी जीविका निर्भर है। अर्थका मूल (साधन) है—वृत्ति, अर्थात् आजीविका। अर्थपर ही धर्म और काम निर्भर हैं—

'वृत्तिमूलम् अर्थः।' 'अर्थमूलौ धर्मकामौ।' (चा० सू० १–८९, ९०)

१—अर्थ उपयाच्ञायाम्। उपयाच्ञा = इच्छा।

इस दृष्टिसे भूमि, धन, द्रव्य, विद्या, कला, कृषि, पशुपालन आदि आजीविका-सम्बन्धी प्रयोजनकी सभी वस्तुओंको अर्थ[1] कहा जाता है। इसीलिए महर्षि वात्स्यायनने अर्थकी बड़ी व्यापक परिभाषा की है। उन्होंने कहा है कि—

'[2]विद्या, भूमि, सोना-चाँदी, पशु, धन-धान्य, बर्तन-भाँड़ा, लकड़ी, लोहेका सामान ओढ़ना-विछाना, अर्थात् घर-गृहस्थीका सब सामान एवं मित्रका अर्जन और अर्जितका वर्द्धन—यह सब अर्थ है'—

'विद्या-भूमि - हिरण्य-पशु - धनधान्य - भाण्डोपस्कर-
मित्रादीनाम् अर्जनम्, अर्जितस्य च विवर्धनम् अर्थः।'

(कामसूत्र–१ अ०)

इसी उद्देश्यसे महर्षि शुक्राचार्यने भी कहा है कि—

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम्।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्ति हि तैर्बुधाः॥'

(शु० नी० ४–१३)

अर्थका मूल है—वार्ता। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—

'कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते।
कृषि-वाणिज्य-गोरक्ष्यं शिल्पानि विविधानि च॥'

(शा० प० १६७–११)

'अर्थात् यह संसार कर्मभूमि है। अतः यहाँ जीविकाके साधनभूत कर्मोंकी ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन, तथा भाँति-भाँतिके शिल्प—ये सब अर्थ-प्राप्तिके साधन हैं।' अस्तु

'अर्थमूलं कार्यम।' (चा० सू० २–१)

—के अनुसार मनुष्योंके सभी कार्य अर्थ-मूलक हैं। अर्थ ही समस्त कर्मोंकी मर्यादाके पालनमें सहायक होता है। अर्थके विना धर्म और

१—अर्थः जीविकोपकरणम्। (का० नी० ५–६२ उ० लि० टीका)

२—महर्षि शुक्राचार्यने भी कहा है कि—

विद्याधनं श्रेष्ठतरं तन्मूलमितरद्धनम्।
दानेन वर्धते नित्यं न भाराय, न नीयते।
अस्ति यावत्तु सधनस्तावत् सर्वैस्तु सेव्यते॥

(शु० नी० ३०–११७)

काम—कोई भी सिद्ध नहीं होते—ऐसा श्रुतिका कथन है। श्रुतिने कहा है कि, 'धर्म और काम—ये दोनों अर्थके ही दो अवयव हैं। अतः अर्थकी सिद्धिसे इन दोनोंकी भी सिद्धि हो जाती है'—

'अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः।
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः॥
अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः॥'

(म० भा० शा० प० १६७–१२)

अर्थ और भूमि

अर्थशास्त्रके सिद्धान्तानुसार 'अर्थ' शब्दका मुख्य अर्थ 'पृथिवी' है। महर्षि कौटल्यने कहा है कि—

'मनुष्याणां वृत्तिः अर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः।'

(कौ० अर्थशास्त्र–१५–१)

'अर्थात् मनुष्योंकी समस्त आजीविकाओंका जो मूल आधार अर्थात् उद्गमका क्षेत्र है, जिसमें मनुष्य आदि प्राणियोंके रहन-सहन, एवं प्राणयात्रा-(अर्थात् जीवन-निर्वाह-) के सम्पूर्ण साधनोंका उद्गम होता है, उसको 'अर्थ' कहते हैं। इस परिभाषाके अनुसार धन, धान्य, वस्त्र, गृह, सम्पत्ति आदि समस्त जीवनोपयोगी पदार्थोंकी जनयित्री, अर्थात् पृथिवी ही मुख्य अर्थ है। भूमि ही सकल प्राणियोंका सुस्थिर आधार है। भूमिसे ही सब प्राणियोंकी जीविकाके समस्त साधन—अन्न आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। अतः मुख्य अर्थ भूमि है। इसीलिए महर्षि कौटल्यने सब वस्तुओंकी अपेक्षा भूमिकी ही सर्वाधिक महिमा बतलायो है। अतः भूमिसे अतिरिक्त अन्य सब वस्तु गौण अर्थ है। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने भी कहा है कि—

'खनिः सर्वजनस्येयं देवदैत्य-विमर्दिनी।
भूम्यर्थे भूमिपतयः स्वात्मानं नाशयन्त्यपि॥
उपभोगाय च धनं जीवितं येन रक्षितम्।
न रक्षिता तु भूर्येन किं तस्य धनजीवितैः॥'

(शु० नी० १–७८–७९)

'अर्थात् यह भूमि सम्पूर्ण प्राणियोंके सुखोंकी खान है। इसीके लिए देवता और दैत्य भी लड़ते रहे। इसीके लिए बड़े-बड़े भूमिपति लोग अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं। अतः जो व्यक्ति अपने उपभोगके लिए धन और जीविकाकी तो सुरक्षा करता है, परन्तु अपनी भूमिको सुरक्षित नहीं रखता, उसका धन और जीविका—दोनों ही व्यर्थ हैं।' अस्तु।

भूमिमें उत्पन्न होनेवाले धान्य आदि अन्नसे ही सब लोग जीते हैं, इसलिए शास्त्रोंमें अन्नको भी अर्थ कहा गया है—

'न हि धान्यसमो ह्यर्थः।' (चा० सू० ४–८३)

इसीलिए शास्त्रोंमें अन्न-संग्रहके विषयमें बड़ा जोर दिया है। वेदमें कहा है कि—'अन्नको बढ़ाना चाहिए'—

'अन्नं बहुकुर्वीत।' (तै० उप० २,९–१)

कृषि

चूँकि अन्नका साधन कृषि है। इसीलिए कृषि-शास्त्रके मर्मज्ञ महर्षि पराशरने कहा है कि—'प्राणियोंके हितको दृष्टिमें रखते हुए, धर्मानुसार यथोचित रीतिसे कृषि-कर्मके द्वारा अन्नका उत्पादन करके [1]खल-यज्ञको पूर्णकरके कृषिके द्वारा मनुष्य सुखोपभोगकी-सामग्रीसे सम्पन्न हो जाता है। अतः मनुष्य यदि धर्मानुसार कृषि-कार्य करता है, तो फिर कृषिसे बढ़कर न कोई धर्म है और न कोई लाभ है। और उससे बढ़कर कोई [2]सुख-साधन भी नहीं है'—

'कृषावुत्पाद्य धान्यानि खलयज्ञं समाप्य च।
सर्वसत्वहिते युक्त इहामुत्र सुखी भवेत्॥

१—खल-यज्ञ = अन्न उत्पन्न हो जानेपर खलिहानमें देवार्चन एवं अतिथि-अभ्यागतों और याचकोंका अन्नदानसे सत्कार।

२—इसीलिए, एक ग्रामीण कृषक कृषिकर्मसे उत्पन्न होनेवाले नये-नये स्वादिष्ट व्यञ्जनोंका उपभोग करता हुआ अपनी गृहिणीसे कृषकोंके सुखमय ग्राम्य-जीवनका कैसा सुन्दर चित्रण कर रहा है। देखिए—

'तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलं च दधि।
अल्पव्ययेन सुन्दरि ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति॥'

(सा० द० १ प०)

कृषेरन्यत्र नो धर्मो न लाभः कृषितोऽन्यतः।
सुखं न कृषितोऽन्यत्र यदि धर्मेण वर्तते॥'

(प० स्मृ० ५ अ० १८४, १८५)

इसीलिए महर्षि पराशरने कृषिकी महिमाके विषयमें कहा है कि 'कृषिकर्म करनेवाला कभी भी नंगा और भूखा नहीं रहता। अर्थात् उसे अन्न और वस्त्रका अभाव नहीं रहता। क्योंकि खाने-पीनेके लिए ताजा अन्न और वस्त्रोंके लिए कपास—यह सब कृषिसे[1] ही उत्पन्न होता रहता है। इसी प्रकार गाय, भैंस आदि पशुओंका पालन करनेवालेको अतिथि-सेवाका अभाव और दुःख-प्राप्ति नहीं होती। ऐसे ही विद्यावान् मनुष्यके पास निर्धनता और असत्यता नहीं आती। और सदाचार-निष्ठ पुरुषको कभी भी स्थानहीनता और भाग्यहीनता नहीं होती'—

'अवस्त्रत्वं निरन्नत्वं कृषितो नैव जायते।
अनातिथ्यं च दुःखित्वं गोमतो न कदाचन॥
निर्धनत्वमसत्यत्वं विद्यायुक्तस्य कर्हिचित्।
अस्थानित्वमभाग्यत्वं न सुशीलस्य कर्हिचित्॥'

(प० स्मृ० ५ अ० १८६–१८७)

इस प्रकार अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे यद्यपि अर्थ-शब्दका अर्थ और उसकी परिभाषा बहुत ही व्यापक है, तथापि धनसे ये सभी सुख-साधनकी वस्तुएँ सुलभ हो जाती हैं। अतः धन ही सबका मूब होनेके कारण **'अर्थ'** शब्द लोकमें प्रायः धन-अर्थमें ही अधिक रूढ हो गया है। इसी दृष्टिसे देवी भागवतमें कहा है—

'सुखानां साधनं द्रव्यं, धनात् सुख-समुच्चयः।
धनमर्जय,... ... ...॥'

(दे० भा० १–१५–४२)

धनका अर्थ

धन-शब्दकी व्युत्पत्ति है—[2]**धिनोति, इति धनम्**, अर्थात् जो लोगोंको सुख देता है, तृप्त करता है, प्रसन्न करता है—जिसमें सबको प्रसन्न करनेकी

१—कृषि, खेती-बारीकी रूपरेखा, और अधिक अन्न उपजानेकी शास्त्रीय-पद्धतिको जानकारीके लिए देखिए—'पराशर स्मृति' का दूसरा अध्याय।

२—धिनोति—प्रीणयति, इति धनम्।

तृप्त करनेकी शक्ति है, उसको 'धन' कहते हैं। इसीलिए निरुक्तकार यास्क महर्षिने 'धन' शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार की है—'**धनं कस्मात् ?**' अर्थात् अर्थको धन क्यों कहते हैं? '**धिनोतीति यतः**[१]' इसलिए कि वह सबको तृप्त कर देता है। अथवा '**दधन्ति (फलति) इति धनम्।**' जो फले-फूले यानी फलनेवाली वस्तु। अर्थात् जीवन-व्यवहारोपयोगी अन्न, धन, विद्या, भूमि तथा—समस्त भोग्य-पदार्थोंके विनिमयका साधन। इसीलिए अर्थको 'वित्त' भी कहा जाता है। वित्त-शब्दका अर्थ है—'**वित्तते त्यज्यते इति [२]वित्तम्**' अर्थात् दान और उपभोगमें जिसका उपयोग किया जाता है, उसको वित्त कहते हैं।

अर्थका महत्व

इसीसे व्यवहारमें अर्थका बहुत महत्व है। देवर्षि नारदने कहा है कि 'मनुष्योंकी सारी ही क्रियाएँ अर्थ-मूलक हैं। अतएव उसके उपार्जनमें मनुष्यको महान् प्रयत्न करना चाहिए'—

अर्थमूलाः क्रियाः सर्वा यत्नस्तस्यार्जने मतः।' (ना० स्मृ०)

महर्षि शुक्राचार्य कहते हैं कि—

'निर्धनस्त्यज्यते भार्यापुत्राद्यैः सगुणोऽप्यतः।
संसृतौ व्यवहाराय सारभूतं धनं स्मृतम्।
अतो यतेत तत्प्राप्त्यै नरः सूपायसाहसैः॥'
(शु० नी० ३–१७६)

'अर्थात् निर्धन मनुष्य चाहे कितना ही गुणवान् भी क्यों न हो, तो भी उसके स्त्री, पुत्र, और परिवारवाले उसका कुछ भी आदर नहीं करते—उसका परित्याग कर देते हैं। अतः जगत्में व्यवहारके लिए धनका बहुत बड़ा महत्व है। इसलिए मनुष्यको सत् उपाय, सत् साहस आदि साधनोंके द्वारा अर्थका उपार्जन अवश्य करना चाहिए।'

जिसप्रकार पर्वतोंसे अनेकों झरने और नदियाँ निकलती हैं, वैसे ही न्यायोपार्जित अर्थको भलीभाँति वढ़ाकर, उसे तत्-तत् उपयोगी कार्योंमें लगा देनेपर उससे धर्मसम्बन्धी क्रियाओंके भिन्न-भिन्न स्रोत उत्पन्न होते हैं—

१—निरुक्त ३ अ० २ पाद ३ खण्ड।

२—वित्त + घञ्

'अर्थेभ्यो हि प्रवृद्धेभ्यः प्रवृत्तेभ्य इतस्ततः ।
प्रवर्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवापगाः ॥'

अतएव अर्थका उपार्जन, संवर्धन, संरक्षण एवं सदुपयोग नियमपूर्वक करना चाहिए। अर्थसे परोपकार आदिके द्वारा पुण्योपार्जन करना परलोकके लिए भी सुखका साधन होता है। अर्थसे धर्मानुष्ठान और धर्मके अनुष्ठानसे उत्तम सुख प्राप्त होता है। इसीसे शुक्राचार्यने कहा है—

'यज्ञार्थं द्रव्यमुत्पन्नं यज्ञः स्वर्गसुखाय च ।'

(शु० नी० १ अ०)

अर्थका उपयोग

अर्थका झुकाव धर्म और काम—दोनों ही पुरुषार्थोंकी ओर रहता है; अतः वह धर्म और काम, इन दोनों ही पुरुषार्थोंका मूल है। जैसे नदी अथवा नहरसे उसके अगल-बगल, दोनों ही ओरको जलकी कुल्याएँ (नालियाँ) निकलती हैं—जिनसे कि उसके दोनों ही किनारोंकी भूमि हरी-भरी होती है। ठीक उसीतरह, अर्थ भी धर्म और काम—दोनों पुरुषार्थोंकी ओर चलता हुआ दोनोंको ही परिपुष्ट करता है। अतएव अर्थ धर्म और काम—इन दोनोंका प्राण है। बिना अर्थके न तो धर्म ही सिद्ध हो सकता है और न काम ही सफल हो सकता है। अतः धर्म और काम, इन दोनोका मूल है—अर्थ।

इसीलिए त्रिवर्गकी गणनामें अर्थको 'देहली-दीपक' न्यायसे धर्म और काम, इन दोनोंके मध्यमें रखा गया है। क्योंकि अर्थके बिना धर्म और काम, दोनों ही अपूर्ण रहते हैं। इस दृष्टिसे यद्यपि अर्थके फल धर्म और काम, दोनों हैं, अतः दोनोंमेंसे किसीमें भी अर्थका स्वेच्छया उपयोग किया जा सकता है, तथापि—

'धनाद् धर्मं ततः सुखम् ।'

—के अनुसार अर्थका वास्तविक फल धर्म ही है, काम उसका गौण फल है। अतः अर्थका उपार्जन करके उसका विनियोग धर्ममें न करके केवल कामोपभोगमें ही उसका उपयोग करना—अमूल्य मणिको छोड़कर, निःसार काचको ग्रहण करनेकी जैसी मूर्खता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

'नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।' (१–२–९)

'अर्थात् अर्थोपार्जनका प्रयोजन एकमात्र धर्म है, अतः अर्थ केवल धर्मके लिए है; भोग-विलास उसका (मुख्य) फल नहीं माना गया है।'

इसीलिए धर्मका मूल-स्रोत होनेके कारण ही अर्थको भी पुरुषार्थ माना गया है। त्रिवर्गकी निष्पत्तिके लिए अर्थ एक असाधारण कारण है। इससे धर्म, अर्थ और काम—तीनों ही पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। अतः जगत्‌में अर्थकी बड़ी महिमा है। वह सब सिद्धियोंका मूल है। संसारके छोटे-से बड़े तक जितने भी कार्य हैं, वे सब अर्थपर ही अवलम्बित हैं। कोई भी कार्य ऐसा नहीं, जो कि अर्थसे सिद्ध न हो सकता हो। संसार-भरके सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्राणयात्रा अर्थपर ही निर्भर है।

यद्यपि धन-संग्रह करना, जीवनका आत्यन्तिक लक्ष्य नहीं है, तथापि शरीर-यात्राका निर्वाह एवं देश और समाजके स्थूल अभावको दूर करनेके लिए धनकी विशेष आवश्यकता रहती है। इसलिए मनुष्यको धनागमके लिए भी लौकिक-जगत्‌में अपनी बुद्धिका विनियोग अवश्य ही करना चाहिए।

जैसे शस्त्रास्त्रके विना शूरता नहीं सफल हो सकती, जैसे स्त्रीके विना गार्हस्थ्य नहीं हो सकता। वैसे ही अर्थके विना धर्म और मोक्ष भी नहीं सिद्ध हो सकते। सबसे सुदुर्लभ मोक्ष-पुरुषार्थ भी अर्थसे ही सिद्ध हो सकता है। क्योंकि अर्थका धर्ममें विनियोग करनेसे वह मोक्ष-प्राप्तिका भी कारण हो जाता है। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—अर्थसे मनुष्यके सभी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं—

'अर्थाद् धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि भवेन्नृणाम्।
शस्त्रास्त्राभ्यां विना शौर्यं गार्हस्थ्यं तु स्त्रियं विना॥'

(शु० नी० १-८४)

अर्थ सब गुणोंका मूल

अर्थमें एक सबसे महान्, सबसे उत्तम, गुण यह है कि वह सब गुणों एवं गुणीजनोंके आकर्षणका केन्द्र है। अर्थवालोंके पास सब गुण और गुणीजन किङ्करोंकी तरह दौड-दौड़कर स्वयमेव पहुँच जाते हैं। इसके साथ ही साथ अर्थवान् मनुष्योंके दोष भी गुण बन जाते हैं, अर्थात् छिप जाते हैं। शुक्राचार्यने कहा है—

'तिष्ठन्ति सधनद्वारे गुणिनः किङ्करा इव।
दोषा अपि गुणायन्ते.................................॥'
(शु० नी० १, ७९)

इसीसे शास्त्रोंमें अर्थकी बड़ी महिमा गायी है। यहाँ तक कह दिया है, कि—'बड़े-बड़े विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुष भी धनवृद्धके दरवाजेपर किङ्करोंके समान, हाथ जोड़े खड़े, रहते हैं'—

'विद्यावृद्धास्तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तथैव च।
सर्वे ते धनवृद्धस्य द्वारि तिष्ठन्ति किङ्कराः॥'

अतः अर्थसे सब कुछ सुलभ है—

'यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स सुखी लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः॥'

इसीसे महर्षि चाणक्यने कहा है कि, अर्थवान्‌का सभी लोग विशेष सम्मान करते हैं—

'अर्थवान् सर्वलोकस्य बहुसम्मतः।' (चा० सू० ४-२२)

अर्थमें यह भी एक विलक्षण सामर्थ्य है, कि वह सभीको अपने अधीन कर लेता है और स्वयं किसीके अधीन नहीं होता। इसीसे अर्थकी ओर उपभोग-रहित वृक्ष भी साभिलाष हो जाते हैं—[1]झुक जाते है, तब फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? श्री सोमदेव सूरीने कहा है—

'अर्थेषु उपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः ?'

शुक्रनीतिमें अर्थके उपार्जनपर बड़ा जोर दिया गया है। महर्षि शुक्राचार्यका मत है कि—'संसारमें सभी मनुष्य अर्थके दास हैं, परन्तु अर्थ किसीका दास नहीं होता। अतः मनुष्यको अर्थोपार्जनके लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए'—

'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
अतोऽर्थाय यतेतैव सर्वदा यत्नमास्थितः॥'
(शु० नी० २-८३)

१—भूमिमें जहाँपर धन गड़ा हो, या कोई निधि हो, तो उसके पासके वृक्षोंकी शाखाएँ उस ओर झुक जाती हैं।

इसी बातको महाभारतमें भीष्मपितामहने भी पुष्ट किया है। उन्होंने राजा युधिष्ठिरसे कहा है कि—'महाराज, मनुष्य अर्थका दास है। परन्तु अर्थ किसीका दास नहीं है—यह बात बिलकुल सत्य है। क्योंकि मुझ-सरीखे विरक्त दृढ़व्रत, आबाल-ब्रह्मचारी अर्थात् जितेन्द्रिय-पुरुषको भी, कौरवोंने—अधर्मियोंने, अर्थसे बाँध लिया है—अपने अधीन कर लिया है'—

'अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥'

(म० भा०, भीष्मपर्व)

ठीक ही है। मनुष्योंमें चाहे कितने ही दुर्गुण क्यों न भरे हों, अर्थमें वह शक्ति है कि वह गुण-विहीन, व्यक्तिको भी बड़े-बड़े गुणवानोंका आश्रयणीय (पूजनीय) बना देता है। अर्थ प्राप्त हो जानेसे अतिक्षुद्र व्यक्ति भी महान् और अकुलीन भी कुलीन बन जाते हैं। सोमदेव सूरीने कहा है कि—

'न खलु कुलाचाराभ्यां पुरुषः सर्वोऽपि सेव्यतामेति, किन्तु वित्तेनैव।'
'स खलु महान् कुलीनश्च यस्य धनमनूनम्।'

(नीतिवाक्यामृत-अर्थ-समुद्देश)

'अर्थात् सभी मनुष्य उत्तम-कुल एवं सदाचारमात्रसे ही लोकाराध्य नहीं हो सकते, अपितु केवल एक वित्तसे ही मनुष्य लोक-पूज्य हो सकता है। इसलिए संसारमें सबसे महान् और कुलीन वही गिना जाता है, कि जिसके पास धनकी कमी न हो।'

इसीकारण विरक्त संन्यासी भी धनवान् लोगोंके चाटुकार बन जाते हैं। सोमदेवसूरीने कहा है—

'धनिनो यतयोऽपि चाटुकाराः।' (नी० वा० व्यव० समु० ४४)

अस्तु। इसके विपरीत अर्थ-विहीन व्यक्तिको कोई भी नहीं पूछता—चाहे वह देवराज इन्द्र ही क्यों न हो; लोग उसका आदर नहीं करते—

'महेन्द्रमपि अर्थहीनं न बहुमन्यन्ते लोकः।'

(चा० सू० ४–३३)

अर्थहीन मनुष्यको और तो क्या, साक्षात् उसकी सहधर्मिणी, पत्नी भी अपमानित करती है। महर्षि चाणक्यने कहा है कि

'अधनः स्वभार्ययापि अवमन्यते।' (चा० सू० ४।६०)

निर्धन मनुष्य चाहे कितनी भी अच्छी बात क्यों न कहे, परन्तु उसे कोई भी ग्रहण नहीं करता—

'हितमप्यधनस्य वाक्यं न गृह्यते ।' (चा० सू० ४.५९)

ठीक ही है; गुणग्राही भ्रमर भी पुष्प-विहीन आम्र-वृक्षका समादर नहीं करते । इसके अतिरिक्त अर्थवान् व्यक्ति यदि किसीको कुछ भी न दे, तो भी सभी लोग उसका बड़ा सम्मान करते हैं । चाणक्यने कहा है कि—

'अदातारमपि अर्थवन्तम् अर्थिनो न त्यजन्ति ।'

(चा० सू० ४ २६)

निर्धनता

अतः निर्धन मनुष्य निराश एवं असहाय हो जाता है । इसीलिए सोमदेवसूरीने लिखा है कि—'धन और बान्धवसे हीन मनुष्यके लिए नगरकी भूमि भी, सुनसान अरण्यभूमि हो जाती है । और श्रीमान्‌के लिए भयंकर अरण्य भी राजधानी बन जाता है —

'अधनस्याबान्धवस्य च जनस्य मनुष्यवत्यपि भूमिर्भवति महाटवी । श्रीमतो भवत्यरण्यमपि राजधानी ॥' (नी० वा०, अर्थ समुद्देश)

इतना ही नहीं, किन्तु निर्धन मनुष्य बुद्धि-हीन भी हो जाता है । चाणक्यने कहा है कि—'निर्धनको बुद्धि ही नहीं होती ।'

'अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते ।' (चा० सू० ४–५८)

अतः निर्धनता सम्पूर्ण आपत्तियोंकी जननी है । महर्षि चाणक्यने कहा है कि दरिद्रता मनुष्यके लिए जीतेजी ही मरण है—

'दारिद्र्यं खलु पुरुषस्य मरणम् ।' (चा० सू० ४–२४)

दरिद्रतासे क्या-क्या अनर्थ उत्पन्न होते हैं—इसपर शास्त्रकारोंने बहुत विचार किया है :—

'दारिद्र्याद् ध्रियमेति ह्रीपरिगतः सत्वात् परिभ्रश्यते
निःसत्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्धया परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥'

(हितोपदेश, मित्र० १२५)

'अर्थात् निर्धनतासे मनुष्यको लज्जा आती है। लज्जासे बलकी क्षीणता होती है। निर्बलका सभी लोग तिरस्कार करते हैं। अपकार होनेपर शोक प्राप्त हो जाता है। शोकाकुल मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। बुद्धि भ्रष्ट हो जानेसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है। इसलिए निर्धनता समस्त आपत्तियोंकी जननी है।' इसी कारण नीति-वाक्यमृतमें भी कहा है कि—'मनुष्यके लिए दारिद्र्यसे बढ़कर और कोई कलङ्क ही नहीं है। क्योंकि उसके संसर्गसे मनुष्यके सब गुण निष्फल हो जाते हैं :'—

'न दारिद्र्यात् परं पुरुषस्य लाञ्छनमस्ति,
यत्सङ्गेन सर्वे गुणा निष्फलतां यान्ति।'

(व्यवहार समुद्देश ४२ वाक्य)

इसपर भी निर्धनताके साथ यदि विद्वत्ता न हो, अर्थात् कुटुम्बमें यदि कोई विद्वान् न हो तो फिर मूर्ख-कुटुम्बियोंका जीवन तो और भी कष्टमय हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है कि—

'अबुध कुटुम्बी जिमि धनहीना।'

अर्थागम

अर्थका आगम होते रहनेसे मनुष्योंको जल्दीसे बुढ़ापा नहीं घेरता है। क्योंकि अर्थमें ऐसा बल है कि वह मनुष्योंकी गयी हुई जवानीको फिरसे लौटा ले आता है। इसीसे कहा गया है कि—

'अर्थो नराणां पतिरङ्गनानां वर्षा नदीनाम् ऋतुराट् तरूणाम्।
स्वधर्मचारी नृपतिः प्रजानां गतं गतं यौवनमानयन्ति॥'

(सु० र० भा०)

इसीलिए मनुष्यलोकके छः सुखोंमें अर्थागमको सबसे प्राथमिकता दी गयी है—

'अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥'

अस्तु।

संसारके समस्त कार्य एकमात्र अर्थके ही आश्रित रहते हैं—इसीलिए चाणक्य महर्षिने कहा है कि—

'अर्थमूलं कार्यम्।' (चा० सू० १-९१)

अतएव प्रत्येक मानवको अपने-अपने कर्तव्यद्वारा न्यायमार्गसे अर्थका उपार्जन भी अवश्य करना चाहिए। साथ ही अर्थ-प्राप्तिसे पूर्ण सन्तोष भी नहीं कर लेना चाहिए। सोमदेव सूरीने लिखा है कि—'जो व्यक्ति अर्थ-प्राप्तिसे सन्तोष कर लेता है, उसको लक्ष्मी त्याग देती है'—

'अर्थ-तोषिणं श्रीः परित्यजति।' (नी० वा० अर्थ सम्०)

महाकवि श्रीमाघने भी कहा है कि—जो मनुष्य थोड़ी-सी सम्पत्ति पाकर, उतनेसे ही, अपनेको पूर्ण समझ लेता है, उसका भाग्य उतनेसे ही कृतकृत्य होकर फिर उसकी विभूतिको अधिक नहीं बढ़ाता'—

'सम्पदा सुस्थिरम्मन्यो भवति स्वल्पया तु यः।
कृतकृत्यो विधिस्तस्य न वर्धयति तस्य ताम्॥'

(शि० व० म० का० २)

इसीसे महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—

'न यथेष्टव्ययायालं संचितं तु धनं भवेत्।
सदागमाद् विना कस्य कुबेरस्यापि नाञ्जसा॥'

(शु० नी० १–१८०)

अर्थशास्त्रज्ञोंके सिद्धान्तानुसार अर्थकी एषणा मनुष्यके दुर्व्यसनोंमें नहीं गिनी जाती। महर्षि चाणक्यने कहा है—

'अर्थैषणा न व्यसनेषु गण्यते।' (चा० सू० १ अ० ७२)

इसी अभिप्रायको मनमें रखकर महाराज भर्तृहरिने जाति, गुण, पुरुषार्थ आदि सब बातोंकी अपेक्षा अर्थोपार्जनपर ही अधिक जोर दिया है। उन्होंने कहा है—कि मनुष्यको अर्थका उपार्जन ऐसी लगनके साथ करना चाहिए कि—

'जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छतु
शीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु नः केवलं
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे॥'

(नीति-शतक)

'अर्थात् जाति भले ही रसातलमें क्यों न चली जाय, और गुण-गण उसके भी नीचे चला जाय, शील पर्वतके शिखरसे नीचे गिर जाय और

कुलमें भी भले ही आग लग जाय ? शौर्यरूपी वैरीपर भी शीघ्र ही वज्र गिर पड़े ? हमें तो बस्, केवल वह अर्थ मिलना चाहिए, कि जिस एकके विना मनुष्यके ये समस्त गुण, तिनकेके टुकड़ेके समान, अर्थात् अत्यन्त ही तुच्छ प्रतीत होते हैं।'

अतः अर्थके दोषोंसे बचकर यदि न्यायसे उसका उपार्जन एवं यथोचित उपयोग किया जाय, तो फिर अर्थकी बराबरी कोई भी नहीं कर सकता। अर्थसे मनुष्योंके सभी शुभकार्य बड़ी सरलतासे सिद्ध हो सकते हैं। कौटल्यने कहा है—

'नास्ति धनवतां सुकर्मसु श्रमः।' (चा० सू० ५)

इसीलिए आयुर्वेदके मर्मज्ञ महर्षि चरकने अपनी चरक-संहितामें तीन एषणाओंका निरूपण करते हुए प्राणैषणाके अनन्तर धनैषणापर भी जोर देते हुए कहा है कि—प्राणैषणाके अनन्तर धनका ही अन्वेषण करना चाहिए। क्योंकि सब दुःखोंसे बड़ा दुःख है—'निर्धन'[1] व्यक्तिका दीर्घजीवी होना।' अतः मनुष्यको धनके उपार्जनके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उसके उपाय हैं—कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, राजसेवा इत्यादि। इसके अतिरिक्त सत्पुरुषोंके लिए अगर्हित और भी जीविकाकी अभिवृद्धि करनेवाले जो उपाय हैं, उनको भी जानना चाहिए और उनका अनुष्ठान भी करना चाहिए। क्योंकि अर्थोपार्जन करनेसे मनुष्य दीर्घजीवी तथा लोगोंमें सम्माननीय होता है'—

'तिस्रः, एषणाः पर्यैष्टव्या भवन्ति–प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकैषणेति।' (चरक सं० ११–३)

'अथ द्वितीयां धनैषणामापद्येत। प्राणेभ्यो ह्यनन्तरं धनमेव पर्यैष्टव्यं भवति। न ह्यतः पापात् पापीयोऽस्ति, यदनुपकरणस्य दीर्घमायुः। तस्मादुपकरणानि पर्यैष्टुं यतेत। तत्रोपकरणोपायाननु व्याख्यास्यामः। तद्यथा—कृषि-पाशुपाल्य-वाणिज्य-राजोपसेवादीनि। यानि चान्यान्यपि सतामविगर्हितानि कर्माणि वृत्तिपुष्टिकराणि विद्यात्तान्यारभेत कर्तुम्। तथा कुर्वन् दीर्घजीवितं जीवत्यनवमतः पुरुषो भवतीति द्वितीया धनैषणा व्याख्याता भवति॥' (चरक संहिता–१०–५)

इसलिए अर्थका उपार्जन भी मनुष्यके लिए, धर्मोपार्जनके समान ही, प्रतिदिन अपेक्षित है। अर्थके उपार्जनके लिए भी अर्थकी ही अपेक्षा

१. उपकरण-विहीन।

होती है। धन-हीन व्यक्ति अनेकों प्रयत्नोंसे भी अर्थका उपार्जन नहीं कर सकता। जैसे गजका बन्धन गजसे ही हो सकता है, वैसे हो अर्थका उपार्जन भी अर्थसे ही होता है, केवल बुद्धि और पौरुषमात्रसे नहीं—

'गजेन गजबन्धनमिव, अर्थैनार्थोपार्जनं,
न केवलाभ्यां बुद्धिपौरुषाभ्याम्।'

(नी० वा० अ०)

विनय

अर्थकी प्राप्ति एवं उसकी सुरक्षाका मूल कारण है—विनय। विनयको ही शील भी कहते हैं। विनय-गुणसे मनुष्य अर्थ प्राप्तिका अधिकारी हो जाता है। विनयकी प्राप्ति होती है—विद्यासे। इसीलिए कहा गया है कि—

'विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धन-माप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम्॥'

विनयका लक्षण है—जितेन्द्रियता अर्थात् इन्द्रिय-संयम। इन्द्रिय-संयम समस्त पुरुषार्थोंकी प्राप्तिका मूल है।। इसीलिए भगवान् मनुने कहा है कि—'मनुष्य अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करके सब पुरुषार्थोंको सिद्ध कर सकता है'—

'वशीकृत्येन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थान् अक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥'

(२–१००)

इसीलिए धर्मराज युधिष्ठिरके अपार वैभवको देखकर, उसके लिए ईर्ष्यापूर्वक तरसते हुए दुर्योधनसे, उसके पिता धृतराष्ट्रने कहा है कि—

'यदीच्छसि श्रियं तात यादृशी सा युधिष्ठिरे।
विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान् भव पुत्रक॥
शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत्॥'

(म० भा० शा० प० १२–२७)

'अर्थात् महाराज युधिष्ठिरके पास जैसी सम्पत्ति है वैसी, या उससे भी विशिष्ट सम्पत्तिको यदि तुम प्राप्त करना चाहते हो, तो बेटा, शीलवान् बनो? क्योंकि शीलके द्वारा मनुष्य तीनों ही लोकोंपर विजय प्राप्त कर

सकता है। शीलवानोंके लिए विश्वमें कुछ भी असाध्य नहीं है।' इसीलिए महर्षि पराशरने कहा है कि—शीलवान् व्यक्तिको स्थानका अभाव और भाग्यहीनता नहीं रहती है—

अस्थानित्वमभाग्यत्वं न सुशीलस्य कर्हिचित्।'

(प० स्मृ० १–१०७)

इसके विपरीत, शीलहीन मनुष्य यदि कभी कहीं अर्थको प्राप्त कर भी लेते हैं, तो भी वे चिरकालतक उसका उपभोग नहीं कर पाते हैं और आखीरमें जड़मूल सहित नष्ट हो जाते हैं—

'यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित्।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते॥'

(शा० प० १२४–६९ (

इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'जो मनुष्य जितेन्द्रिय तथा विनीत न हो, वह धर्म और अर्थका उपार्जन ठीकतरहसे नहीं कर सकता'—

'शुश्रूषुरपि धर्मस्य पुरुषोऽनियतेन्द्रियः।
नालं वेदयितुं कृत्स्नौ धर्मार्थाविति मे मतिः॥
तथैव तावन्मेधावी विनयं यो न सेवते।
न च किञ्चन जानाति सोऽपि धर्मार्थनिश्चयम्॥'

(सौ० पर्व ५–२)

उद्योग

अर्थ-प्राप्तिका मूल कारण 'उद्योग' है। अतः विद्योपार्जनके अनन्तर अपनी-अपनी योग्यता एवं अधिकारके अनुसार, मानवको उचित पद्धतिसे अर्थोपाजनके लिए प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि 'उद्योगशील पुरुषको ही अर्थकी प्राप्ति होती है।[1] उद्योग करते हुए भी मनुष्यमें यदि गुण नहीं, तो उसे अर्थ प्राप्त नहीं होता। क्योंकि सम्पत्ति गुणवान्को ही वरती है। अतः पहले विद्या और विनयका सम्पादन करके अपनेमें गुणोंका आधान करके तब अर्थोपार्जनके लिए उद्योग करना चाहिए। क्योंकि जनानुरागके बिना अर्थकी प्राप्ति नहीं होती और सद्गुणोंके बिना जनानुराग नहीं हो सकता है—

१—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।

'जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणाधिके पुंसि जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः॥'

इसलिए मनुष्यको चाहिए कि विद्याका उपार्जन करके पूर्णतया विनयको प्राप्त करे। तदनन्तर अर्थोपार्जन करने के लिए, अपने-अपने कर्तव्यके अनुसार सद्विद्या, सत्सेवा, शूरता, कृषि, व्याज, व्यापार, कला और प्रतिग्रह अथवा अन्यान्य उपायोंद्वारा भी यथासाध्य उद्योग करे। महर्षि शुक्राचार्यने कहा है—

'अतोऽर्थाय यतेतैव सर्वदा यत्नमास्थितः।
सुविद्यया सुसेवाभिः शौर्येण कृषिभिः सदा॥
कौसीदवृद्धया पण्येन कलाभिश्च प्रतिग्रहैः।
यया कया चापि वृत्त्या धनवान् स्यात्तथाऽऽचरेत्॥'

(शु० नी० ३–१७७)

महर्षि चाणक्यने कहा है कि—'उद्योगी पुरुषोंका आजीविकाका भय नहीं रहता है[1]। इसीलिए आलस्यको त्यागकर उत्साह-सम्पन्न होकर भाग्य और ईश्वरपर विश्वास रखते हुए जो लोग उद्योग-शील होते हैं, उनको लक्ष्मी स्वयं खोज-खोज करके वर लेती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्यको और विशेषतः राजाको सदैव उद्योगी होना चाहिए। राजनीति-प्रकाशमें कहा है—

'त्यक्तालसान् दैवपरान् मनुष्यान्
उत्थानयुक्तान् पुरुषान् हि लक्ष्मीः।
अन्विष्य यत्नाद् वृणुते नृपेन्द्रं
तस्मात् सदोत्थानवता हि भाव्यम्॥'

(रा० प्र० ३१४ पृ०)

अस्तु। उद्यम करनेपर भी, भाग्यमें न होनेसे, कभी-कभी गुणवानोंको भी सफलता नहीं मिलती है। विष्णुपुराणमें कहा है कि—

'सर्व एव महाभाग महत्त्वं प्रति सोद्यमाः।
तथापि पुंसां भाग्यानि, नोद्यमा भूतिहेतवः॥'

(वि० पु० १–१९–४४)

'अर्थात् महत्वको प्राप्त करनेके लिए उद्यम तो सभी लोग करते हैं।

१—'नोद्योगवतां वृत्तिभयम्।' (चा० सू० ४–२९)

तथापि वैभवकी प्राप्तिका कारण मनुष्योंका भाग्य ही है, उद्यम नहीं।' इसी कारण अविवेकी, निर्बल और अनीतिज्ञ व्यक्तियोंको भी भाग्यवश नानाप्रकारके सुखभोग एवं राज्यादि वैभव प्राप्त हो जाते हैं और अच्छे-अच्छे गुणवान्, विवेकी, विद्वानोंको भी धनाभाव होता है। तथापि इससे हृतोत्साह होकर मनुष्यको उद्यमका परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि अर्थकी प्राप्तिका मुख्य उपाय तो धर्म है। अतः अर्थाभिलाषीको धर्मानुष्ठानमें और-अधिक जोर लगाना चाहिए। इसीसे महाभारतमें इसविषयमें बहुत विचार-विमर्शके बाद यह राय दी गयी है, कि—भाग्य-हीन धनेच्छुको और-अधिक उग्र तप करना चाहिए—

'ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम्।
उग्रं तपः समारोहेन्न ह्यनुप्तं प्ररोहति॥' (अनु० १६३-११)

'अर्थात् बड़े-से-बड़ा प्रयत्न करता हुआ भी यदि मनुष्य धन आदि अभिलषित वस्तुओंको प्राप्त न कर पाये, तो उसे चाहिए कि वह और-अधिक तप करे—घोर-से-घोर तप करे। क्योंकि बिना बोये बीज उगता नहीं है, अर्थात् तपस्याके विना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।' इसीलिए विष्णु-पुराणमें भी कहा गया है कि जिसको महान् वैभवकी इच्छा हो, उसको केवल पुण्यके सञ्चयमें प्रयत्न करना चाहिए'—

'तस्माद् यतेत पुण्येषु य इच्छेन्महतीं श्रियम्।' (१-१९-४६)

इसीलिए मत्स्य-पुराणमें कहा है कि—'जो मनुष्य धर्मका सञ्चय करता है, जो अत्यन्त तितिक्षा करता है, और जो तपस्या करके सन्ताप नहीं करता है, वह व्यक्ति बहुत बड़े अर्थका भागी होता है'—

'यस्तु भावयते धर्मं योऽतिमात्रं तितिक्षति।
यश्च तप्तो न तपति भृशं सोऽर्थस्य भाजनम्॥'
(मत्स्य पु० २८-५)

इसीसे शिवपुराणमें अर्थहीन पुरुषके लिए, अर्थ-प्राप्तिके दो उपाय बतलाये हैं—तप और तीर्थाटन।

'अर्थहीनः सदा कुर्यात् तपसामर्जनं तथा।
तीर्थाच्च तपसा प्राप्यं सुखमक्षय्यमश्नुते॥'
(वि० सं० १-१-६२)

महर्षि चाणक्यने लिखा है कि—'मनुष्यको चाहिए कि वह अपनेको सदा अजर और अमर समझकर, सब तरहके अर्थोंका अच्छीतरह उपार्जन करे—

'अजरामरवत् अर्थजातमार्जयेत् ।' (चा० सू०)

महर्षि शुक्राचार्यने भी इसी बातको पुष्ट किया है—

'जीवामि शतवर्षं तु नन्दामि च धनेन वै ।
इति बुद्ध्या सञ्चिनुयाद् धनं विद्यादिकं तथा ॥'
(शु० नी० २–७३)

'अर्थात् मैं बहुत दीर्घजीवी होकर धनके द्वारा खूब सुख भोगूँगा—ऐसा समझकर मनुष्यको सदैव धन और विद्या आदि अर्थका सञ्चय करते ही रहना चाहिए ।'

अर्थ-प्राप्ति

अर्थकी प्राप्ति एवं अभिवृद्धिका सबसे मुख्य उपाय है—'बुद्धि, अर्थात् सद्बुद्धि । श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—'अर्थकी उत्पत्ति सद्बुद्धिसे होती है—

'अर्थं बुद्धिरसूयत ।' (४–१–५१)

बुद्धिके बिना, इतर उपायोंसे अर्थकी अभिवृद्धि नहीं हो सकती । इसीसे शुक्रनीतिमें कहा है कि—'बुद्धिवान्का थोड़ा-सा भी अर्थ दिन-पर-दिन बढ़ता ही चला जाता है । शूरता, नीति, बल और धन, इन चार उपायोंसे पशु-पक्षी भी वशमें हो जाते हैं'—

'नित्यं बुद्धिमतोऽप्यर्थः स्वल्पकोऽपि विवर्धते ।
तिर्यञ्चोऽपि वशं यान्ति शौर्यनीतिबलैर्धनैः ॥'
(शु०–नी०–२ २८)

अर्थोपार्जनके विषयमें यह भी जान लेना आवश्यक है कि भूमि, गृह, धन, सम्पत्ति, विद्या, कला—आदि जीवनोपयोगी वस्तुओंका नाम 'अर्थ' है, जैसा कि आरम्भमें कहा जा चुका है । अतः जीवनके लिए इन सभीका उपार्जन करना प्रत्येक मानवके लिए अत्यावश्यक है । अतः इनके अर्जनके लिए पुरुषार्थ अर्थात् उद्योग करना भी नितान्त आवश्यक है । श्रद्धापूर्वक उद्योग करनेवाला व्यक्ति सर्वथा असफल नहीं होता ।

दृढ़ पौरुषके द्वारा मनुष्यका अभीष्ट अवश्य ही सिद्ध होता है। इसीलिए त्रिपुरा-रहस्यमें उद्योगपर कितना जोर दिया गया है। देखिए—

'श्रद्धया पौरुषपरो न विहन्येत सर्वदा।
दृढं पौरुषमाश्रित्य स प्राप्येत यथा फलम्॥
पौरुषात् कर्षका धान्यं वणिजो धनमेव च।
राज्यलक्ष्मीं नृपा विप्रा विद्यां सर्वसुखावहाम्॥
शूद्रा भृतिं सुधां देवास्तापसा लोकमुत्तमम्।
प्राप्तमन्येऽप्यभिमतं पौरुषेणैव कर्मणा।
अतः पौरुषमाश्रित्य श्रद्धामत्यर्थपोषितम्।
श्रेयसां यन्मुख्यतमं साधनं तत्समाश्रयेत्॥'

(त्रि० र० ज्ञानकाण्ड)

'अर्थात् मनुष्य यदि श्रद्धा-पूर्वक उद्योग करनेमें तत्पर रहता है, तो अपने अभीष्ट फलको अवश्य ही प्राप्त होता है। उद्योगसे ही कृषक लोग अन्नको प्राप्त करते हैं। उद्योगसे ही व्यवसायी लोगोंको धन प्राप्त होता है। उद्योगके बलसे ही राजाओंको राज्य और विद्यार्थियोंको उत्तम विद्या प्राप्त होती है। उद्योगसे ही भृत्योंको वेतन, देवताओंको अमृत और तपस्वियोंको उत्तम लोक प्राप्त होते हैं। अतएव मनुष्यको श्रद्धा और बुद्धिपूर्वक उत्साहके साथ उचित उपायसे अपने अभीष्टको प्राप्त करनेका उद्योग करना चाहिए।'

इसीलिए योग-वासिष्ठमें भी पौरुषपर बड़ा जोर देकर कहा है कि—'जिसको जो वस्तु अभीष्ट होती है, उसके लिए उद्योग करते हुए वह यदि बीचमें ही उद्योगको न छोड़े, तो वह वस्तु उसे अवश्य ही प्राप्त होती है'—

'यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात्।
अवश्यं स तदाप्नोति न चेदर्धान्निवर्तते॥'

(४-२२-उ० प्र० ४,५)

अतः जो मनुष्य शास्त्रके अनुसार प्रयत्न करता है, और मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करता है, उसके पास सभी अर्थ इस तरह स्वयं चले आते हैं, जैसे कि रत्नाकरमें रत्न—

'यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्झतः।
उपातिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बुनिधाविव॥'

(यो० वा० मु० प्र० ७-३१)

भाग्यका अपमान

किसी भी व्यक्तिको अपनी अकिञ्चनताके कारण आत्मग्लानि नहीं करनी चाहिए अर्थात् अपने भाग्यको कोसना नहीं चाहिए। क्योंकि जो मनुष्य अपने भाग्यको कोसता है, उसको फिर ऊँची विभूति नहीं प्राप्त होती। इसलिए किसीको भी अपने भाग्यका अपमान कदापि नहीं करना चाहिए। महाभारतमें कहा है—

'नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
न ह्यात्मपरिभूतस्य भूतिर्भवति शोभना॥'

मनुने भी इस बातको पुष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि—'मनुष्यको अपनी पहलेकी असमृद्धि अर्थात् असफलताको देखकर, अपनेको भाग्यहीन समझकर, अपना अपमान कदापि नहीं करना चाहिए। यानी अपने भाग्यको कभी नहीं कोसना चाहिए और अर्थको दुर्लभ कभी न समझना चाहिए। मरते दमतक भी अर्थको प्राप्त करनेके लिए उद्यम करते ही रहना चाहिए—

'नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम्॥'

(म० स्मृ० ४।१३७)

अर्थाभिलाषियोंको यह बात भी सदा ध्यानमें रखनी चाहिए कि—उत्साहहीन, निरुद्योगी, आलसी, अभिमानी, लोकोक्तियोंसे डरनेवाले और केवल भाग्यके भरोसेपर बैठे रहनेवाले लोगोंको अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता। नारदशिक्षामें कहा है कि—

'न शठाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीवा न च मानिनः।
न च लोकरवाद्भीता न च शास्त्रप्रदीपकाः॥'

(ना० शि०)

अस्तु। अर्थोपार्जनके विषयमें उतावलापन (जल्दीबाजी) भी अच्छा नहीं होता। क्योंकि अर्थ धीरे-धीरे ही अर्जित होता है। इसीलिए महर्षि नारदने कहा है कि—जैसे विद्या शनैः-शनैः उपार्जित होती है, पर्वतपर आरोहण भी शनैः-शनैः होता है। वैसे ही अर्थका उपार्जन भी शनैः-शनैः ही होता है—एक ही साथ कोई धनपति नहीं हो जाता—

'शनैर्विद्यां शनैरर्थानारोहेत् पर्वतं शनैः।' (ना० शि०)

'क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम् ॥'

इसीलिए अर्थके उपार्जनमें धृतिका होना, अर्थात् मनुष्यको धैर्यवान् होना भी अत्यावश्यक है। धैर्यके अभावमें मनुष्योंका कोई भी उद्योग सफल नहीं हो सकता। धैर्यके बिना कोई जी ही नहीं सकता। इसीलिए मनुष्योंके जीवनके लिए सामान्यतया दस हेतु बतलाये गये हैं—

'विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवन-हेतवः ॥'

(म० स्मृ० १०–११६)

'अर्थात् विद्या, शिल्प, भृति, सेवा, गोरक्षा यानी पशुपालन, व्यापार, खेती, धृति अर्थात् धैर्य यानी धीरज, भिक्षा और कुसीद (व्याज)—ये दस मनुष्योंकी जीविकाके साधन हैं।' अस्तु।

यहाँ धैर्यको भी जीविकाका साधन बतलाया है। क्योंकि सन्तोषके बिना कोई जी ही नहीं सकता। अतः जीवनका साधन होनेसे धैर्य भी मनुष्योंके लिए एक धन ही है। इसीसे कहा गया है कि—

'जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि-समान ॥'

अस्तु।

महाभारतमें तो अर्थ-प्राप्त होनेके लिए मुख्य दो उपाय बतलाए हैं—'तिरस्कार' और 'क्षमा'।

'अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च'

तिरस्कारको अर्थका मूल इसलिए कहा है कि मनुष्य जबतक निकम्मा होकर पराये-आश्रित बैठे रहता है, अर्थके लिए स्वयं पुरुषार्थ नहीं करता, अर्थात् जबतक मनुष्य परभाग्योपजीवी बना रहता है, तब-तक वह प्रचुर अर्थका भाजन नहीं हो सकता। क्योंकि वह स्वयं महान् बननेका कुछ उद्योग ही नहीं करता है। परन्तु जब वह लोगोंसे या अपने बन्धु-बान्धवोंसे तिरस्कृत होता है—अपमानित होता है, तब उसका स्वाभिमान जग जाता है। तब वह दूसरोंके अधीन न रहकर स्वावलम्बी हो जाता है और स्वयं उद्योग करता है, अतः अर्थशाली हो जाता है। इस तरहसे मनुष्यके लिए अपमान भी, मनुष्यमें स्वावलम्बनकी भावनाको उत्पन्न करके, उसके उन्नतिका कारण बन जाता है।

अर्थको प्राप्त करनेके लिए मनुष्यमें क्षमा-गुणका होना भी नितान्त ही आवश्यक है। क्योंकि असहिष्णुको—क्षमाहीन व्यक्तिको अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए क्षमाको अर्थ-प्राप्तिका उपाय बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त अर्थाभिलाषीको एकाग्र-चित्त होना भी अत्यावश्यक है। क्योंकि चञ्चल-चित्तवालेको अर्थ नहीं प्राप्त होता है। इसीलिए मनुने कहा है कि—

'बकवच्चिन्तयेदर्थान्।' (मनु० स्मृ० ७-१०६)

अर्थका अर्जन न्यायपूर्वक

वैसे तो न्याय, अन्याय, उचित और अनुचित—किसी भी रीतिसे अर्थका उपार्जन हो सकता है, परन्तु ऐसे मनमाने ढङ्गसे अर्थात् अन्यायसे उपार्जित धन अशुद्ध अर्थ होता है। अतः अनुचित मार्गको अपनानेके कारण उसका उपार्जक अधर्मसे निगृहीत हो जाता है।

धनार्जन एवं कामोपभोगकी लालसा और उसके लिए प्रयत्न करना, मनुष्योंके लिए स्वाभाविक है। परन्तु उन्हींको मनुष्य-जीवनका मुख्य लक्ष्य मान लेनेसे उसके लिए झूठ बोलना, चोरी करना, धोखा देना, हिंसा करना—इत्यादि दुराचारोंमें प्रवृति होने लगती है। जनतामें इन दुराचारोंकी (दुष्कर्मोंकी) वृद्धि होनेपर लोक-स्थिति बिगड़ने लगती है। तत्फलस्वरूप क्लेश बढ़ने लगते हैं। इसीलिए मानव-समाजके लिए यह व्यवस्था नितान्त आवश्यक है कि अर्थ और कामको धर्म-सङ्गत रीतिसे ही प्राप्त किया जाय, अधर्म-मार्गसे कथमपि नहीं। क्योंकि इन सबमें धर्म ही प्रधान है। अतः धर्मके अनुसार ही अर्थोपार्जन करना उचित है। इसीलिए महाभारतमें कहा है—

'धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते॥'

(शा० प० १२३-४)

प्राणियोंकी लोकयात्राका धर्मसे अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः बिना धर्मके किसीको भी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अशुद्ध अर्थसे मनुष्यको इसलोक और परलोकमें, कहीं भी—उत्तम सुख नहीं प्राप्त हो सकता और वैसा अर्थ कभी चिरस्थायी भी नहीं हो सकता। अतः अर्थके सुखद तथा चिरस्थायी होनेके लिए मनुष्यके आचरणोंमें पवित्रताका होना बहुत आवश्यक है। इसीलिए शिव-पुराणमें कहा है कि—दुष्कर्मोंसे

प्राप्त होनेवाला धन सदा दुःखदायी होता है, और सत्कर्मसे उपार्जित द्रव्यसे मनुष्यको सदैव सुख प्राप्त होता है। इसीलिए मनुष्यको उत्तम भोग और मोक्षको प्राप्त करनेके लिए शुद्ध मार्गसे अर्थका उपार्जन करना चाहिए—

'विद्याद् दुर्वृत्तितो दुःखं सुखं विद्यात् सुवृत्तितः।
धर्मार्जनमतः कुर्याद् भोगमोक्ष-प्रसिद्धये॥'
(शि० पु० वि० स० १,१-५८)

अर्थके पवित्र होनेसे ही मनुष्यके मन, बुद्धि, शरीर और इन्द्रिय तथा उनके प्रत्येक विषयोंमें पवित्रता आती है। इसीसे महर्षि शुक्राचार्यने न्यायसे अर्थोपार्जनपर बड़ा जोर दिया है—

'न स्यात् स्वधर्महानिस्तु यथा वृत्त्याहि सा वरा।'
(शु० नी० २-६३)

भगवान् मनुने कहा है कि मनुष्य केवल मिट्टी और जलसे पवित्र नहीं होता। किन्तु जो अर्थके विषयमें पवित्र है, जिसके अर्थोपार्जनका मार्ग अर्थात् लेन-देन आदि व्यवहार पवित्र हैं, वही मनुष्य वास्तवमें पवित्र है—

'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।' (५।१०६)

अर्थका पात्र

शुद्ध अर्थको प्राप्त करनेके लिए मनुष्यको अर्थका पात्र होना चाहिए। पात्र बनानेके लिए विद्या, विनय और सदाचारकी अपेक्षा होती है। विद्याके विना सत्, असत्, उचित और अनुचितका परिज्ञान ही नहीं हो सकता। विनय और सदाचारके विना अर्थकी सुरक्षा और उसका यथोचित विनियोग नहीं होता। इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्यने भी कहा है कि—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥'
(आ० २००)

महर्षि शुक्राचार्यजीने अर्थके पात्र और अपात्रका यह लक्षण बतलाया है—

'स्वागमी सद्व्ययी पात्र-मपात्रं विपरीतकम्।' (शु० नी०)

अर्थात् जिसके अर्थागमका मार्ग शुद्ध है और व्यय भी शुद्ध है, यानी जो सत्कर्मसे अर्थका अर्जन करता है और सत्कार्यमें उसका व्यय करता है, वही व्यक्ति अर्थका योग्यतम पात्र है। इसके विपरीत जिसके अर्थागमका मार्ग पवित्र नहीं है, और जिसका अर्थ असत्कार्यमें व्यय होता है, वह व्यक्ति अर्थका पात्र नहीं है, वह अपात्र है। राजाको, शासकको चाहिए कि अपात्रके धनको हर ले—

'अपात्रस्य धनं सर्वं हरेद् राजा न दोषभाक्। (शु० नी०)

अर्थात् जो व्यक्ति अनीतिसे, अन्यायसे अर्थका उपार्जन करता है असत्कार्योंमें उसका व्यय करता है, उसका सब धन राजाको छीन लेना चाहिए, इससे वह दोषी नहीं होता। महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि 'जो व्यक्ति जिससे अन्यायतः, भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि अवैध नियमोंसे अर्थको ग्रहण करता है, और जो अन्यायसे ऐसोंको अर्थ देता है—वे दोनों ही पापके भागी होते हैं। जो अर्थ सत्पात्रसे सद्विधिसे ग्रहण किया जाता है, अथवा सत्पात्रको दिया जाता है, वह अर्थ बढ़ता ही चला जाता है—

'अन्यायेनार्जितो यस्माद् येन तत्पापभाक् च सः।
सुपात्रतो गृहीतं यद् दत्तं वा वर्धते च तत्॥'

(शु० नी)

अर्थ-शुद्धि

अर्थका सम्बन्ध हो जानेपर मनुष्यके मनका पवित्र रहना भी साधारण बात नहीं है, बहुत ही कठिन है। क्योंकि जिसका चित्त अर्थमें मोहित हो जाता है, वह व्यक्ति गर्हितसे भी गर्हित कर्म कर सकता है। जो लोग अर्थपर आसक्त हो जाते हैं, उन्हें अधर्म और नरकका भय ही नहीं रहता है। अर्थमें अधिक आसक्ति हो जानेपर फिर उससे चित्तको हटाना भी अतिदुष्कर हो जाता है। स्कन्द-पुराणमें कहा है कि—

'नरकार्णवभीतिः क धनापहृतचेतसाम्।
धनेषु लग्नं हि मनः केन संह्रियते पुनः॥'

(स्क० पु० का० र० २२-३)

इसीलिए महाभारतमें इस विषयपर बहुत विचार-विमर्श पूर्वक कहा है कि 'धन और नारी—इन दोनोंकी अवस्था एक-सी होती हैं। ये दोनों

ही मनुष्योंको कल्याणके मार्गमें जानेसे रोकते हैं, अर्थात् उन्हें मोहित कर लेते हैं। स्त्रियाँ रति-जनित आमोद-प्रमोदके द्वारा मनको हर लेती हैं, और धन भोगोंके द्वारा धर्मका ह्रास कर देता है—

'अर्थाश्च नार्यश्च समानमेतच्छ्रेयांसि पुंसामिह मोहयन्ति।
रतिप्रमादात् प्रमदा हरन्ति भोगैर्धनं चाप्युपहन्ति धर्मान्॥'

(शा० प० अनु० पर्व २२–४१)

इसीलिए भगवान्‌की मायाशक्तिपर अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करते हुए महर्षि शुक मुनिने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

'अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं
घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति।
ध्यायन्नसद् यर्हि विकर्म सेवितुं
निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति॥' (५–१८–३)

'अर्थात् भगवान्‌की लीला बड़ी ही विचित्र है। यह अज्ञानी जीव समस्त लोकोंका संहार करनेवाले कालको देखकर भी नहीं देखता और तुच्छ विषयोंका सेवन करनेके लिए, हर समय पापमय विचारोंकी ही उधेड़-बुनमें लगा रहता है। अपने ही हाथोंसे अपने पुत्र और पिताके देहको चितामें जलाकरके भी, स्वयं जीनेकी इच्छा करता है।'

इसीसे महाकवि श्रीभारविने कहा है कि—

'मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः।
तौ हि तत्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ॥'

(किराता० ११।२०)

'अर्थात् अर्थ और काम, ये दोनों ही हिंसा, अनृत, स्तेय आदि दोषोंके मूल कारण हैं। अतः ये दोनों ही मोक्षके साधन तत्वज्ञानके दुरुच्छेद्य विघ्न है।' इसीलिए शास्त्रोंमें कहा है कि—स्त्रीकामी और अर्थकामी लोग क्या-क्या पाप नहीं करते ?

'स्त्रीकामा धनकामाश्च किं न कुर्वन्ति पातकम्।'

संसारमें कोई विरले ही ऐसे लोकोत्तर महापुरुष होते हैं, जो कि अर्थकी प्राप्ति और परायी सुन्दरीका दर्शन होनेपर शुद्धचित्त रह सकते हैं, अर्थात् चित्तको विकृत नहीं होने देते ? अन्यथा सभी लोग तभीतक पवित्र और निःस्पृह होते हैं, जबतक कि परायी सुन्दरीका दर्शन तथा अर्थकी

प्राप्ति न हो जाय ? अर्थात् अर्थकी प्राप्ति होते ही मनुष्यके मनकी पवित्रता हवा हो जाती है। सोमदेव सूरीने यह कितना स्पष्ट कहा है—

'तावत् सर्वोऽपि शुचिर्निःस्पृहो वा
यावन्न परवरस्त्री-दर्शन-मर्थाधिगमो वा ॥'

(नी० वा० अर्थ समु०)

इसलिए परस्त्री और परद्रव्यपर जिनका मन नहीं ललचाता, वे वास्तवमें बड़े पुण्यात्मा हैं। इसीलिए महर्षि पराशरने कहा है कि—

'परपत्नी-परद्रव्य-परहिंसासु यो मतिम्।
न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः ॥'

(वि० पु० ३-८,१४)

अर्थात् जो मनुष्य परस्त्री, परद्रव्य और परहिंसाकी इच्छा नहीं करता है, उसपर भगवान्, उतनेसे ही, अतीव सन्तुष्ट हो जाते हैं।

इसलिए प्रत्येक मनुष्यको अर्थोपार्जनके विषयमें बहुत ही सावधान रहनेकी आवश्यकता है। पवित्र अर्थमें, परिश्रमकी कमाईमें बड़ी शक्ति (बरक्कत) होती है। वैसे धनकी रक्षाके लिए भी मनुष्यको अधिक चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। इतर धनकी अपेक्षा वह अपने आप अधिक सुरक्षित रहता है। अस्तु।

इस विवेचनसे सिद्ध हुआ कि—अर्थ दो तरहका होता है—(१) शुद्ध और (२) अशुद्ध अर्थात् मलिन। शुद्ध अर्थसे सुखशान्ति प्राप्त होती है, अशुद्धसे क्लेश और अशान्ति बढ़ती है। इसी अभिप्रायको स्कन्द पुराणमें व्यक्त किया है—

'द्विविधं धनमित्याहुः पण्डिताः पारदर्शिनः।
एकं बन्धाय पापानाम् अपरं मोक्षसाधनम् ॥
काम्यं विषयभोगार्थमिहामुत्र प्रयुज्यते।
मोक्षाय सुकृतं तद्धि ब्रह्मार्पणधिया कृतम् ॥'

(स्कं० पु० का० र० ३३-४,६)

लोभ

जैसे-जैसे लाभ होता है, तृष्णा बढ़ती जाती है। लाभ लोभको बढ़ा देता है। अतः दो मासा सुवर्णसे सम्पन्न होनेवाला कार्य करोड़ोंसे भी पूरा नहीं होता। तीर्थङ्कर वर्धमानने कहा है कि—

'जहा लाहा तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।'

(उ० ९-४७)

इसी कारण तरह-तरहके धन-धान्य तथा सोना, चाँदी और पशुओंसे भरीहुई यह सारी पृथिवी भी लोभीकी तृष्णाको शान्त करनेमें असमर्थ है। अस्तु।

हमें धन आवश्यक है। तो भी उसमें अत्यन्त आसक्त होकर केवल उसीके कमानेमें ही अधिकाधिक लालायित रहना, तथा उसका उचित उपयोग न करना दोष है। अर्जित अर्थका सत्कर्मोंमें उपयोग करना उचित है। शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि, अर्जित धनके पाँच भाग करना चाहिए—एक भाग यज्ञादि सत्कर्मोंमें लगानेके लिए। दूसरा भाग पुण्यदेश और पुण्यकालमें सत्पात्रोंको देनेके लिए। तीसरा भाग आगे धन-वृद्धिके उपायोंमें लगानेके लिए। चतुर्थभाग अपने जीवन-निर्वाहके लिए। और पाँचवाँ भाग बन्धु-बान्धवोंके लिए विभक्त करना चाहिए। परन्तु कई लोग इस शास्त्रार्थको न मानते हुए, कमाये हुए धनको बढ़ातेहुए अपने पास ही रक्खे रहते हैं। यह भी एक दुर्गुण है। इसे ही लोभ कहते हैं। इस दुर्गुणसे युक्त पुरुष सत्कार्यके लिए कुछ भी खर्च नहीं करता, अतएव लोकमें सबसे निन्दित होकर नरकका भागी बनता है। लोभ सब पापोंका मूल है। देवी-भागवतमें कहा है कि—'लोभ मनुष्योंके देहमें रहनेवाला उनका महान् शत्रु है। लोभकी पत्नी तृष्णा है, वह लोगोंकी मतिको ढाँक देती है।' लोभ त्रिवर्गका विरोधी है तथा सब दुःखोंका कारण है। लोभसे ही मनुष्य अपने धर्मका, और अपने कुलधर्मका परित्याग करते हैं। लोभी मनुष्य माता, पिता, भाई-वन्धुओंकी हत्या कर डालते हैं। लोभाविष्ट मानव पापमें मोहित होकर क्या-क्या दुष्कर्म नहीं कर डालता है ?'—

'लोभ एव मनुष्याणां देहसंस्थो महान् रिपुः।
सर्वदुःखाकरः प्रोक्तो दुःखदः प्राणनाशकः॥
सर्वपापस्य मूलं हि सर्वथा तृष्णयान्वितः।
विरोधकृत्त्रिवर्गाणां सर्वार्तेः कारणं तथा॥
लोभात् त्यजन्ति धर्मं वै कुलधर्मं तथैव हि।
मातरं भ्रातरं हन्ति पितरं वान्धवं तथा।
लोभाविष्टो न किं कुर्यादकृत्यं पापमोहितः॥'

(दे० भा० ६-४३-४८)

महाभारतमें कहा है कि—'लोभी मनुष्य धनका संग्रह करते-करते पहलेकी अपेक्षा ऊँची-ऊँची—धन-सम्पन्न स्थितिको प्राप्त होकर भी कभी तृप्त नहीं होते। वे और अधिककी आशा लिये मर जाते हैं। किन्तु विद्वान् पुरुष सदा सन्तुष्ट रहते हैं, वे तृष्णाको अधिक नहीं बढ़ाते। क्योंकि [1]तृष्णा सद्बुद्धिको ढक देती है—

'अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।
अतृप्ता यान्ति विध्वंसं सन्तोषं यान्ति पण्डिताः॥'
'अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात् सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः॥'

(शा० प० ३२०–१९–२१)

अशुद्ध अर्थ दुःखका मूल

अशुद्ध अर्थसे अर्थात् अन्याय, छल, कपट, डकैती आदि दुष्कर्मोंसे दूसरोंको कष्ट देकर अनुचित मार्गसे जो अर्थ अर्जित किया जाता है, वह अशुद्ध अर्थ कहलाता है। ऐसे मलिन अर्थसे मनुष्यको न तो धर्म ही प्राप्त हो सकता है, और न सुख ही मिल सकता है। वह काला धन जिस तरहसे आता है, उसी तरहसे चला भी जाता है। इसीलिए शास्त्रोंमें धर्म-विरुद्ध अर्थ और कामके परित्याग करनेका उपदेश दिया है :—

'परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।'

(मनु० ४–१७६)

भगवान् मनुने कहा है कि, 'संसारमें तीन प्रकारके लोगोंको कभी भी सुख नहीं प्राप्त हो सकता—(१) जो कि धार्मिक न हो, (२) जिसका धन अर्थात् जिसकी कमाई शुद्ध न हो और (३) जो सदैव हिंसामें निरत हो'—

'अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥'

(म० स्मृ० ४–१७०)

अशुद्ध रीतिसे, अनुचित व्यवहारसे, मलिन मार्गसे अर्थोपार्जन करना और उसका उपभोग करना दूसरोंके प्राणोंका भक्षण करना है। मनुष्य-समाज सुखका अत्यन्त पिपासु है। सुखके लिए ही वह अर्थका सञ्चय

१—तृष्णया मतिश्छाद्यते। (चा० सू०)

करता है, यह बात उचित है। अतः मनुष्यको चाहिए कि वह उचित मार्गसे, न्यायसे, जितना प्राप्त हो सके, उसीमें सन्तोष करे। परन्तु वैसा न करके—अवैध उपायोंका सहारा ले-लेकरके अन्याय, अत्याचार और भ्रष्टाचारसे, तुच्छ धनके लिए अपना लोक-परलोक बिगाड़ डालना—यह कहाँकी बुद्धिमानी है? गर्हित मार्गसे उपार्जित अर्थसे मनुष्यको इसलोक और परलोकमें कहीं भी सुख नहीं मिल सकता। यहाँ तो उसकी निन्दा होती है और परलोकमें नरक। अतः इस तरहका अर्थ महान् त्रासदायक होता है। ऐसे ही अर्थके विषयमें महाकवि श्रीजगद्धर भट्टने कहा है कि—

'इदं मधुमुखं विषं हरति जीवितं तत्क्षणाद्
अपथ्यमिदमाशितं व्यथयते विपाके वपुः।
इदं तृणगणावृतं बिलमधो विधत्ते क्षणाद्
यदत्र मलिनोल्बणैर्द्रविणमर्जितं कर्मभिः॥'

(स्तु० कु० ७-३९)

'अर्थात् मनुष्य मलिन और उग्र कर्मोंके द्वारा जिस धनका उपार्जन करता है, वह काला धन है। वह मीठे शहदसे लपेटा हुआ हालाहल विष है। आरम्भमें तो वह अत्यन्त ही मधुर प्रतीत होता है, परन्तु परिणाममें महाभयङ्कर विषका काम करता है। वह कमानेवालेका प्राण ले लेता है, उसका सर्वनाश कर डालता है। मनुष्य ऐसे धनका सुखपूर्वक उपभोग ही नहीं करने पाता। कदाचित् कोई उसका कुछ उपभोग भी करले, तो फिर अन्तमें वह कुपथ्य-सेवनके समान मनुष्यके शरीरको निरन्तर रुग्ण बना करके उसके जीवनको ही बरबाद कर देता है, अर्थात् मनुष्यको सुखसे सदैव वञ्चित कर देता है। जैसे तृणोंसे ढका हुआ गड्ढा मनुष्यको उसपर पैर रखते ही नीचे गिरा देता है, वैसे ही अन्यायसे अर्जित वित्त भी मनुष्यका तुरन्त ही अधःपात कर देता है। वह मनुष्यको सुखसे रहने ही नहीं देता।' इसीलिए स्कन्द-पुराणमें भी ऐसे अर्थके विषयमें कहा है कि—

'धनार्थं मानुषं देहं व्ययीकुर्वन्ति ये नराः।
न तेषां जन्मसाहस्रैः पापस्यान्तः प्रजायते।
नरके परिपच्यन्ते पामरा धनलोलुपाः॥'

(का० र० २३ अ० ८)

इसीलिए भगवती श्रुति कहती है कि—वित्तके मोहमें मनुष्य इतना पागल हो जाता है कि वह अपना लोक-परलोक, सब कुछ भूल जाता है—

'न सम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तलोभेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥'

(कठोपनिषत्)

अर्थात् जो व्यक्ति धनके मोहसे मोहित हो जाता हैं, उस प्रमादी, मूढ, अविवेकी पुरुषको परलोकमें विश्वास ही नहीं होता। वह समझता है कि वस्, यही लोक है, परलोक नहीं है ? ऐसा समझनेवाला वह मूढ बारम्बार मृत्युके वशमें पड़ता रहता है, अर्थात् बार-बार जन्म और मृत्युको प्राप्त होता रहता है।

इसी अभिप्रायसे तीर्थङ्कर वर्धमान श्रीमहावीरने भी कहा है कि—

'परिव्वयन्ते अणियत्तकामे अहो मराओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥'

(उत्त० १४–१४)

'अर्थात् धनका अन्वेषण करनेवाला व्यक्ति, दूसरोंकी जरा भी परवाह न करके दिन-रात उसीके लिए परितप्त होकर चक्कर लगाता रहता है। इसतरह कामकी लालसासे अनिवृत्त पुरुष धनकी कामना करते-करते ही जरा और मृत्युको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार अशुद्ध धनसे मनुष्यको परिणाममें सदैव विपत्ति ही भोगनी पड़ती है। इसीलिए माता-पिताकी अपेक्षा जीवका अधिक हित चाहनेवाली श्रुति मानव-समाजको विशुद्ध अर्थोपार्जनके लिए, पुत्रवत्सला जननीकी तरह, यह कितना पवित्र उपदेश दे रही है—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यचिद् धनम् ॥'

(ई० उप० १)

अतएव मनुष्यको अर्थकी शुद्धिपर भी बहुत ही ध्यान रखना चाहिए।

अर्थमें औदार्य

प्राणियोंमें द्वैतभाव (भेदभाव) रखना ही बन्धनका हेतु है। इसलिए भेदबुद्धिको त्यागकर सर्वत्र एकताका चिन्तन 'भावाद्वैत' हो जाता है। जैसे निष्काम-बुद्धिसे अपने कर्मोंको भगवान्में समर्पण कर देना 'क्रिया-

द्वैत' हो जाता है। इसी प्रकार 'अर्थ और कामकी जैसी आवश्यकता मुझको है, वैसी ही अन्य प्राणियोंको भी है।' ऐसा समझकर अन्य प्राणियोंके लिए अर्थ और कामका सम्पादन करना 'द्रव्याद्वैत' कहलाता है। इस-पद्धतिसे, त्रिविध अद्वैतका साक्षात्कार करनेसे प्राणियोंमें भेद-बुद्धि निवृत्त हो जाती है। जिससे फिर 'अद्वैत आत्मतत्त्व'का ज्ञान बड़ी सरलतासे, अनायास ही सिद्ध हो जाता है। इसीलिए महर्षि व्यासने कहा है—

'आत्मजायासुतादीनाम् अन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत्स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते॥'
(श्रीमद्भाग० ७–१५)

अतएव सम्पूर्ण जगत्को ईश्वरमय और सम्पूर्ण जीवोंको ईश्वरांश समझकर, उससे बचे हुए अंशको स्वीकार करना ही भारतीय अर्थ-नीतिका मूलमन्त्र है। यही कारण है कि कोई भी शुद्ध (आस्तिक) भारतीय जब एक घूँट जल भी पीने लगता है, तो उसे भगवान्के चरणोंमें समर्पण करके उनका प्रसाद समझकर पान करता है। तथापि समाजमें व्यक्तिके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार विषमताका निर्माण होता रहता है, किन्तु प्रत्येक आस्तिक **'अमृतस्य पुत्राः'** के अनुसार जीवमात्रको बन्धु समझकर सर्वथा समताकी ओर ही अग्रसर होता रहता है। परोपकार एक व्यापक धर्म माना गया है—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

जब यह भाव आता है, जब व्यष्टि (अर्थात् व्यक्ति) अपनेको समष्टि (समाज) का प्रतिबिम्ब अर्थात् विराट्के रूपमें समझने लगता है, "अर्थात् नेत्र सूर्य, उदर आकाश, कुक्षि समुद्र, अस्थि पर्वत, रोमवृक्ष हैं"—तब इसप्रकारका उच्चभाव मनमें उदित हो जानेपर—अपने परायेका प्रश्न ही विलीन हो जाता है। उस समय समष्टिके दुःखमें दुःखी, तथा समष्टिके सुखमें ही सुखी होना पड़ता है। समस्त ब्रह्माण्डमें आत्मवत् सुख-दुःखके भावका विकास हो जानेपर फिर अपना सुख और अपना दुःख—यह भेदभाव ही नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्थामें फिर किसीका शोषण और उत्पीडन, ये प्रश्न ही कहाँसे उठ सकते हैं? यह भाव जहाँ-तक विकसित होगा, उतने अंशमें कल्याण अवश्य होगा। व्यष्टिमें इतने अंशमें यह भाव उदय हो जाय कि—

'तुलसी या जग आइके सबसे मिलिये धाय।
ना जाने किस रूपमें नारायण मिलि जाय॥'

—तो फिर कोई भी व्यक्ति अतीव सम्पन्न होनेपर क्या कभी किसीका शोषक बन सकता है? कदापि नहीं। इस सिद्धान्तके समर्थनमें उदारण भरे पड़े हैं। अस्तु।

उपनिषदोंमें मधु-विद्याका उपदेश दिया गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि, विश्वमें प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका सुख-साधन बने। कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त, देश, राष्ट्र, विश्व, पितृलोक, देवलोक आदिमें क्रमशः व्यक्तिमें समष्टिकी कल्याण-भावनाका उदय होना आवश्यक है। इसी भावनामें ओत-प्रोत हुआ एक साधक भगवान्‌से कहता है कि—

'हे भगवन्, तीनों जगत् आपने अपने खेलनेके लिए, खिलौना बनाया है। दुर्बुद्धि लोग उसमें ममता करते हैं, उसे अपना समझ लेते हैं। वस्तवमें आपही सबके रचयिता हैं, आप ही सर्वस्व हैं'—

'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।'
(श्रीमद्भाग० ८-१८)

अतः विश्वमें सब वस्तु ईश्वरीय हैं—इस भावनासे सम्पत्तिका राष्ट्रीयकरण, केन्द्रीयकरण तथा समाजीकरण न होकर उसका ईश्वरीयकरण हो जाता है। उसे यह चिन्ता लगी रहती है कि—'यह वस्तु समष्टिके कल्याणमें उपयुक्त हो जाय?' इसी भावनासे महर्षि व्यासने कहा है कि—

'मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप् - खग - मक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्यत् तैरेषामन्तरं कियत्॥'
(श्रीभाग० ७-१४-९)

इस कर्तव्य-पालनमें मनुष्यको अपने शरीर तकका मोह नहीं रहता। राजा रन्तिदेव आदि साधकोंने समष्टिके कल्याणमें अपना सर्वस्व होम कर दिया। फिर भी उनकी अन्तिम इच्छा यही रही कि—'मुझे न स्वर्ग चाहिए और न अपवर्ग। प्रभो, मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि विश्वमें प्राणिमात्रका दुःख दूर हो जाय?'—

'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गंनापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥'

क्यों न हो, धनका एकमात्र फल है—धर्म। क्योंकि धर्मसे ही परम-तत्वका ज्ञान और उसमें निष्ठा—अर्थात् आत्माकी अपरोक्ष अनुभूति सिद्ध होती है। ज्ञाननिष्ठामें ही परम-शान्ति है। परन्तु यह कितने खेदकी बात है कि, लोग उस धनका उपयोग केवल अपने घर-गृहस्थीके ही स्वार्थोंमें या काम-भोगोंमें ही किया करते हैं। और यह नहीं देखते कि—हमारा यह शरीर मृत्युका शिकार है और वह मृत्यु किसी प्रकार भी टाली नहीं जा सकती—

'धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञान - मनुप्रशान्ति।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम्॥'
(श्रीभाग० ११-५-१२)

राजनीतिमें अर्थ

राजनीतिमें तो सब कुछ महिमा अर्थकी ही है। क्योंकि सम्पूर्ण राष्ट्रके योग-क्षेमका मुख्य साधन ही अर्थ है। अर्थके लाभका मूल है—वृत्ति अर्थात् आजीविका। महर्षि चाणक्यने कहा है—

'वृत्तिमूलम् अर्थलाभः।' **(चा० सू० १।८८)**

अर्थके विना सारा ही राष्ट्र निष्प्राण हो जाता है। अर्थ-हीन राष्ट्र पङ्गु बनकर दूसरोंके हाथ बिक जाता है। अर्थ प्रत्येक व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्रका (बाहरी) प्राण है। जैसे प्राणके बिना शरीर नहीं रह सकता, वैसे ही अर्थके विना देश या राष्ट्र टिक नहीं सकता। इसीसे राजनीतिमें अर्थको ही राष्ट्रका सर्वस्व माना गया है—

'कोशो हि राज्यतरुमूलमतो हि शाखा
पक्षी विपक्ष इव किं निधनः करोति।
अन्नाद् यथेन्द्रियगणो वपुतस्तथान्नं
तत्प्राप्तिरक्षणविवृद्धिषु यत्नवान् स्यात्॥'
(नी० मयूख—को०)

'अर्थात् कोश (खजाना) ही राज्यरूपी वृक्षका मूल (जड़) है। उसीके आधारपर राष्ट्रवृक्षकी अन्यान्य शाखाओं—मन्त्री, सुहृद्वर्ग, दुर्ग, सेना एवं राज्यव्यवस्थाका सञ्चालन, सीमा-संरक्षण आदि—की स्थिति और जीवन निर्भर है। अर्थ-विहीन राष्ट्र पङ्खविहीन पक्षीके समान, अपना क्या उत्थान (अभ्युदय) कर सकता है? जिस प्रकार

प्राणियोंके इन्द्रियगणोंकी स्थिति और प्रवृत्ति सब अन्नपर निर्भर है, उसी-तरह राष्ट्रकी स्थिति और प्रवृत्ति सब अर्थपर ही निर्भर है। क्योंकि जीवनोपयोगी अन्नादि वस्तुओंका सम्पादन एकमात्र अर्थके ही अधीन है। इसलिए राष्ट्रके उन्नायकोंको अर्थकी प्राप्ति, उसकी सुरक्षा और उसकी अधिकाधिक अभिवृद्धिके लिए सदा ही प्रयत्नशील रहना चाहिए।'

इसीलिए कौटल्य-महर्षिने कहा है कि—राष्ट्रके सभी कार्य कोशपर ही आश्रित हैं—

'कोशमूलाः सर्वारंभाः'।

चूँकि अल्प-कोशवाला राजा अपनी प्रजाको करभारसे पीड़ित करता रहता है, अतः राष्ट्रका कोश बड़ा विशाल होना चाहिए।

'अल्पकोशो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते।'

(अर्थशास्त्र—२ अ० १२ अ०)

कोशकी अभिवृद्धि सुवर्ण, रत्नादिकी खानोंसे होती है, कोशके ही बलपर सेनाका संगठन होता है। कोश और सेनाके द्वारा पृथवीकी प्राप्ति होती है—

'आकरप्रभवः कोशः कोशाद् दण्डः प्रजायते।
पृथिवी कोशदण्डाभ्यां प्राप्यते कोशभूषणा॥'

(अर्थशास्त्र २ अ० १२–८५)

महर्षि कामकन्दने मी अपने 'नीतिसार' में कोशकी अभिवृद्धि एवं रक्षापर बड़ा जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि—'राजाको धार्मिक अनुष्ठानोंके लिए, अर्थकी अभिवृद्धिके लिए, भृत्योंके भरण-पोषणके लिए तथा आपत्तियोंसे बचनेके लिए—अपने कोशकी सदैव रक्षा करनी चाहिए—

'धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां भरणाय च।
आपदर्थं च संरक्ष्यः कोशः कोशवता सदा॥'

(नी० सा० ४।६२)

शुक्राचार्यने कहा है कि—'राजाको राज्यकी समूची आयको छः भागोंमें विभक्त करके, उसका व्यय इसरीतिसे करना चाहिए कि—'आयके तीन भाग तो सेना-विभागमें खर्च करने चाहिए। आधा-आधा भाग दान और प्रजाकी सहायतामें खर्च करना चाहिए। आधा भाग अधिकारियोंके

लिए और आधा अपने उपयोगमें तथा एक भाग कोशकी सुरक्षाके लिए व्यय, करना चाहिए। इस प्रकार वर्षमें कुल आयको छः भागोंमें विभक्त करके, तत्सम्बद्ध विभागोमें व्यय करना चाहिए—

'त्रिभिरंशैर्बलं धार्यं दानमर्धांशकेन तु।
अर्धांशेन प्रकृतयो ह्यर्धांशेनाधिकारिणः॥
अर्धांशेनात्मभोगश्च कोशोऽशेन सुरक्ष्यत।
आयस्यैवं षड्विभागैर्व्ययं कुर्यात्तु वत्सरे॥'

(शु० नी० १—३१४,३१५)

अर्थ प्राणोंसे भी प्रिय

अर्थ मनुष्यका बाह्य प्राण है। परन्तु विचार पूर्वक देखा जाय, तो ज्ञात होता है कि अर्थ तो प्राणोंसे भो बढ़कर है। क्योंकि मनुष्यका प्रेम प्राणोंसे भी अधिक अर्थपर होता है। अर्थके लिए मनुष्य अपने वृद्ध माता-पिता, साध्वी भार्या और छोटे-छोटे बच्चोंको अकेले छोड़कर दूर-से-दूर देशान्तरमें भटकता रहता है। केवल इतना ही नहीं, अर्थके लिए वह एक-से-एक पाप भी कर सकता है। सोमदेव सूरीने यह कितना स्पष्ट कहा है कि—

'अर्थाय मातरमपि लोको हिनस्ति, किं पुनरनृतं भाषते।'

(नी० वा० अर्थस०)

'अर्थात् अर्थके लिए मनुष्य अपना पालन-पोषण करनेवाली जननो तककी भौ हत्या करनेमें नहीं हिचकते हैं, फिर उसके लिए मिथ्याभाषण करना तो साधारण-सी बात है।'

इसीलिए महर्षि व्यासने यह बात कितने सटीक शब्दोंमें कही है—

'वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः।
प्रेत्येह चाथाप्यजितेन्द्रियस्तद् अशान्तकामो हरते कुटुम्बी॥'

(भाग० ७—६—१०)

अर्थात् कुटुम्बकी ममताके कारण सदा धनके ही ध्यानमें लवलीन मनुष्य इतना प्रमत्त हो जाता है. कि दूसरोंके धनको चुरानेसे उत्पन्न होनेवाले लौकिक और पारलौकिक दोषोंको स्वयं जानता हुआ भी वह अपनी कामनाओंको वशमें न रख सकनेके कारण, इन्द्रियोंके भोगकी लालसासे चोरी कर ही डालता है।

ऐसी भयङ्कर होती है—अर्थकी तृष्णा ? सातों द्वीपोंके अधिपति होकर भी महाराज पृथु, गय आदि नरेश सकल धन एवं भोगकी सामग्रीके प्राप्त होनेपर भी, तृष्णाका पार नहीं पाये—

'सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैन्यगयादयः ।
अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम् ॥'

(भा० ८-१९-२३)

इसीसे आदर्श-चरित्र भक्त प्रह्लादने अपने सहपाठियोंसे इस विषयमें यह कितना सुन्दर कहा है । देखिए—

'कोन्वर्थतृष्णां विसृजेत् प्राणेभ्योऽपि य ईप्सितः ।
यं क्रीणात्यसुभिः प्रेष्ठैस्तस्करः सेवको वणिक् ॥'

(श्रीमद्भा० ७-६-१०)

'अर्थात् चोर, सेवक और व्यापारी लोग अर्थके लिए अपने प्रिय प्राणोंकी भी बाजी लगाकर उसका संग्रह करते हैं । अतः धन लोगोंको प्राणोंसे भी अधिक वाञ्छनीय है । इसलिए अर्थकी तृष्णाको भला, कौन त्याग सकता है ?' अर्थका व्यामोह इतना प्रबल और भयङ्कर होता है कि उसके लिए लोग संग्राममें भर्ती होकर भयङ्कर युद्धमें अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद और वमकी वर्षामें अपने प्रियतम प्राणोंका भी परित्याग कर देते हैं । इतना अधिक प्रिय होता है—अर्थ । अतएव इतने प्रियतम अर्थका दान और उपभोग करनेमें भी मनुष्यको उतना ही अधिक कष्ट होता है, जितना कि—प्राण देनेमें । बल्कि शूरवीर लोग देश और राष्ट्रकी रक्षाके लिए संग्राममें प्रविष्ट हो-होकर प्राणोंको तो बड़े हर्षसे त्याग देते हैं—प्राणदानके लिए नहीं हिचकते हैं । किन्तु योग्यसे योग्य पात्रके मिलनेपर भी श्रद्धासे अपना थोड़ा-सा धन देनेमें लोग बहुत ही हिचकते हैं, अर्थात् अपने अर्थका सदुपयोग करनेको नहीं उत्सुक होते ? इसीलिए राजा बलिने इस विषयमें अपने कुलगुरु महर्षि शुक्राचार्यजीसे यह कितना सत्य कहा है कि—

'सुलभा युधि विप्रर्षे ह्यनिवृत्तास्तनुत्यजः ।
न तथा तीर्थ आयाते श्रद्धया ये धनत्यजः ॥'

(भाग० ८।२०।९)

अर्थात् संसारमें ऐसे लोग बहुत सुलभ हैं, जो कि युद्धमें पीठ न दिखाकर अपने प्राणोंको त्याग देते हैं । परन्तु ऐसे लोग बहुत ही दुर्लभ

हैं, जो कि योग्यतम सत्पात्रके प्राप्त होनेपर भी श्रद्धापूर्वक अपने धनका सदुपयोग करें ?

अतएव मनुष्यके इतने अधिक प्राण-प्रिय अर्थको अन्यायसे, अनुचित रीतिसे—चोरी, डकैती, साहस (जबर्दस्ती), घूसखोरी, भ्रष्टाचार आदि अवैध उपायोंसे ठग लेना भी उसका प्राण ही ले लेना है—अर्थात् उसकी हत्याके ही बराबर है। यह भयंकर अन्याय है। महान् घोर पाप है। इसीसे कहा है—

'प्राणान् स तस्य हरते यो यस्य हरते धनम्।'

अनुचित कर

इसीकारण औरोंकी तो बात ही क्या, साक्षात् प्रजा-शासकके लिए भी—जो कि समूचे राष्ट्रका स्वामी है, सारे राष्ट्रमें जो चाहे सब कुछ कर सकता है—मनमाने ढङ्गसे कर लगाकर अनुचित रीतिसे, प्रजासे अर्थ-ग्रहण करना तथा मनमाने कार्योंमें उसका खर्च करना—यह बात शास्त्रोंमें, नीतिशास्त्र और राजशास्त्रमें, बहुत निषिद्ध है। श्री सूरी सोमदेवने कहा है कि—'अन्यायसे किसीसे तृणकी एक सींक ले-लेना भी लोगोंके मनमें खटकता है—

'अन्यायेन तृणशलाकापि गृहीता दुःखायते।'

(नी० वा० अर्थ समु०)

अतएव राजा भी अनापत्ति कालमें प्रजासे, अनुचित प्रकारसे अर्थका ग्रहण नहीं कर सकता। और यदि वह वैसा करता है तो फिर महान् दोषका भागी होता है। इस प्रकार अनुचित विधिसे संग्रह किये गये अर्थसे उसके कोशकी परिपूर्ति भी कदापि नहीं हो सकती। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—अशास्त्रीय-विधिसे प्रजाका धन लेनेवाले शासकोंका कोश सदा रिक्त ही रहता है—

'अपशास्त्रधनो राजा सञ्चयं नाधिगच्छति।' (शु० नी०)

इसी अभिप्रायसे महाभारतमें भी कहा है कि—

'अर्थशास्त्रपरो राजा धर्मार्थान्नाधिगच्छति।
अस्थाने चास्य तद् वित्तं सर्वमेव विनश्यति॥'

(शा० प० ७१-१३)

'अर्थात् शास्त्रसे विपरीत चलनेवाला राजा न तो धर्मकी सिद्धि कर पाता है और न अर्थकी। उसे यदि धन मिल भी जाय तो वह सारा ही बुरे कामोंमें नष्ट हो जाता है। अतएव जो मनुष्य शास्त्रके अनुसार नहीं चलता, उसके धर्म और अर्थ, दोनों ही अस्थिर तथा अनिश्चित होते हैं—

'धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत्।'

(शा० प० ७१-१३)

अतः जो लोभी राजा मोहवश अपनी प्रजासे शास्त्र-विरुद्ध—अनुचित कर लेकर उसे कष्ट पहुँचता है, वह अपने ही हाथोंसे अपना विनाश करता है—

'अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् संपीडयन् प्रजाः॥'

(म० भा० शा० प० ७१-१५)

भगवान् मनुने कहा है कि, किसीकी प्रिय वस्तुको ले लेना दुःखदायी होता है, और किसीको प्रिय वस्तु दे देना—यह प्रियकारक होता है। तथापि समयके अनुसार लेना और देना उचित होता है—

'आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते॥'

(म० स्मृ० ७-२०४)

अनुचित करोंसे राष्ट्रका अहित

जैसे दूधको चाहनेवाला मनुष्य यदि गायका थन ही काट ले, तो इससे उसको दूध नहीं मिल सकता। इसी प्रकार राष्ट्रका, राज्यमें रहनेवाली प्रजाका, अनुचित उपायसे शोषण किया जाय तो इससे राष्ट्रकी उन्नति कदापि नहीं हो सकती—

'ऊधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते॥'

(शा० प० ७१-१६)

अतः जो व्यक्ति दूध देनेवाली गायकी प्रतिदिन सेवा करता है, वही दूध पाता है। इसी प्रकार उचित उपायसे राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला राजा ही उससे लाभ उठा सकता है। इसलिए—

यदि न्याय-संगत उपायसे राष्ट्रको सुरक्षित रखते हुए, उसका उपयोग किया जाय, अर्थात् यदि न्याय-सङ्गत करके रूपमें, प्रजासे अर्थ लिया जाय, तो इससे राज्यके कोशकी सदैव अनुपम वृद्धि होती है—इसीसे महान् नीतिज्ञ भीष्मने कहा है—

'अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम् ।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥'

(शा० ७० ७१–१८)

अतः जैसे माता स्वयं तृप्त रहनेपर ही अपने बालकको यथेष्ट दूध पिलाती है, उसी प्रकार राजासे, शासकसे सुरक्षित होनेपर ही, दुधारू गायके समान, यह पृथिवी भी राजाके स्वजनों एवं दूसरे लोगोंको सदा अन्न और सुवर्ण देती है—

'दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता ।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः ॥'

(शा० ७० ७१–१९)

इसीलिए अध्यात्म-तत्ववेत्ता महाराज भर्तृहरिने प्रत्येक राष्ट्रोंके शासकोंको यह उपदेश दिया है कि—

'राजन् दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण ।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः ॥'

'अर्थात् राजन्, यदि तुम इस पृथिवीरूपी धेनुको दुहना चाहते हो—इससे अधिक लाभ उठाना चाहते हो, तो इस लोकको, सारी प्रजाको—जो कि इसके बछड़ेके समान है, अभीसे (अद्य) पुष्ट करो। क्योंकि इसीके निरन्तर पुष्ट होनेसे यह पृथिवो कल्पलताकी भाँति अनेकानेक फल प्रदान करती है।'

सारांश, बछड़ेके अदृष्टसे ही गाय अपने स्वामीको दूध देती है। यही कारण है कि जबतक बछड़ा रहता है, तबतक गाय दूध देती है, जिससे उसके बछड़ेके साथ उसके स्वामीको भी लाभ होता रहता है। ठीक इसी तरह राजा इस पृथिवीरूपी गायका स्वामी (गोपति) होता है। अतः यदि वह इससे लाभ उठाना चाहता है, तो उसे अपनो प्रजाका परिपोषण

करना चाहिए। प्रजाके परिपुष्ट होनेपर ही राजा पृथिवीसे विविध प्रकारका लाभ उठा सकता है।

इसीकारण राजशास्त्रमें लिखा है कि राजाको कोशकी पूर्तिके लिए अर्थका सञ्चय बहुत ही सावधानीसे करना चाहिए—

'[1]न्यायेन कोशस्य च सम्प्रवृद्धिः।'

इसीलिए प्राचीन भारतीय-संविधानमें शासकोंको प्रजासे कर और शुल्क आदि ग्रहण करनेके विषयमें बड़ी सावधानी रखनेका आदेश है। भगवान् मनुने कहा है कि—

'यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो गृहीतव्यो राष्ट्राद् राज्ञाऽऽब्दिकः करः॥'

(म० स्मृ० ७।१२९)

अर्थात् जैसे जौंक, बछड़ा और भ्रमर—ये अपने जीवन-निर्वाहके लिए अपने भोजनको अल्प-अल्प मात्राको ग्रहण करते है। जोंक लोगोंके देहसे सब रक्त नहीं चूस लेती, बछड़ा अपनी माँका सारा ही स्तन नहीं खा जाता, एवं भ्रमर सारे ही पुष्यको नहीं निगल जाता। किन्तु वे उनमेसे अल्प-अल्प मात्राको ही ग्रहण करते हैं। वैसे ही राजाको भी राष्ट्रकी अभिवृद्धिके लिए, राष्ट्रसे वार्षिक कर अथवा अन्यान्य शुल्क अति अल्पमात्रामें ही ग्रहण करने चाहिए। क्योंकि अधिक करभारसे प्रजाको अतीव कष्ट होता है, जिसके परिणामसे राष्ट्रका कोश भरता नहीं—अधूरा ही रह जाता है। अस्तु।

अर्थानुबन्धी अर्थ

अर्थ ऐसा होना चाहिए कि जो 'धर्मानुबन्धी' और 'अर्थानुबन्धी' हो। जिस अर्थसे धर्म-कार्य सम्पन्न होते रहें, उस अर्थको 'धर्मानुबन्धी' अर्थ कहते हैं—'**धर्मम् अनुबध्नातीति—धर्मानुबन्धी**' धर्मानुबन्धी अर्थसे मोक्ष प्राप्त होता है। और जिस अर्थसे अर्थका उद्गम बराबर होता रहे, उसको कहते हैं—अर्थानुबन्धी अर्थ।

'अर्थम् अनुबध्नातीति अर्थानुबन्धी।'

नीतिवाक्यामृतमें कहा है कि 'जो मनुष्य अर्थानुबन्धी उपायोंद्वारा

१—नीतिमयूख, (कोश-प्रकरण)

अर्थका अर्जन करता है, वह अर्थका पात्र होता है—उसीके पास अर्थ पहुँचाता है—

'सोऽर्थस्य भाजनं योऽर्थानुबन्धेन अर्थमनुभवति।'
(अर्थ समु०)

अलब्ध अर्थको उद्योगद्वारा प्राप्त करना, प्राप्तहुए अर्थका परिरक्षण करना, रक्षित अर्थको कुसीद आदि वृद्धिके उपायोंद्वारा परिवर्धन करना और परिवर्धित अर्थको तीर्थोंमें अर्थात् सत्पात्रों एवं सत्कार्योंमें प्रतिपादन करना—ये उपाय अर्थानुबन्धी हैं—

'अलब्धलाभः, लब्धपरिरक्षणं रक्षितविवर्धनं,
वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनं चार्थानुबन्धः।'
(नी० वा० अ० स०)

अतः विवेकी मनुष्योंको इन उपायोंका अनुष्ठान सदैव सावधानीसे करना चाहिए। इसीलिए नीतिवाक्यामृतमें कहा है कि—सम्पत्ति ही सम्पत्तिको बढाती है और विपत्ति ही विपत्तिको—

'सम्पत् सम्पदमनुबध्नाति, विपच्च विपदम्।'
(अर्थ-समुद्देश—६५ वाक्य)

अतः जैसे गजसे ही गजको बाँधा जाता है, वैसे ही अर्थसे ही अर्थका उपर्जन होता है—

'गजेन गजबन्धनमिव अर्थेनार्थोपार्जनम्।'
(नी० वा० षाड्गुण्य समु० ६४)

'अर्था अर्थेषु बध्यन्ते गजैरिव महागजाः।
गजा गजैर्विना न स्युरर्था अर्थैर्विना तथा॥'

देवगुरु बृहस्पतिने कहा है कि—जैसे गजके बिना गज नहीं बध सकता है, वैसे ही अर्थके बिना अर्थका उपार्जन नहीं हो सकता—

'अधनेनार्थ-मर्जयितुं न शक्यते गजोऽगजेनेव।'
(बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र ६–७)

अर्थकी सुरक्षा

अर्थके उपार्जनके अनन्तर फिर प्रश्न उपस्थित होता है, उसकी सुरक्षा, अभिवृद्धि तथा उसके उपयोग करनेका। इसके लिए भगवान् मनुने

चार उपाय बतलाये हैं—(१) उद्योग, (२) निरीक्षण (देखरेख), (३) वृद्धि (व्याज आदिपर देना) और (४) विनियोग। उन्होंने कहा है कि, 'अप्राप्त अर्थको उद्योगद्वारा प्राप्त करना चाहिए, और प्राप्त अर्थकी अच्छे प्रकारसे देख-रेख करते हुए उसकी सुरक्षा करनी चाहिए। सुरक्षित अर्थको फिर वृद्धिमें (सूदमें लगाकर) तत्-तत् उपायोंसे उसकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। और बढ़े हुए अर्थको सत्पात्रोंमें, उचित कार्योंमें वितरण करना चाहिए'—

'अलब्धमिच्छेद् योगेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद् वृद्धया वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥'

(म० स्मृ० ७-)

अर्जित अर्थकी सुरक्षाके विषयमें महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि 'धनको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए। सञ्चित द्रव्य कितना है, कहाँ रक्खा है, इस बातका पता मनुष्यको अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र-आत्मीय जनोंतक—को भी नहीं लगने देना चाहिए। और कदाचित् अपनेको भी कहीं भ्रम न हो जाय, किसीसे लेन-देनमें ही गड़बड़ी न हो जाय, अथवा अचानक किसी भयंकर रोग या मृत्युका आक्रमण न हो जाय इसके लिए अपने अर्थ-सम्बन्धी सब बातोंका संकेत करके इस बातको लिखकरके भी रख देना चाहिए। क्योंकि व्यवहार करनेवालोंके लिए तो लेखको छोड़कर अन्य कोई स्मारक ही नहीं है। अतः विवेकी मनुष्यको बिना लेखके, कोई भी व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए'—

'यथा न जानन्ति धनं सञ्चितं कति कुत्र वै।
आत्मस्त्री-पुत्र-मित्राणि सलेखं धारयेत् तथा॥
नैवास्ति लिखितादन्यत् स्मारकं व्यवहारिणाम्।
न लेखेन विना कुर्याद् व्यवहारं सदा बुधः॥'

(शु० नी० १-८०, ८२)

शुक्राचार्यने यह भी कहा है कि, 'यदि कोई मित्र किसी आवश्यक कार्यके लिए धन मागे, तो उसको अर्थात् मित्रको सदैव बिना व्याजपर ही दे देना चाहिए, मित्रसे व्याज नहीं लेना चाहिए, और व्याजके लोभमें पड़कर बिना आद्यन्त समझे ही धनका प्रयोग भी कदापि नहीं करना चाहिए। क्योंकि व्याजके लोभसे ऐसा करनेपर अपना मूलधन भी सब नष्ट हो जाता है'—

'मैत्र्यर्थं याचितं दद्यादकुसीदं धनं सदा।
न दद्याद् वृद्धिलोभेन नष्टं मूलधनं भवेत् ॥'
(शु० नी० १–७०)

मूलधनकी वृद्धि

आचार्य सोमदेव सूरीने कहा है कि—'जो मनुष्य अपने मूलधनकी वृद्धि न करते हुए उसका व्यय करता है, वह सदैव दुःखित ही रहता है'—

'स सदैव दुःखितो यो मूलधनमसंवर्धयन् अनुभवति।'
(नी० वा० अ० स०)

यही बात महर्षि गौतमने भी कही है—

'न वृद्धिं यो नयेद् वित्तं पितृपैतामहं कुधीः।
केवलं भक्षयत्येव स सदा दुःखितो भवेत् ॥'

अर्थात् जो दुर्बुद्धि अपने पितृ-परम्परागत धनकी वृद्धि न करके केवल उसको व्यय ही करता है, वह हमेशा दुःख पाता है। अस्तु।

अर्थको पराधीन कभी न रखना चाहिए। क्योंकि, केवल पुस्तककी विद्या, पराये हाथमें रक्खा हुआ धन, केवल अपने घरमें ही शूरता—संग्राममें नहीं, ये तीनों ही काम मनुष्यके लिए केवल धोखा है—

'पुस्तकस्था च या विद्या परहस्तगतं धनम्।
संग्रामे न, गृहे शौर्यं तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ॥'

यही बात महर्षि चाणक्यने भी बड़े अनुभवके साथ कही है—

'वृद्धकाले मृता भार्या बन्धुहस्तगतं धनम्।
भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ॥'
(चा० नी०)

इसीलिए शुक्रनीतिमें स्पष्ट कहा है कि—'मनुष्यको चाहिए कि वह अपनी युवती स्त्री, धन और पुस्तकको कभी भी पराधीन न रक्खे'—

'पराधीनं नैव कुर्यात्तरुणीधनपुस्तकम्।'
(३–२१७)

अतएव बुद्धिमान् मनुष्यको—अपनी स्त्री, बालक, रोग, दास, पशु, धन, विद्याभ्यास तथा सत्पुरुषोंकी सेवा—इनकी उपेक्षा क्षणभरके लिए भी नहीं करनी चाहिए—

'नोपेक्षेत स्त्रियं बालं रोगं दासं पशुं धनम् ।
विद्याभ्यासं क्षणमपि सत्सेवां बुद्धिमान्नरः ॥'

(शु० नी० ३–४१)

क्योंकि, अर्जित वस्तुके नष्ट हो जानेसे अर्जक और उसके कुटुम्बियोंको बड़ा धक्का पहुँचता है, असह्य दुःख होता है। इस कष्टको अर्जक और उसके कुदुम्बी जन ही जानते हैं, और कोई नहीं जान सकते। महर्षि शुक्राचार्यने कहा है—

'अर्जकस्यैव यद् दुःखं स्याद् यथार्जितनाशने।
स्त्रीपुत्राणामपि तथा नान्येषां तु कथञ्चन ॥'

(शु० नी० १–४०)

इस बातका अत्यन्त ही कटु अनुभव करते हुए राजा धृतराष्ट्रने महर्षि वेद-व्यासने कहा है कि—

'पुत्रनाशेऽर्थनाशे च ज्ञातिसम्बन्धिनामथ।
प्राप्यते सुमहद् दुःखं विषाग्निप्रतिमं विभो ॥
येन दह्यन्ति गात्राणि येन प्रज्ञा विनश्यति।
येनाभिभूतः पुरुषो मरणं बहु मन्यते ॥'

(म० भा० स्त्रीपर्व ८–७)

'अर्थात् पुत्र और धन तथा कुटुम्ब और सम्बन्धियोंका नाश होनेपर मनुष्यको विषका पान करने और अग्निमें जलनेके समान असह्य दुःख भोगना पड़ता है। उस दुःखसे सारा शरीर जलने लगता है। बुद्धि नष्ट हो जाती है और मनमें असह्य शोक उत्पन्न हो जाता है। ऐसी दुःखमय परिस्थितिमें मनुष्य जीनेकी अपेक्षा मरजाना ही अधिक अच्छा समझता है।'

इसीलिए शुक्राचार्यने कहा है कि—जो मनुष्य अर्थका केवल उपार्जन ही करना जानता है, अर्जित अर्थकी रक्षा करना नहीं जानता, उसका सारा जीवन व्यर्थ है। उसके बराबर मूर्ख और कोई नहीं है—

'यो जानात्यर्जितुं सम्यगर्जितं न हि रक्षितुम्।
नातः परतरो मूर्खो वृथा तस्यार्जनश्रमः ॥'

(शु० नी० १–५१)

अतएव अर्थके अर्जनसे भी अधिक प्रयत्न उसकी वृद्धि और सुरक्षाके लिए करना चाहिए। अस्तु।

अर्थकी रक्षाके लिए मनुष्यको सर्वप्रथम क्रोधसे बहुत ही सावधान रहना चाहिए। क्योंकि क्रोधसे अर्थका शीघ्र ही नाश हो जाता है। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'जैसे मात्सर्य दोषसे (डाहसे) मनुष्यका तप क्षीण हो जाता है, वैसे ही क्रोधसे मनुष्यकी श्री (सम्पत्ति) नष्ट हो जाती है। अतः मनुष्यको क्रोधसे सदैव सावधान रहना चाहिए'—

'नित्यं क्रोधाच्छ्रियं रक्षेत् तपो रक्षेच्च मत्सरात्।'
(शा० प० १८९-१०)

अर्थ अल्प हो, अथवा अधिक हो, उसकी वृद्धिके आठ उपाय संक्षेपसे, महाभारतमें बतलाये हैं—(१) धृति (अर्थात् सन्तोष) (२) चातुर्य, (३) संयम, (४) सद्बुद्धि, (५) आत्मा (अर्थात् शरीर या मन) (६) धैर्य अर्थात् स्वावलम्बन (७) शौर्य और (८) देश एवं कालमें प्रमाद न करना—

'धृतिर्दाक्ष्यं संयमो बुद्धिरात्मा धैर्यं शौर्यं देशकालाप्रमादः।
अल्पस्य वा महतो वा विवृद्धौ धनस्यैतान्यष्ट समिन्धनानि।'
(शा० पर्व)

अर्थके अर्जन और संरक्षणके लिए मनुष्यमें धैर्य-गुणका होना अत्यावश्यक है। धैर्यहीन मनुष्य महान् ऐश्वर्यको पा करके भी, अधीर होनेसे नष्ट हो जाता है। अतः धैर्यहीन व्यक्तिको ऐहलौकिक और पारलौकिक लाभ नहीं प्राप्त हो सकता। महर्षि चाणक्यने कहा है—

'महदैश्वर्यं प्राप्यापि, अधृतिमान् विनश्यति।'
'नास्त्यधृते रैहिकमामुष्मिकम्'　(चा० सू० ३-४६)

अतः अर्थके अर्जनसे भी कठिन काम है—उसका संरक्षण। क्योंकि अर्थको सुरक्षित स्थानमें रख देने या उसे व्याजमें लगा देनेमात्रसे ही, उसकी रक्षा नहीं होती, वरन् उसकी सुरक्षा तो होती है—उसका सदुपयोग करनेसे। इसीलिए कहा है कि—

'जैसे तालाबके जलकी रक्षा, जलको उसीके अन्दर रहने देनेसे, अर्थात् उसको खर्च न करनेसे, नहीं हो सकती। प्रत्युत उपयुक्त कार्योंमें उसका निकास करनेसे ही वह शुद्ध और पूर्ण रहता है, इसी तरह वित्तकी सुरक्षा भी उसके सदुपयोगसे ही होती है'—

'उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम्॥'

इसीसे महाभारतमें भी कहा है कि, ऐसे व्यक्तिके पास अर्थ नहीं आ सकता, जो कि देता न हो, पौरुष-हीन हो, निकम्मा हो और अपने कर्तव्यमें परायण न हो। शूर एवं तपस्वो न हो'—

'नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीवं नापि निष्क्रियम्।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम्॥'
(अनु० पर्व–१)

अर्थका विनियोग

महर्षि चाणक्यने कहा है कि—वित्त गुणवानोंको देना चाहिए—

'वित्तं देहि गुणान्वितेषु मतिमन्नान्यत्र देहि क्वचित्
प्राप्तं वारिनिधेर्जलं घनमुखे माधुर्ययुक्तं सदा।
जीवन् स्थावरजङ्गमांश्च सकलान् सञ्जीव्य भूमण्डलं
भूयः पश्य तदेव कोटिगुणितं गच्छेत्तदम्भोनिधिम्॥'
(चा० नीति)

'अर्थात् बुद्धिमान्‌को अपना वित्त गुणवानोंको देना चाहिए, गुण-हीनोंको नहीं। गुणवान् लोगोंको यानी सत्पात्रोंको दिया हुआ और शुभ कर्मोंमें लगाया हुआ वित्त सभीके लिए शुभकारक होता है, उससे सबका भला होता है। देखिए, समुद्रका खारा जल जब बादलके मुखमें पहुँचता है, तो वह अत्यन्त मधुर होकर स्थावर, जङ्गम—सभी प्राणियोंको तृप्त करता हुआ सारे ही भूमण्डलको हरा-भरा और विकसित करके फिर अन्तमें वह कोटिगुणित होकर पुनः उसी समुद्रमें पहुँच जाता है!'

इसीलिए श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—'जो मनुष्य अपने धनको पाँच भागोंमें बाँट देता है—१. कुछ धर्मके लिए, २. कुछ यशके लिए, ३. कुछ धनकी अभिवृद्धिके लिए, ४. कुछ भोगोंके लिए और ५. कुछ अपने स्वजनोंके लिए—वह व्यक्ति इसलोक और परलोक, दोनों ही जगह सुख पाता है'—

'धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥'
(८–११–३७)

इसी अभिप्रायसे महर्षि शुक्राचार्यने भी कहा है कि, मनुष्यको अर्थ-सम्पन्न होकर अपने पोष्य-वर्गको पुष्ट करना चाहिए! बिना कुछ दिये

अपना कोई भी दिन व्यर्थ न करना चाहिए। और अपनेको मृत्युके मुँहमें अवस्थित हुआ समझकर दान और धर्म यथेष्ट मात्रामें सम्पादन करने चाहिए—

'भूत्वा महाधनः सम्यक् पोष्यवर्गं तु पोषयेत्।
अदत्वा यत्किञ्चिदपि न नयेद्दिवसं बुधः॥
स्थितो मृत्युमुखे चाहं क्षणमायुर्ममास्ति न।
इति मत्वा, दानधर्मौ यथेष्टौ तु समाचरेत्॥'

(शु० नी० ।)

महर्षि व्यासने श्रीमद्भागवतमें कहा है कि 'जिनसे अपने स्वजनोंको, बन्धु-बान्धवोंको, सुख मिले, वे ही धर्म, अर्थ और काम मनुष्यके लिए शास्त्र-विहित हैं। जिनसे केवल अपनेको ही सुख मिले, किन्तु अपने स्वजनोंको कष्ट होता हो, वे—धर्म, अर्थ और काम मनुष्यके हितकारी नहीं हैं—

'पुंसस्त्रिवर्गो विहितः सुहृदो ह्यनुभावितः।
न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते॥'

(१०–५–२७)

अर्थ-तृष्णा

परन्तु अर्थकी तृष्णा बड़ी ही दुष्पूर होती है। तृष्णाका कोई अन्त ही नहीं है। भगवती श्रुति कहती है कि—

'अपि चेदुदनेमि समन्ताद् भूमिमिमां लभते सगवाश्वाम्।
न स तेन धनेन धनैषी तृप्यति किन्नु सुखं धन-कामः इति॥'

(न्यायभाष्य ४।१, ५८)

अर्थात् सम्पूर्ण धन-धान्य, पशु आदियोंसे परिपूर्ण यह सारी समुद्र-पर्यन्त पृथिवी भी यदि किसी धनार्थीको मिल जाय, तो उतने धनसे भी उसकी तृप्ति नहीं हो सकती। अतः धनार्थीको क्या सुख हो सकता है ?

इसी वैदिक अभिप्रायको जैन संप्रदायके तीर्थंकर श्रीवर्धमान महावीरने, अपनी प्राकृत भाषामें, अभिव्यक्त करते हुए यह कितना सुन्दर कहा है, देखिए—

'कसिणं पि जो इमं लोयं पडि पुण्यं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से इह दुष्पूरए इमे आया॥'
(उत्त० ८।१६)

'अर्थात् सकल धन-धान्यसे परिपूर्ण यह सारा ही लोक भी यदि किसी एक मनुष्यको दे दिया जाय, तो भी उसको सन्तोष होनेका नहीं। क्योंकि लोभी आत्माकी तृष्णा अत्यन्त दुष्पूर होती है।' अतः—

'कदाचित् कैलाशके समान, सोने और चाँदीके असंख्य पर्वत हो जाँय, तो भी लोभी मनुष्यके लिए वे कुछ भी नहीं होते। क्योंकि, इच्छा, अर्थात् तृष्णा तो आकाशके समान अनन्त है'—

'सुवण्ण रूपस्स उ पव्वता भवे सियाहु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि इच्छांहु आगाससमा अणन्तिया॥'
(उत्त० ९।५१)

इसी अभिप्रायसे श्रीमन्माधवाचार्यने शाङ्कर-दिग्विजयमें कहा है कि—'गृहस्थ मनुष्य यदि एकदम ही निर्धन हो, तो उसका जीवन नारकीय हो जाता है—अत्यन्त दुःखमय हो जाता है। क्योंकि वह अणुमात्र भी वस्तु न स्वयं खा-पी सकता है और न किसी दूसरेको कुछ दे ही सकता है। और जो पूर्ण हैं—धन-कुबेर है, वह भी अपने उस वैभवसे सन्तोषको न प्राप्त होकर हरसमय अपनेमें न्यूनताका ही अनुभव करता हुआ कभी भी शान्तिको नहीं प्राप्त होता। क्योंकि उसकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है'—

'निःस्वो भवेद् यदि गृही निरयी स नूनं
भोक्तुं न दातुमपि यः क्षमतेऽणुमात्रम्।
पूर्णोऽपि पूर्तिमभिमन्तुमशक्नुवानो
मोहेन शं न लभते खलु तत्र तत्र॥'
(शा० दि० ३६ पृ०)

सन्तोष

इसलिए अतितृष्णासे उत्पन्न होनेवाले इस दुःखसे बचनेके लिए मनुष्यको निर्धनता अथवा समृद्ध—दोनों ही अवस्थाओंमें सन्तोष गुणसे

१—स्मरो वा व ह आकाशदपि भूयान। (वेद)

युक्त होना भी अत्यावश्यक है। क्योंकि सन्तोषके विना भी मनुष्यको सुख नहीं मिल सकता। देवर्षि नारदने महाराज युधिष्ठिरसे कहा है—

'पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात् पतन्त्यधः॥'

(भाग० ७-१५-२१)

अर्थात् अनेक विषयोंके ज्ञाता, बड़ी-बड़ी शङ्काओंका समाधान करके चित्तमें शास्त्रोक्त अर्थको बैठा देनेवाले और बड़ी-बड़ी विद्वत्सभाओंके सभापति बड़े-बड़े विद्वान् भी असन्तोषके कारण नीचे गिर जाते हैं।' इसलिए महर्षि व्यासने अधिक तृष्णाको दुःखका ही कारण बतलाकर सन्तोषपर ही अधिक जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि—

'यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत्॥'

(भाग० ९।१९।१३)

'अर्थात् पृथिवीमें जितने भी धान्य, यव (अन्न) सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं—बे सबके सब मिलकर भी तृष्णावाले एक मनुष्यके लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः अति तृष्णाका परित्याग करना चाहिए।'

भूख और प्यास मिट जानेपर कामका अन्त हो जाता है। क्रोध भी अपना काम पूरा करके शान्त हो जाता है। पर मनुष्य यदि सारी ही पृथिवीको भी जीत ले और भोग ले, तब भी लोभका अन्त नहीं होता—

'कामस्यान्तं च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥'

(भाग० ७-१५-२०)

अतएव अर्थार्जनके साथ-साथ ही मनमें सन्तोषका होना भी अर्थात् अपनी समृद्ध अथवा हीन—दोनों हो परिस्थितियोंमें एकरस रहना भी अत्यावश्यक है। क्योंकि सन्तोषके विना केवल अर्थसे ही मनुष्यके मनमें परितोष कदापि नहीं हो सकता। इसीसे सन्तोषको अमृत बतलाया है—

'सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥'

मनमें सन्तोषके रहनेसे, जीवन निर्वाहके लिए प्रारब्धानुसार जो भी प्राप्त हो जाय, उसीसे मनुष्यको तृप्ति मिल जाती है। अतः मनुष्यके लिए

सन्तोष भी एक बड़ा भारी धन ही है। और वह मानबके जीवनका एक मुख्य आधार है। इसलिए कहा है—

'सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्॥'

इसी कारण भगवान् मनुने मानव समाजके लिए, अर्थके साथ-साथ सन्तोष गुणका होना भी अतीव आवश्यक माना है। उन्होंने कहा है कि 'मनुष्य सुख चाहता है। सुखका मूल है—सन्तोष। इसके विपरीत—मनुष्यमें सन्तोषका न होना, अर्थात् तृष्णाका बढ़ना दुःखका मूल है। अतः मनुष्यको सन्तोष प्राप्त करके संयमी होना चाहिए—

'सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥'
(म० स्मृ० ४।१२)

इसी रहस्यका पुष्ट करनेके लिए देवर्षि नारदने भगवद्भक्त बालक ध्रुवको युक्तिपूर्वक समझाते हुए इस विषयमें यह कितना सारगर्भित उपदेश दिया है। देखिए—

'परितुष्येत् ततस्तात तावन्मात्रेण पूरुषः।
दैवोपसादितं यावद् वीक्ष्येश्वरगतिं बुधः॥
यस्य यद् दैवविहितं स तेन सुखदुःखयोः।
आत्मानं तोषयन् देही तमसः पारमृच्छति॥'
(श्रीमद्भाग० ४।८।२९,३३)

अर्थात् ईश्वरकी लीला बड़ी विचित्र है। अतः उसपर विचार करके बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि दैववश उसे जैसी भी परिस्थितिका सामना करना पड़े, उसीमें सन्तुष्ट रहे। अतः विधाताके विधानके अनुसार मनुष्यको सुख, दुःख जो भी प्राप्त हो, उसीमें अपने चित्तकों सन्तुष्ट रखना चाहिए। ऐसा करनेसे मनुष्य इस मोहमय संसारसे पार हो जाता है। इसो आशयसे भगवान् कृष्णने कहा है कि—

'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥' (गीता)

अर्थका मल

जिस प्रकार अनुचित विधिसे उपार्जित अर्थमें मालिन्य दोष लग जाता है, उसी तरह अर्थका उचित विनियोग न होनेसे भी उसमें मालिन्य आ जाता है। अर्थात् शुद्धता नहीं रहती। अतः उपार्जित अर्थका उचित कार्योंमें विनियोग एवं उपभोग न करनेसे, वह मलिन अर्थात् सदोष हो जाता है। अतः अर्जित अर्थको धर्म और काममें न लगाना अर्थात् दान, सत्कार परोपकार और अपने उपभोगमें उसे खर्च न करना अर्थका मल कहा गया है—

'मलोऽर्थस्य निगूहनम्।'　　(म० भा० शा० प० १२३।१०)

ऐसे मलयुक्त अर्थसे मनुष्यको सच्चे सुखकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत विपरीत फल—अनर्थं ही, प्राप्त होता है। क्योंकि अर्थकी तीन ही गति होती हैं—दान, भोग और नाश। अतः जो उसका दान, (अर्थात् लोक-सत्कार) और उचित उपभोग नहीं करता है, उसके अर्थकी फिर तीसरी गति (नाश) सुनिश्चित है। इसीलिए महात्मा और विद्वान् महाराज भर्तृहरिने कहा है—

'दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥'
(नी० श०)

वस्, इसी एक महान् दोषके कारण लोक और शास्त्रोंमें धन एवं धनवानोंकी बड़ी निन्दा और उपहास होता है। यहाँ तक कि इसके लिए लोगोंने अर्थकी अधिष्ठात्री देवी अर्थात् साक्षात् महालक्ष्मीजोको भी बुरी तरहसे कोसा है—

'लक्ष्मि क्षमस्व वचनीयमिदं दुरुक्तम्
अन्धीभवन्ति पुरुषास्त्वदुपासनेन।
नो चेत् कथं कमलपत्रविशालनेत्रो
नारायणः स्वपिति पन्नगभोगतल्पे ॥'

अतः अर्थमें ही अधिक मोह हो जानेसे मनुष्य जब उसे सदोष बना देता है, तो फिर वही अर्थ अनर्थका कारण बन जाता है। आज केवल एक इसी दोषके कारण आधुनिक संसारमें, सभ्य-समाजमें, प्रायः सर्वत्र ही धनिक-समाजको बड़ी भारी अवहेलनाकी दृष्टि देखा जा रहा है। पर

यह बात केवल अर्थका दुरुपयोग होनेसे ही उत्पन्न हुई है। सर्वत्र उद्योग-धन्धों, कम्पनियों, कल-कारखानों और बंकोंके राष्ट्रीयकरणकी भावनाएँ भी इसी दोषसे उत्पन्न हुई हैं ! अस्तु।

अर्थ-मद

अर्थमें इन सब भयङ्कर दोषोंसे भी बढ़कर एक और दोष रहता है। वह है—मद अर्थात् अहङ्कार। अपनेमें विद्यमान अच्छी बातोंको देखकर मनुष्यके मनमें मद उत्पन्न हो जाता है। 'मैं धनी हूँ—मेरे पास धन है'—इस प्रकारका गर्व ही धनका मद कहलाता है। मदसे फूला हुआ मनुष्य दूसरोंको तुच्छ समझकर—सबको नीच मानकर, अधिक पतनको प्राप्त हो जाता है। और धनके मदसे जब मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, तो फिर उसको अपनी दुष्कीर्तिका भी जरा-सा भय नहीं रह जाता। शुक्रनीतिमें कहा है कि—

'जैसे बकरा अपने मूत्रको, अपने आप अपने मुँहमें डाल लेता है। उसको मूत्रकी दुर्गन्धिका कोई ज्ञान ही नहीं होता। वैसे ही धनके मदसे उन्मत्त मनुष्य भी अपनी अपकीर्तिकी कुछ परवाह ही नहीं करता है—

'श्रीमत्तः पुरुषो वेत्ति न दुष्कीर्तिमजो यथा।
स्वमूत्रगन्धं मूत्रेण मुखमासिञ्चति स्वयम्॥'

(३ अ० ८६)

ठीक ही है। अति-वृद्धिको प्राप्त हुई श्री भला, किसके मनमें दर्प नहीं उत्पन्न कर देती ? सोमदेव सूरोने कहा है कि—

'अतिप्रवृद्धा श्रीः कं न दर्पयति ?' (नी० वा० अ० स०)

अस्तु। दर्पका परिणाम है—पतन, अर्थात् मनुष्यका अधःपात। क्योंकि मदमत्त पुरुष धर्म और मर्यादाका अतिक्रमण कर देता है। वह सन्मार्गमें नहीं चलता। इसीसे महर्षि गौतमने कहा है कि—

'हृष्टो दृप्यति, दृप्तो धर्ममतिक्रामति, धर्मातिक्रमे पुनर्नरकः।'

(गौ० ध० सू०)

'अर्थात् मनुष्यको अपनी सम्पन्नता देखकर जब अधिक खुशी होती है, तो उसके मनमें गर्व (अभिमान) उत्पन्न हो जाता है। अभिमान हो जानेपर मनुष्य फिर धर्मका अतिक्रमण करने लगता है। धर्मके

अतिक्रमण होनेसे मनुष्य नरकको—अधःपतनको प्राप्त होता है।' इसीसे यह लोकोक्ति भी प्रचलित है कि—

'तपस्यासे राज्य, और राज्यसे नरक'

अतः मद समस्त दोषोंमें सबसे भयङ्कर दोष है। वह मनुष्यके सभी सद्‌गुणोंपर पानी फेर देता है। शास्त्रकारोंने कहा है—

'जरा रूपं हरति, धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः॥'

अतएव विद्या, तप और ज्ञानके द्वारा मनुष्य जितनी जल्दी उन्नतिको प्राप्त कर सकता है, उतनी ही जल्दी 'श्रीमद'से उसका अधः-पतन भी हो जाता है—इन दोनों बातोंको राजर्षि नहुषके चरित्रसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इसीलिए भगवान् शङ्कराचार्यने यह बात बहुत सोच-समझकर ही कही है कि—

'अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः॥'

धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे चूर होकर बहुतसे लोग उच्छृङ्खल और मतवाले हो जाते हैं—

'श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम्।'
(भाग० १०-७३-१०)

हैहय, नहुष, वेन, रावण, आदि अनेकों देवता, दैत्य, और नरपति श्रीमदके कारण अपने स्थानसे, पदसे च्युत होकर नष्ट हो गए।[1]

इसीलिए जैन-तीर्थङ्कर महावीर स्वामीने भी वित्तके विषयमें लोगोंको खूब सचेत करते हुए कहा है कि—

'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणं न मोहे नेया उयं दड्ठु गदट्ठुमेव॥'
(उ० ४।५)

'अर्थात् प्रमत्त मनुष्य धनके द्वारा न तो इस लोकमें अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोकमें। क्योंकि जैसे हाथमें दीपक विद्यमान होने पर भी, उसके बुझ जानेसे सामनेका मार्ग दिखलायी नहीं देता, वैसे

१—हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे।
श्रीमदाद् भ्रंशिताः स्थानाद् देवदैत्यनरेश्वराः॥ (भाग० १०-७३-२०)

ही धनके असीम मोहसे मूढ मनुष्य न्यायमार्गको देखता हुआ भी नहीं देख सकता।'

इसी कारण ऐसे सदोष (मल-युक्त) अर्थसे चोरी, हिंसा, झूठ-बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, मद, अहङ्कार, भेद-बुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, लम्पटता, द्यूत, मद्य आदि (दुर्व्यसन)—ये १५ अनर्थ उत्पन्न होते हैं। इसलिए सर्वोच्च सुखाभिलाषीको ऐसे अनर्थकारी अर्थसे दूर ही रहना चाहिए—

'स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशाऽनर्था अर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोर्थी दूरतस्त्यजेत्॥'

(भाग० ११।२३।१७, १८)

अर्थका दुरुपयोग होनेसे ही भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो कि परस्पर अटूट स्नेह-बन्धनमें बँधकर बिलकुल एक हुए रहते हैं—सबके-सब एक कौड़ीके लिए इतने अलग हो जाते हैं कि तुरत एक दूसरेके शत्रु बन जाते हैं--

'भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकाः स्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥'

(भाग० ११-२३-२०)

इसके अतिरिक्त अर्थको प्राप्त करनेमें, प्राप्त अर्थको रखनेमें, फिर उसे बढ़ानेमें, खर्च करनेमें, तथा उसके नाश और उपभोगमें—जहाँ देखें वहीं, महान् परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है—

'अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥'

(भाग० ११-२३-१७)

अर्थका सदुपयोग न होनेसे श्रीमानोंको प्रायः दुर्जनोंका कुसङ्ग प्राप्त हो जाता है। धूर्त लोग अपने दुर्व्यसनोंकी परिपूर्तिके लिए श्रीमानोंको दुराचरण एवं दुर्व्यसनोंमें प्रवृत्त करा देते हैं। खलोंका संसर्ग क्या-क्या अनर्थ नहीं उत्पन्न कर सकता है? दुर्जन लोग अग्निके समान अपने

आश्रयको ही भस्म कर डालते हैं। सोमदेव सूरीने यह बात कितनी सटीक कही है। देखिए—

'स्वव्यसनतर्पणाय धूर्तैर्दुरीहितवृत्तयः क्रियन्ते श्रीमन्तः।'
खल-संसर्गः किं नाम न करोति?'
'अग्निवत् स्वाश्रयमेव दहन्ति दुर्जनाः।' (नी० वा० ध० स०)

श्रीमद्भागवतमें कहा है कि, 'जैसे जलमें रहनेवाले जन्तुओंके सर्वस्व जलको उन्हींके सम्बन्धी चाट जाते हैं, ऐसे ही अधर्मसे सञ्चित किये मूर्खके धनको उसके सगे-सम्बन्धी लूट खाते हैं। अतः जो अपने धर्मसे विमुख है, सच पूछिये तो वह अपना लौकिक स्वार्थ भी नहीं जानता। क्योंकि जिनके लिए वह अधर्म करता है, वे तो उसे छोड़ ही देंगे। उसे कभी सन्तोषका अनुभव नहीं होगा। अन्तमें वह अपने पापोंकी गठरी शिरपर लादकर स्वयं घोर नरकमें जायगा'—

'अधर्मोपहितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः।
संभोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः॥
स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः।
असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः।'
(भाग० १०-४९-२२, २३)

अतः ऐसा अर्थ, जिसका कि उपयोग सबके लिए यथार्थ नहीं होता, निरर्थक—व्यर्थ है।

अर्थ और धर्मका परस्पर आनुकूल्य

इसीलिए इन सब आर्थिक दोषोंसे बचनेके लिए ही भारतकी वर्णाश्रम-व्यवस्थामें अर्थको धर्मानुकूल बनानेके लिए धर्म और अर्थ, दोनोंके पारस्परिक विरोधका परिहार करके, दोनोंको एक साथ रखकर—'मेघ और समुद्रके समान—'अर्थको धर्म, और धर्मको अर्थका स्रोत बना दिया है। अतः धर्मानुकूल अर्थमें ये सब दोष नहीं उत्पन्न हो सकते। इसीसे महाभारत में कहा है कि—

'सर्वथा धर्ममूलोऽर्थो धर्मश्चार्थपरिग्रहः।
इतरेतरयोर्नीतौ विद्धि मेघोदधी यथा॥'
(वन पर्व—)

१—जैसे मेघसे समुद्र, और समुद्रसे मेघकी वृद्धि होती है।

जो अर्थ धर्मसे युक्त हो और जो धर्म अर्थसे सम्पन्न हो, वह निश्चय ही अमृतके समान है। इसलिए मनुष्य अपने मनको संयममें रखकर जीवनमें धर्मको प्रधानता देते हुए, धर्माचरण करते हुए ही अर्थका उपार्जन करे। क्योंकि धर्मपरायण पुरुषपर ही समस्त प्राणियोंका विश्वास होता है। और जब सभी प्राणी विश्वास करने लगते हैं, तब मनुष्यका सारा काम स्वतः सिद्ध होता है। यह बात महाभारतमें कही है—

'योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः।
तद्धि त्वामृतसम्वादं तस्मादेतौ मताविह॥
तस्माद् धर्मप्रधानेन साध्योऽर्थः संयतात्मना।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्वमेव हि॥'

(शा० प० १६२–२४, २६)

दान

मनुष्य द्वारा उपार्जित अर्थके भागी केवल परिवारके ही सदस्य नहीं होते, किन्तु देव, ऋषि, पितर, बन्धु-बान्धव, दीन, अनाथ, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि—सभी जीव उसमें दायाद (हकदार) होते हैं। और इन सबके अनुग्रहसे प्राप्त हुए अर्थको यथाशक्ति सबको समर्पित करते हुए—**'गृहस्थः शेषभुग् भवेत्'**—के अनुसार अवशिष्ट (पवित्र) अंशका स्वयं भी उपभोग करता हुआ मनुष्य अर्थ-सम्बन्धी दोषोंसे (अर्थके मलसे) लिप्त न होकर उत्तरोत्तर अभ्युदय और निःश्रेयसका अधिकारी होता जाता है। इस पद्धतिसे अर्थ और कामका सदुपयोग होनेसे सर्वान्तर्यामी भगवान् भी मनुष्यपर प्रसन्न होते हैं। श्रीमद्भागवतमें गृहस्थ-धर्मका निरूपण करते हुए देवर्षि नारदने इस विषयका बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है। उन्होंने कहा है कि—

'जीवराशिभिराकीर्ण आण्डकोशाङ्घ्रिपो महान्।
तन्मूलत्वादच्युतेज्या सर्वजीवात्मतर्पणम्॥'

(७ स्कन्ध १४–३६)

'अर्थात् यह ब्रह्माण्डरूपी महान् वृक्ष असङ्ख्य जीवोंसे भरा हुआ है। इसके मूल एकमात्र भगवान् हैं। अतः उनके अर्चनसे समस्त जीवोंकी आत्मा तृप्त हो जाती है।'

इसलिए अन्न आदि वस्तुओंका विभाजन करते समय देवता, ऋषि,

पितर, अन्यप्राणी, स्वजन और अपने आपको भी परमात्म-स्वरूप ही देखना चाहिए—

'देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च।
अन्नं संविभजन् पश्येत् सर्वं तत् पुरुषात्मकम् ॥'

(७-१५-६)

इसलिए गृहस्थ मनुष्यको अपनी वृत्तिके द्वारा जो भी द्रव्य प्राप्त हो, उससे देव, ऋषि, पितर, मनुष्य, बन्धु-बान्धव, पशु-पक्षी और अपनी आत्माका सत्कार करना चाहिए। ऐसा ही अर्थ वास्तवमें अर्थ है। इसके विपरीत केवल अपने ही उपभोगमें लगनेवाला अर्थ मनुष्यके अधःपतनका कारण बन जाता है—

'देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः ॥'

(भाग० ११-२३-२४)

इसलिए सोमदेव सूरीने कहा है कि—'मनुष्योंका वास्तविक वैभव वही है कि जिसका यथायोग्य उपभोग अन्य लोग भी कर सकते हैं। इसके विपरीत वह वैभव किस कामका, जो कि व्याधिके समान केवल अपने आप ही भोगा जाय ?'—

'स विभवो मानुषाणां, यः परोपभोग्यो
न तु व्याधिरिव यः स्वस्यैव उपभोग्यः।'

(नी० वा अर्थ० समु०)

प्रियवचन

दाता दानके साथ-साथ यदि [1]प्रिय वचनका भी प्रयोग करे, तब तो वह बात सोनेमें सुगन्ध हो जाती है। इससे अर्थीके मनमें अत्यन्त अधिक सन्तोष होता है। यही अर्थका औचित्य है। नीति-वाक्यामृतमें कहा है—

'दानप्रियवचनाभ्याम् अन्यस्य हि सन्तोषोत्पादनम् औचित्यम्।'

(ध० समु० ७-६)

इसीलिए शास्त्रकारोंने कहा है कि—'प्रियवचनके साथ-साथ दान, गर्वसे हीन ज्ञान, क्षमासे युक्त शौर्य और परोपकारमें लगनेवाला वित्त—

१—देखिए, श्रीमद्भागवत तथा वामनपुराणमें महाराज बलिका चरित्र।

यह सब मनुष्यके मामूली तपका फल नहीं है, अर्थात् बहुत बड़े पुण्यका फल है—

'दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥'

कृपणता

नीति-वाक्यामृतमें कहा है कि—अर्थके दो फल हैं, १. अभ्यर्थियोंमें उसका विभाजन और २. स्वयं उसका उपभोग करना। परन्तु जो नितान्त लोभी होता है, वह इन दोनोंसे ही वञ्चित रह जाता है—

'अर्थिषु संविभागः, स्वयमुपभोगश्चेति अर्थस्य द्वे फले।
नास्त्यौचित्यम् एकान्तलुब्धस्य ॥' (धर्म० समु० १५)

अतः अर्थका सुख प्राप्त करनेके लिए मनुष्यको उदार भी होना चाहिए। प्रायः देखा जाता कि कृपण लोगोंको अर्थसे कभी भी सुख नहीं मिलता। क्योंकि इस लोकमें तो वे धन कमाने और उसकी रक्षा करनेकी ही चिन्तामें जलते रहते हैं, और मरनेके बाद फिर (धर्माचरण न करनेके कारण) नरकमें चले जाते हैं—

'प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥'
(श्रीमद्भाग० ११-१३-१५)

तीर्थंकर महावीरने कहा है कि—

'जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा समाययन्ती अमयं गहाय।
पहाय ते पासप पट्टिये नरे वेराणुबद्धा नपयं उवेति ॥'
(उत्त० ४-२)

'अर्थात् जो मनुष्य धनको अमृत मानकर, अनेक पाप कर्मोंके द्वारा उसे कमाते हैं, वे अन्तमें अपने कर्मोंके दृढ़ पाशमें बँधकर, अनेक जीवोंसे बैर-विरोध बाँध करके सारी ही धन-सम्पत्तिको यहीं छोड़कर, नरकमें वास करते हैं।'

इसलिए अर्थार्थी मनुष्यको कार्पण्य-दोष (लोभ) से बहुत ही बचते रहना चाहिए। क्योंकि जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ मनुष्यके सर्वांग-सुन्दर शरीरको बिगाड़ देता है, वैसे ही थोड़ा-सा भी लोभ यशस्वियोंके विशुद्ध यश और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंपर पानी फेर देता है—

'यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥'

(भाग० ११-२३-१६)

कृपणकी सेवासे सेवकको कुछ भी लाभ नहीं होता। इसीलिए महर्षि चाणक्यने कहा है कि—लोभीकी सेवा करना अग्निकी इच्छासे, खद्योतको (अर्थात् जुगनू कीडाको) धौंकना है—

'लुब्धसेवी पावकेच्छया खद्योतं धमति।'

(चा० सू० ४ अ० २९)

इसके विपरीत जो उदार होता है, दूसरोंको भी देता है, उसपर सभी लोग प्रेम करते हैं—

'स प्रियो लोकानां यो ददात्यर्थम्।'

(नी० वा० अर्थ समु०)

इसीसे उदार अर्थशालीका सभी लोग बहुत सम्मान करते हैं। अतएव शक्तिशाली अर्थवान्को अतिथि, आश्रित-जन एवं सत्पात्रोंके लिए अर्थका वितरण भी अवश्य ही करना चाहिए। इसीलिए ऋग्वेदका यह आदेश है कि–

'पृणीयादिढ नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांस - मनुपश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा-
ऽन्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः ॥'

(ऋग्वेद १०,११७-५)

अर्थात् धनाढ्यको चाहिए कि अर्थी, याचकको यथाशक्ति अवश्य दे और अपनी दृष्टिको लम्बे मार्गपर रखे, अर्थात् दीर्घदर्शी हो। क्योंकि धन रथके चक्रकी तरह घूमता रहता है, जाता-आता रहता है। अतः जो मनुष्य न ईश्वरके मार्गपर चलता है, अर्थात् पुण्यका उपार्जन नहीं करता और न अपने मित्रको सहायता देता है, वह अपने-आप अकेला खानेवाला व्यक्ति निरापापी है। वह बुद्धिहीन मूर्ख अन्नका (अर्थात् अर्थका) व्यर्थ ही लाभ करता है—यह मैं सत्य कहता हूँ—

'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥'

(ऋ० वे० १०।११७-६)

अर्थकी अवहेलना

अर्थके सम्बन्धमें एक बात यह भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि—पासमें आये हुए अर्थकी अवहेलना किसी भी कारण, कदापि नहीं करनी चाहिए अर्थात् उसे ठुकराना नहीं चाहिए। अर्थकी अवहेलना बड़ा भारी दोष है। इसीसे नीतिवाक्यामृतमें कहा है कि—

'आगतमर्थं केनापि कारणेन नावधीरयेत्।'
(अर्थं० समु०)

इसीलिए श्रीमद्भागवतमें राजर्षि स्वायंभुव मनुने ब्रह्मर्षि कर्दम प्रजापतिसे प्रार्थना करते हुए इस विषयमें बड़ा प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है कि—

'उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः॥
य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते।
क्षीयते तद्‍यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः॥'
(भाग० ३ स्कन्ध २२–१२,१३)

'अर्थात् जो वस्तु स्वतः प्राप्त हो जाय, उसकी अवहेलना करना विरक्त पुरुषको भी उचित नहीं है; विषयासक्तकी तो बात ही क्या है। अतः जो मनुष्य स्वयं प्राप्त हुए भोगका निरादर करके फिर किसी कृपणके आगे उसके लिए हाथ पसारता है, उसका बहुत फैला हुआ भी यश नष्ट हो जाता है और दूसरोंके तिरस्कारसे मानभङ्ग भी हो जाता है।'

इसीलिए महर्षि शुकमुनिने कहा है कि—

'द्वाविमावनुशोचन्ति बालावसदवग्रहौ।
यल्लोकशास्त्रोपनतं न राति न तदिच्छति॥'
(श्रीमद्भाग० ४।२७–२५)

'अर्थात् जो मनुष्य लोक अथवा शास्त्रकी दृष्टिसे देनेयोग्य वस्तुका दान नहीं करता, और जो शास्त्रदृष्टिसे दान लेनेका अधिकारी होकर भी ऐसे दानको नहीं लेता—वे दोनों ही दुराग्रही, मूढ हैं। अतः वे दोनों ही शोचनीय हैं।' अस्तु।

अपव्यय

यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थ मनुष्यको प्राणोंसे भी प्रिय है। अतः प्राण-प्रिय अर्थको उपार्जन करके, उसे ऐसे कार्यमें व्यय करना चाहिए जो कि उससे (अर्थात् अर्थसे) भी अधिक महत्वकी वस्तु हो—वह वस्तु ऐसी होनी चाहिए कि जिसका कभी नाश न हो। ऐसा तत्त्व तो केवल एक धर्म ही है। धर्मका कभी नाश नहीं होता। अतः बुद्धिमान् मनुष्यको अर्थके बदलेमें अर्थात् अर्थको देकर, उससे भी अधिक मूल्यवान्—धर्मका उपार्जन करना चाहिए।

काश, आजके इस सभ्यम्मन्य हतभाग्य विश्वमें यह विषय-परवश, अज्ञानी जीव प्राण देकरके उपार्जित किये अर्थका महत्त्व स्वयं ही नहीं समझता? आज प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र तुच्छ विषयोपभोगकी सामग्रियोंके सञ्चय, दुर्व्यसनोंकी पूर्ति, अथवा लोक-विनाशक भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंके आविष्कारोंमें ही अपने अमूल्य प्राणप्रिय अर्थका निरर्थक अपव्यय करके, उससे धर्मके बदलेमें पापका सञ्चय करता चला जा रहा है। अमूल्य-अमूल्य मणियोंको देकर कच्चे काचके लिए लालायित हो रहा है। यह कितने आश्चर्य और परितापकी बात है?

आज विश्वमें जिधर भी देखिए, धर्मका ह्रास और अधर्मकी अभिवृद्धि होती चली जा रही है। विश्वकी सारी व्यवस्थाएँ जिसपर टिकी हैं, उस धर्मकी बिलकुल उपेक्षा हो रही है। यह सब धर्मके प्रति विद्रोह है। धर्मके प्रति किया गया विद्रोह अन्तमें देश, राष्ट्र एवं लोकके प्रति किया गया विद्रोह ही सिद्ध होता है। अत एव विश्वके विवेक-सम्पन्न महानुभावोंको इस विषयमें अत्यन्त ही सावधान हो जाना चाहिए।

राजनीतिके मर्मज्ञ विद्वान् सोमदेव सूरीने कहा है कि—'अर्थका अत्यन्त अधिक व्यय करना और अकार्योंमें व्यय करना—यह महान् दोष है। अर्थशास्त्रमें इस दोषको 'अर्थदूषण' अर्थात् अर्थको दूषित कर देनेवाला भयंकर दुर्गुण बतलाया गया है। इस दुर्गुणसे युक्त व्यक्ति या राष्ट्र, भले ही वह साक्षात् धन-कुबेर ही क्यों न हो, अन्तमें एक दिन भिक्षाका पात्र बन जाता है'—

'अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्च भवत्यर्थदूषणम्।
अर्थदूषणः कुबेरोऽपि भवति भिक्षापात्रम्॥'

(नी० वा० अर्थ स०)

इसी अभिप्रायसे पाश्चात्य विद्वान् श्रीब्रूयरेने कहा है कि—"कंजूस व्यक्ति तो अपने आपको ही तकलीफ देता है। लेकिन फजूल खर्च तो आनेवाली पीढ़ियोंको भी कष्ट देनेवाला साबित होता है। बीचका रास्ता ही सबसे अच्छा है। अतः हम अपने साथ भी न्याय करें और दूसरोंके साथ भी।"

इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'प्राप्त हुए धनका उपयोग करनेमें दो प्रकारकी भूलें हुआ करती हैं, जिन्हें ध्यानमें रखना चाहिए। पहली भूल है—अपात्रको धन देना यानी अर्थका अकार्यमें अपव्यय करना। और दूसरी भूल है—सुपात्रको धन न देना अर्थात् सत्कार्यमें अर्थको खर्च न करना'—

'लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रेऽप्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम्॥'

(शा० प० २६ अ० ३१)

आज यदि प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक राष्ट्र अधर्मसे—दुष्कर्मोंसे अपनी प्रवृत्ति हटाकर अपने अर्थका क्षुद्र स्वार्थों अथवा विस्फोटक (लोक विनाशक) शस्त्रास्त्रोंके निर्माणमें व्यर्थ दुरुपयोग न करके, सबके हितकी कामनासे यदि उसका सदुपयोग करने लग जाँय, तो पृथिवी-भरकी सारी ही ऊषर-भूमि स्वर्गका 'नन्दन' बन सकती है। सभी लोग सुखी और समृद्ध होकर चैनसे रह सकते हैं, अर्थात् संसारमें कोई भी व्यक्ति, नङ्गा-भूखा और बेचैन नहीं रह सकता। क्योंकि अर्थ और कामके उपार्जन और उपयोगमें अनौचित्य होनेके कारण ही प्रत्येक व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्रोंमें परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, अविश्वास, भय, आशङ्का, क्रूरता, वैर, हिंसा, और सङ्घर्ष आदि दोष उत्पन्न होते हैं। आज संसारमें जो इतनी अशान्ति है, उसका मूल कारण अर्थके लिए छीना-झपटी है।

यदि विचार करके बुद्धिमत्ता पूर्वक देखा जाय, तो इस तरहके अर्थसे परिणाममें सुखके बदले नितान्त दुःख ही प्राप्त होता है। इस तरहके अर्थदूषण दोषसे, अर्थात् अतिव्यय और अपव्ययरूपी अर्थके-दुर्गणोंसे विश्वमें धर्मके समान ही, अर्थका भी ह्रास हो जाता है। लोग कौड़ी-कौड़ीके लिए मुँहताज हो जाते हैं। महर्षि कामन्दकने अपनी राजनीतिमें इन बातोंपर विशेष प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है कि—

'असत्यता निष्ठुरताऽकृतज्ञता भयं प्रमादोऽलसता विषादिता।
वृथाभिमानो ह्यतिदीर्घसूत्रता तथाऽङ्गनाक्षादि विनाशनं श्रियः॥'
(का० नी० सा० १०।३९)

अर्थकी सार्थकता

अर्थशास्त्रका यह मूल सिद्धान्त है कि, अर्थका उपार्जन और उसका संरक्षण तो महान् कृपणकी तरह, बड़ी सावधानीसे करना चाहिए। परन्तु जब उसके उपयोगका समय आवे, तब हृदयको खोलकर, विरक्तकी तरह, अत्यन्त उदारतासे उसको व्यय करना चाहिए। महर्षि शुक्राचार्यने कहा है—

'संरक्षयेत् कृपणवत् काले दद्याद् विरक्तवत्।'
(शु० नी०)

अतः अर्थका सञ्चय और संरक्षण तो कृपण-पुरुषोंके समान कौड़ी-कौड़ी जोड़-जोड़कर करना चाहिए और दुष्कर्म या दुर्व्यसनमें अथवा व्यर्थमें कहीं यदि एक कौड़ी भी व्यय होती हो, तो उसको सहस्रों स्वर्ण-मुद्राओंके तुल्य समझकर, अतिव्यय और अपव्यय दोषसे, उसका उद्धार करना चाहिए। अर्थात् दुष्कर्म या व्यर्थमें यदि एक कौड़ी भी व्यय होती हो, तो उसे हजारों स्वर्ण-मुद्राओंका वृथा व्यय समझकर उसको बचाना चाहिए। और समय आनेपर अर्थात् यज्ञ, दान, परोपकार, देशोद्धार, भगवत्सेवा, अकाल एवं भुखमरी आदि आपत्तियोंसे राष्ट्ररक्षा या विश्वकी रक्षाका अवसर उपस्थित होनेपर, अपनी कोटि-कोटि स्वर्ण-मुद्राओंपर भी मोह न करके, मुक्त-हस्तसे, सारीकी सारी धनराशिको सत्कार्यमें व्यय कर देना चाहिए। इस प्रकार अर्थदूषण दोषोंसे बचकर अर्थका सञ्चय और सदुपयोग करनेवाले उदार नरेन्द्रको लक्ष्मी कभी नहीं त्यागती, उसको अर्थकी कमी कभी भी नहीं होती, उसका कोश सदा ही भरपूर रहता है—

'यः काकिणीमप्यपथ-प्रपन्नां समुद्धरेन्निष्क-सहस्र-तुल्याम्।
काले च कोटिष्वपि मुक्तहस्तः, तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥'

इसी अभिप्रायको हृदयमें रखते हुए महर्षि शुक्राचार्यने भी कहा है कि—

'कृत्वा स्वान्ते तथौदार्यं कार्पण्यं बहिरेव च।
उचितं तु व्ययं काले नरः कुर्यान्न चान्यथा॥'
(शु० नी० १-२८८)

सारांश, जैसे जलकी सम्पत्तिसे कमलिनीका पोषण होता है, वैसे ही सद्-बुद्धिसे लक्ष्मीका पोषण होता है। तथा उद्योग और प्रयत्नके द्वारा अर्थका विस्तार बढ़ता है। जो व्यक्ति उद्योगी, उत्साह-सम्पन्न और सद्बुद्धि होता है, उसको लक्ष्मी शरीरकी छायाके समान, कभी भी नहीं छोड़ती। और उसके यहाँ दिनों-दिन सम्पत्ति बढ़ती चली जाती है। निर्व्यसनी, कर्मपरायण, और उत्साही पुरुषके पास सब सम्पत्तियाँ इस तरहसे अनायास चली आती हैं; जैसे कि समुद्रके पास सरिताएँ। और जो व्यक्ति उत्साही एवं बुद्धिमान् होते हुए भी दुर्व्यसनी और आलसी होता है, लक्ष्मी उसको निरादर करती हुए उसे इस तरहसे त्याग देती हैं, जैसे कि पुंस्त्व-विहीन पुरुषको स्त्री—

'नलिनीवाम्बुसम्पत्त्या बुद्ध्या श्रीः परिपाल्यते।
उत्थानाध्यवसायाभ्यां विस्तारमुपनीयते॥
लक्ष्मीरुत्साहसम्पन्नाद् बुद्धिशुद्धं प्रसर्पतः।
नापैति कायाच्छायेव विस्तारं चोपगच्छति॥
वीतव्यसनमश्रान्तं महोत्साहं महामतिम्।
प्रविशन्ति महालक्ष्म्यः सरित्पतिमिवापगाः॥
सत्त्वबुद्ध्युपपन्नोऽपि व्यसनग्रस्तमानसः।
श्रीभिः षण्ढ इव स्त्रीभि-रलसः परिभूयते॥'
(काम० नी० सा० १४, ५-७)

इसीलिए सुख और सम्पत्ति चाहनेवाले मानवको धर्मपूर्वक अर्थका उपार्जन करके उसके तीन विभाग करके उनमेंसे एक भागसे धार्मिक और आर्थिक कार्योंका सम्पादन करना चाहिए। दूसरे भागसे अपने काम-विषयक आवश्यकताओंका सम्पादन करना चाहिए। और तीसरे भागको ऐसे कार्यमें लगाना चाहिए कि, जिससे अर्थकी अभिवृद्धि होती रहे—

'धर्मेणार्थः समाहार्यो धर्मलब्धं त्रिधा धनम्।
कर्तव्यं धर्मपरमं मानवेन प्रयत्नतः॥

एकेनांशेन धर्मार्थौ कर्तव्यौ भूतिमिच्छता।
एकेनांशेन कामार्थ एकमंशं विवर्द्धयेत्॥'

(महाभारत)

अत एव जो लोग उचित मार्गसे अर्थका उपार्जन करके, उचित रीतिसे उसका सदुपयोग करना जानते हैं, उनको—

'धनाद् धर्मं ततः सुखम्'

—के अनुसार अर्थसे धर्म और धर्मसे पूर्ण सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार धर्मानुकूल अर्थ भी मनुष्यके धर्म, अर्थ और काम—तीनों पुरुषार्थोंको सिद्ध करता हुआ, सुखके मूल धर्मको साङ्गोपाङ्ग समृद्ध करते हुए परम्परया मोक्षरूप परम-पुरुषार्थमें ही उपयुक्त होकर पूर्ण सफल हो जाता है और मनुष्यके जीवनको कृतकृत्य कर देता है। इसीसे इसका नाम 'अर्थ' है। अत एव 'अर्थ' भी, धर्मके ही समान, एक महान् पुरुषार्थ है।

'माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न संभाषते
भृत्यः कुप्यति नानुगच्छति सुतः कान्ता च नालिङ्गते।
अर्थप्रार्थनशङ्कया न कुरुते सम्भाषणं वै सुहृत्
तस्माद् द्रव्यमुपार्जयस्व सुमते द्रव्येण सर्वे वशाः॥'

तृतीय-परिच्छेद

'काम'

कामोऽसौ समवर्ततताग्र इति हि ब्रूते समीची श्रुतिः
कामादेव जगज्जनिस्थितिलयैराद्यः पुमान् क्रीडति ।
निष्कामोऽपि सकाम एव लभते निःश्रेयसं दुर्लभं
कामः कस्य वशे, क एष भुवने, कामस्य न स्याद् वशे ॥
(सङ्कल्प-सूर्योदय ३-४०)

'काम'

तीसरे पुरुषार्थका नाम काम है। जिस प्रकार धर्म और अर्थ—ये दोनों पुरुषार्थ लोक-स्थितिके मुख्य साधन होनेसे परम उपादेय हैं, उसी प्रकार 'काम' भी प्राणियोंकी लोकयात्रा (अर्थात् जीवननिर्वाह) में उपयोगी सुख-सामग्रियोंका मुख्य साधन होनेसे अत्यन्त उपादेय है। कामके बिना प्राणियोंकी उत्पत्ति, जीवन-निर्वाह एवं सुखकी प्राप्ति ही असम्भव है।

कामकी परिभाषा

'काम्यते इति कामः'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार विषय और इन्द्रियोंके सम्पर्कसे उत्पन्न होनेवाला मानसिक आनन्द ही मुख्यतया काम कहलाता है।

हम लोगोंके अपेक्षित कार्योंको करनेके लिए इन्द्रियाँ हमारी सहायता करती रहती हैं। हमारी प्रत्येक इन्द्रियका प्रधान कर्तव्य हमारे आवश्यक कार्योंमें हमारी सहायता करना होनेपर भी उसके साथ ही साथ हमारी प्रत्येक इन्द्रियको, अपने-अपने विषयके सम्पर्कसे एक-एक निजी सुखानुभव भी प्राप्त होता है। देखनेके लिए बने हुए नेत्र सुन्दर वस्तुको देखकर रूपके आनन्दका अनुभव करते हैं। सुननेके लिए बने हुए हमारे श्रोत्र मधुर सङ्गीतको सुनकर शब्दका आनन्द लेते हैं। क्षुधा-शान्तिके लिए किये जानेवाले भोजनमें हमारी रसनेन्द्रिय, आहारके स्वादको ग्रहण करते समय रसके आनन्दका अनुभव करती है। ऐसे ही सूँघनेके लिए बनी हुई हमारी नासिका-इन्द्रिय सुन्दर गन्धको ग्रहण करती हुई उसका आनन्द लेती है। स्पर्श-ज्ञानके लिए बनी हमारी त्वगिन्द्रिय निद्राके समय सुन्दर शय्याके मार्दवका अनुभव करती हुई सुखका रस लेती है। और सन्तान प्राप्त करनेके लिए किये जानेवाले गृहस्थाश्रमके जीवनमें गुह्येन्द्रिय अपने विषयका आनन्द लेती है।

इस प्रकार आँख, कान, नासिका, रसना और त्वचा—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा अपने प्रधान उद्देश्यको सम्पन्न करते समय रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—इन पाँच बिषयोंके सम्पर्कसे मिलनेवाले मानसिक

आनन्दको ही काम कहते हैं। यह काम प्राणियोंके पुण्य–कर्मोंका उत्तम फल है—

'इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते।
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम॥'

(म० भा० वन प०)

यह काम चित्तका एक सङ्कल्प है। इसका स्वरूप अत्यन्त ही सूक्ष्म है। अतएव वह केवल अनुभव-गम्य है। इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—

'द्रव्यार्थस्पर्शसंयोगे या प्रीतिरुपजायते।
स कामश्चित्तसङ्कल्पः शरीरं नास्य दृश्यते॥'

(वनपर्व ३३–३)

'अर्थात् स्रक्, चन्दन, वनिता आदि प्रिय-पदार्थोंके स्पर्श और सुवर्णादि धनका संयोग (लाभ) होनेपर मनमें जो एक विशेष प्रीति उत्पन्न होती है, वह चित्तका एक सङ्कल्प ही काम है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है। उसका रूप—आकार दिखलायी नहीं पड़ता।'

भगवान् ही प्राणियोंके शरीरमें विषयाकार बनी हुई बुद्धिमें अवस्थित होकर उसमें अभिव्यक्त आनन्दरूप हो करके कर्मोंके फलके रूपमें प्रतीत होते हैं—

[1]'प्रधानकालाशयधर्मसङ्ग्रहे शरीर एष प्रतिपद्य चेतनाम्।
क्रियाफलत्वेन विभुर्विभाव्यते यथानलो दारुषु तद्गुणात्मकः॥

(भाग० ४–३१–३५)

इसीलिए श्रुति कहती है कि—

एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'

जैसे दहीका सार मक्खन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थका सार 'काम' है। जैसे खलीसे श्रेष्ठ तेल है, तक्रसे श्रेष्ठ घृत है और वृक्षके काष्ठसे श्रेष्ठ उसका फूल और फल है, उसी प्रकार धर्म और अर्थसे श्रेष्ठ काम है—

१—अर्थात् जैसे एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काष्ठोंमें उन्हींके आकारादिके अनुरूप भासित होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापक भगवान् परमानन्दस्वरूप होते हुए भी प्रकृति, काल, वासना और अदृष्टसे उत्पन्नहुए शरीरमें विषयाकार बनी हुई बुद्धिमें स्थित होकर, कर्मोंके फलके रूपमें प्रतीत होते हैं।

'नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः।
श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामो धर्मार्थयोर्वरः॥'

(उ० प्र० प्रजा० पर्व ३७–३५)

इस रीतिसे इन्द्रियोंद्वारा अन्तःकरणमें प्राप्त होनेवाले विषय-सुखोपभोगके आनन्दको ही काम कहते हैं।

सारांश, आँख, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—इन पाँच विषयोंके उपभोगसे मिलनेवाले मानसिक आनन्दको काम कहते हैं। यह चित्तका सङ्कल्परूप है। इसका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः यह अनुभव-गम्य है।

पूर्वोक्त विषय और इन्द्रियोंके सम्पर्कसे प्राप्त होनेवाले कामके (मानसिक आनन्दके) जो साधन हैं, यानी इस कामको (मुख्य सुखको) प्राप्त करनेके लिए लोग जिन-जिन अभिलषित वस्तुओंकी इच्छा करते हैं, [1]उन्हें भी **'काम्यन्ते इति कामाः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार काम कहते हैं। इस प्रसिद्धिके अनुसार शरीर और इन्द्रियोंके उपयोगमें आनेवाले स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र, धन-धान्य, फल-फूल, भक्ष्य-भोज्य, लेह्य-चोष्य, पेय, नृत्य, गीत, वस्त्र, अलङ्कार आदि—जो शरीर और इन्द्रियोंके उपयोगी—ऐहलौकिक और पारलौकिक अभिलषित पदार्थ हैं, उनको भी काम कहते हैं। इसी व्युत्पत्तिके अनुसार अणिमा आदि सिद्धियोंको भी काम कहते हैं।

इसप्रकार विषय और इन्द्रियोंके सम्पर्कसे प्राप्त होनेवाले मानसिक सूक्ष्म आनन्द और उस काम-सुखके साधनभूत—जो स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र, धन-धान्य, भक्ष्य-भोज्य, पान, नृत्य-गीत, वस्त्र, अलङ्कार आदि—शरीर और इन्द्रियोंके उपयोगी समस्त इच्छित पदार्थ हैं, उनको भी कामरूप पुरुषार्थके साधन होनेसे, कार्य और कारणकी अभेद-विवक्षासे, काम कहते हैं। अतः फलत्वेन इच्छाके विषय तथा साधनत्वेन इच्छाके विषय—ये दोनों ही काम कहलाते हैं। यानी १. विषयोंके उपभोगसे प्राप्त होने वाला आनन्द और २. उसके साधन—इन दोनोंको ही काम कहते हैं। ३. साथ ही प्राणियोंको इस सुख और सुखोपभोगकी सामग्रियोंके सम्पादनकी ओर प्रेरित करनेवाला जो मानसिक सङ्कल्प है—अर्थात्

१—साध्य और साधनोंमें अभेद समझकर।

विषयाभिलाषरूप इच्छा, कामना अथवा वासना है, उसको भी— 'कामितं कामः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार काम कहते हैं। क्योंकि—

'वैकारिकाद् विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते काम-संभवः॥'
(भाग॰ ३।२६, २७)

—के अनुसार मनके ही संकल्प और विकल्पसे काम—अर्थात् इच्छा, कामना, वासना, मनोरथ आदि आन्तरिक कामकी उत्पत्ति (जागृति) होती है। इस काम-शब्दका अर्थ है—इच्छा, तृष्णा, वासना, एषणा आदि। यह वासनारूप सूक्ष्म काम ही सारे संसारका बीज है। ऋग्वेदमें कहा है कि—

'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदा प्रतीच्या कवयो मनीषा॥'
(ऋग्वेद.... ।)

'अर्थात् काम मनका, चित्तका बीज है (मनसो रेतः) वह परमात्माके निष्काम हृदयमें पहले—सदासे ही, वर्तमान है। तत्ववेत्ता मनीषियोंने गहरी खोज करके अपने हृदयमें सबके बन्धु इस कामको देखा है।' शिव-पुराणमें कहा है कि—

'कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्प-समुद्भवः।
कामात् सर्वे प्रवर्तन्ते लीयन्ते वृद्धिमागताः॥'
(धर्म सं॰ प॰ ८ अ॰)

इस तरहसे काम शब्दके मुख्यतया ये तीन अर्थ होते हैं—१. सुख २. सुखके साधन और ३. सुखकी कामना। इस प्रकारसे काम-शब्द शास्त्रोंमें, प्रसङ्गानुसार भिन्न-भिन्न स्थलोंमें, भिन्न-भिन्न अभिप्रायसे व्यवहृत होता है। यानी कहींपर सुखके लिए, कहींपर सुखके साधनोंके लिए और कहींपर सुखकी कामनाके लिए। अस्तु।

उक्त रीतिके अनुसार काम सुखस्वरूप अथवा सुखका मुख्य-साधन होनेके कारण प्राणियोंको अत्यन्त ही अभीष्ट होता है। साथ ही वह देह, इन्द्रियोंकी तृप्ति एवं परिपुष्टिका भी मुख्य साधन होनेसे प्राणियोंको लोक-यात्रामें भी अत्यन्त अपेक्षित हैं। क्योंकि—

'सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः'

—के अनुसार सम्पूर्ण प्राणियोंकी समस्त प्रवृत्तियाँ एकमात्र सुखके लिए ही होती हैं। अतएव सुखकी प्राप्तिके लिए प्राणियोंको काम नितान्त अपेक्षित है। कामका फल है—इन्द्रिय-तृप्तिपूर्वक आरोग्यलाभ। इसीसे श्रुति कहती है—

'यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति, नासुखं लब्ध्वा करोति,
सुखमेव लब्ध्वा करोति।' (छा ० उप० ।)

अस्तु। प्रवृत्तिमार्गका प्रधान उद्देश्य 'काम-सुख' ही है। इन सुखोंको धर्मानुसार भोगनेमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि चित्त और इन्द्रियोंकी प्रसन्नता ही विषयोपभोगका फल माना गया है। सोमदेव सूरीने कहा है कि—

'इन्द्रिय-प्रसादनफला हि विभूतयः।' (न ० वा० काम-समु० ६)

इसीलिए महर्षि कामन्दकने कहा है कि—

'सेवेत विषयान् काले मुक्त्वा तत्परतां वशी।
सुखं हि फलमर्थस्य तन्निरोधे वृथा श्रियः॥'
(नी० सा० ।)

इसी अभिप्रायसे महर्षि कौटल्यने भी अपने अर्थशास्त्रमें कहा है कि—

'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत, न निःसुखः स्यात्।
पञ्चमे दिवसस्याष्टमे वा भागे स्वैरविहारमिति॥'
(कौ० अ० १-७-३)

काम दो प्रकारका होता है—१. दिव्य (अर्थात् पारलौकिक—स्वर्गीय) और मानुष (अर्थात् ऐहलौकिक काम)। इनमेंसे दिव्य कामके सामने मानुष सुखोपभोग ऐसे हैं, जैसे कि—समुद्रके सामने कुशाग्रपर लटका हुआ जलबिन्दु ! इसीसे जैन तीर्थङ्कर महावीर स्वामीने कहा है—

'जहा कुसग्गे उदगं समुद्देण समं मिणे।
एवं मानुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए॥'
(उत्त० ७-२३)

'अर्थात् जैसे कुश नामक तृणके अग्रभागपर लटका हुआ जल समुद्रकी तुलनामें नगण्य होता है, उसी तरह मनुष्योंके कामभोग देवताओंके कामभोगोंके सामने नगण्य होते हैं।' अस्तु।

कामकी ओर प्रवृत्ति

महर्षि वात्स्यायनने कामसूत्रके प्रथम अधिकरणके दूसरे अध्यायमें सामान्य और विशेष कामका निरूपण करते हुए कहा है कि—'पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषयोंमेंसे [1]अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुकूल जो प्रीतिकर (सुखप्रद) पदार्थ हैं, उनके अनुभवकी इच्छा—सामान्य काम है।

पतङ्गको रूप, मीनको रस, भ्रमरको सुगन्ध, हरिणको गीत और मातङ्गको (गजको) स्पर्श—अधिक प्रिय होता है। किन्तु मनुष्यको पाँचों इन्द्रियोंके ये पाँचों विषय प्यारे हैं। तथापि प्रत्येक मनुष्यको किसी एक इन्द्रियका विषय अधिक प्रिय होता है। जिह्वाका रस तो प्रायः सभीको रहता ही है।

कामकी ओर प्राणियोंकी प्रवृत्ति स्वतः ही हो जाती है, उसको बढ़ानेका प्रयोजन नहीं है। इसीसे उसमें प्रवृत्ति करनेके लिए शास्त्रोंमें कहीं भी विधि (विधान) नहीं है—प्रत्युत रागतः प्राप्त स्वेच्छामय पाशविकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए, नियमोंसे मर्यादित करनेके लिए, विवाह और यज्ञ आदि विधि वृद्धोंने बतायी है। इस तरह उसे मर्यादासे नियन्त्रित कर दिया है। अतः यह परिसंख्या विधि है। इसीलिए जगद्गुरु महर्षि व्यासने कहा है—

'लोके व्यवायामिष-मद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तासु विवाह-यज्ञ सुराग्रहैरासु निवृत्ति-रिष्टा॥'

(भागवत–११–५–११)

कामकी ओर चित्तका आकर्षण स्वयमेव होता है। अर्थकी ओर भी चित्तका जो सर्वाधिक आकर्षण होता है, उसमें भी काम ही हेतु है। क्योंकि कामकी प्राप्तिका मुख्य साधन अर्थ ही है। यद्यपि तात्त्विक दृष्टिसे अर्थका प्रधानफल धर्म और गौणफल काम है, इसलिए अर्थ धर्मका ही मुख्य साधन है, तथापि अर्थकी ओर मनुष्य-समाजकी प्रवृत्ति प्रायः

१—अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुकूल—यह इसलिए कहा गया है कि प्रकृतिकी (अर्थात् स्वभावकी) भिन्नताके कारण किसीको खट्टा अच्छा लगता है, किसीको मीठा, किसीको तीता, किसीको कडुआ और कसैला ? इसीतरह किसीको सङ्गीत प्रिय है, किसीको रूप और रङ्ग। किसीको सुगन्ध और किसीको स्पर्श !

उसे कामका ही मुख्य साधन समझकर होती है, न कि धर्मका मुख्य साधन समझकर ! अतः धर्मार्जनके लिए अर्थका उपार्जन करनेवाले व्यक्ति तो लाखोंमें एक-आध ही कोई होते हैं, बाँकी तो सब कामोपार्जनके लिए ही अर्थको चाहते हैं। इसलिए इसकारणसे भी अर्थकी अपेक्षा काम ही चित्तको अधिक आर्कषित करता है। इसीसे भगवान् कृष्णने कहा है कि—

'उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च।
आसक्त-मनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥'

(भागवत–११–२१–२४)

अर्थात् सभी मनुष्य जन्मसे ही संसारके विषयभोगोंमें, प्राणोंमें, और सगे-सम्बन्धियोंमें स्वभावतः आसक्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु इन वस्तुओंकी आसक्ति उनकी आत्मोन्नतिमें बाधक एवं अनर्थका कारण होती है। अस्तु।

यहाँपर प्रश्न उठता है कि—'मनुष्यको काम सर्वाधिक प्रिय क्यों है? अर्थात् मनुष्यकी प्रवृत्ति कामकी ओर इतनी अधिक क्यों होती है?'

इसका समाधान यह है कि—संसारमें मुख्यरूपसे दुःखकी निवृत्ति तथा सुखकी प्राप्ति ही पुरुषोंको अभ्यर्थित होती है। अन्य वस्तुओंमें—सुखकी प्राप्ति तथा दुःखकी निवृत्तिके साधन होनेके कारण ही—इच्छा होती हैं। अतएव ससारमें सब वस्तु सुखके लिए होती हैं। सुख किसी अन्यके लिए नहीं होता। इसीतरह सब वस्तु आत्माके लिए होती हैं, आत्मा किसी अन्यके लिए नहीं होता। अतः सुख और आत्माका एक ही लक्षण होनेसे, आत्मा एवं सुखकी एकता है। सुख एवं आत्मा—दोनों ही निरुपाधिक एवं निरतिशय प्रेमके आस्पद माने जाते हैं। सुख सबको स्वभावतः प्रिय है। अतः उसको प्राप्त करना सब चाहते हैं। इसीलिए सुखका अन्वेषण सभी करते हैं। क्योंकि सुख आत्माका स्वरूप ही है—

'सुखमस्यात्मनो रूपम्।'

परन्तु, अविद्याके आवरणसे अपने उस सुख-स्वरूप आत्माके आवृत हो जानेसे यह जीव उस आत्म-सुखसे वञ्चित होकर, अपनेको निःसुख एवं दुःखमय समझकर, सुखके लिए छटपटाता हुआ फिर बाह्य-विषयोंमें उसका अन्वेषण करने लगता है। अतः सुखके लिए ही बाह्य-विषयोंकी तृष्णा उत्पन्न होती है। परन्तु बाह्य-विषयोंमें पूर्ण सुखके विद्यमान न

होनेसे प्राणीको उनसे केवल सुखका आभासमात्र ही प्राप्त होता है, पूर्णसुख नहीं मिलता। क्योंकि विषयोंमें वह पूर्णसुख तो है ही नहीं।

जैसे काँटा चुभनेसे चित्त व्यथित होता है, वैसे ही तृष्णारूप कण्टकसे भी चित्त व्यथित होता है। किन्तु अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति होनेपर कुछ क्षणके लिए तृष्णाकी शान्ति हो जाती है। उससमय प्राणियोंका अन्तःकरण शान्त, स्वस्थ, निश्चल, अन्तर्मुख एवं सत्त्वात्मक हो जाता है। उसी अन्तःकरणमें वास्तविक आनन्द एवं रसकी जो अभिव्यक्ति होती है, वही लौकिक-सुख काम कहलाता है। जिस वस्तुकी अधिक तृष्णा होती है, उसकी प्राप्तिमें चित्त उतना ही अधिक शान्त होता है और उस चित्तपर उतनी ही अच्छी रस या आनन्दकी अभिव्यक्ति होती है।

परन्तु जैसे अत्यन्त तृषार्तको, पिपासु पुरुषको ओसकी बूँद चाटनेसे तृप्ति नहीं मिल सकती, वैसे ही सांसारिक कामोंके उपभोगसे जीवोंकी वह सुखाभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती। इसीलिए सुखसे अतृप्त होनेके कारण ही सुखकी कामना, छोटेसे लेकर बड़ोंतक—सभीको सदैव बनी ही रहती है। 'पूर्णताके अभाव या अपूर्णताकी अनुभूति'—को ही कामना कहते हैं। [1]कामनासे ही मनकी वासना जागृत होती है। जिससे कि जीव सुखके लिए लालायित होकर, फिर बारम्बार कामका (बाह्य-विषयोंका) चिन्तन और मनन किया करते हैं—उन्हींमें सुखकी कल्पना करके उनके लिए अधिकाधिक लालायित रहते हैं। बस्, इसी कारणसे काममें मनुष्योंकी इतनी अधिक प्रीति होती है। इसीलिए श्रुति कहती है कि—

'काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति, तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते॥'

(बृह० उप०)

साराश, इस संसारमें प्रत्येक जीवके साथ अविद्या, कर्म, वासना, रुचि और प्रकृति-सम्बन्धका चक्र लगा हुआ है। जीवात्माको शरीर प्राप्त होनेपर, अविद्याके कारण शरीरमें आत्माभिमान हो जाता है। अतः आत्माभिमानकी जननी अविद्या है। अविद्यासे राग-द्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं। राग-द्वेषसे फिर पुण्य-पापरूप कर्म होते हैं। कर्मोंसे

१—आन्तरिक काम।

वासना उत्पन्न होती है। वासनाओंसे रुचि उत्पन्न होती है, उन रुचियोंके अनुसार अन्तिम स्मरण होकर फिर पुनर्जन्म, अर्थात् पुनः शरीर-सम्बन्ध होता है। तब उस शरीरमें आत्माभिमान होकर पुनः राग-द्वेष उत्पन्न होते है, उनसे फिर पुण्यपाप कर्म, उनसे फिर वासना, वासनासे रुचि, और रुचिसे फिर प्रकृति-सम्बन्ध होता है—इस प्रकारसे यह चक्र चलता रहता है। इसी सूक्ष्म रहस्यको सुस्पष्ट करते हुए श्रीमद्भागवतमें महर्षि शुकमुनिने कहा है कि—

'प्राणेन्द्रियमनोधर्मान् आत्मन्यध्यस्य निर्गुणः।
शेते कामलवान् ध्यायन् ममाहमिति कर्मकृत्॥
यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम्।
पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः पृथक्॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते॥'

(श्रीमद्भाग० ४–२९–२५–२७)

कामकी उपादेयता

मनुष्य-जीवनका मुख्य फल तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञानके लिए जिस प्रकार जीवन अत्यन्त अपेक्षित है, उसी प्रकार जीवनके लिए, नितान्त उपयोगी होनेसे, काम भी अत्यन्त अपेक्षित है। इसीलिए महर्षि व्यासदेवने कहा है, कि—

'धर्मार्थकाम-मोक्षाणां प्राणाः संस्थिति-हेतवः।
तान्निघ्नता किं न हतं, रक्षता किं न रक्षितम्॥'

अतएव तत्वज्ञानके उपयोगी मनुष्य-जीवनको स्वस्थ, सुखी एवं सुरक्षित रखकर, तत्वज्ञानके अनुकूल बनाये रखना—कामका मुख्य फल है, और इन्द्रियप्रीति उसका गौण फल है—

'कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो, जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥'

(श्रीमद्भाग० १–२–१०)

'अर्थात् काम-(विषयोंके उपभोग-) का फल इन्द्रियोंको तृप्त करना नहीं, उसका प्रयोजन केवल जीवन-निर्वाह है। क्योंकि विषयोंके सेवनसे इन्द्रियाँ कभी भी तृप्त नहीं हो सकतीं। अतः जितना विषय-सेवन करनेसे

अपना स्वास्थ्य ठीक बना रहे, उतना ही काम-(विषय-) का सेवन करना चाहिए। अर्थात् रसनासे उतना ही रसका सेवन करना चाहिए, कि जितनेसे अपना स्वास्थ्य ठीक रहे। आँखसे उतना ही रूप देखना चाहिए कि जितना देखनेसे स्वास्थ्य ठीक रहे। इसी तरह नाक आदि इन्द्रियोंसे भी उतना ही गन्ध आदि विषय सेवन करना चाहिए, जितनेसे कि अपना स्वास्थ्य ठीक बना रहे। इस तरहसे कामका फल जीवन-निर्वाह है, और जीवनका फल है—तत्त्वजिज्ञासा, अर्थात् उच्चकोटिके तत्त्वका चिन्तन करना। बहुत प्रकारके कर्म करके स्वर्गादिको प्राप्त करना उसका फल नहीं है। अतः जीवन-धारणके द्वारा तत्वज्ञानमें उपयोगी होनेके कारण 'काम'को भी एक पुरुषार्थ माना गया है।

अतः शरीर-स्थितिका, जीवनका, भी मूल होनेके कारण—

'युक्ताहार-विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥'

(गीता)

—के अनुसार जीवनके लिए काम भी अत्यन्त उपादेय है। क्योंकि कामके बिना किसीका प्राण-धारण नहीं हो सकता। विरक्तको भी देहधारण करनेके लिए कामकी आवश्यकता होती है। देखना, सुनना यतिके लिए भी आवश्यक है। इस प्रकार जीवन-निर्वाहमें उपयोगी धर्माविरुद्ध काम भी मोक्षमें सहायक है। अतः ऐसे कामसे मोक्ष प्राप्त होता है। किन्तु उचित रीतिसे, उचित मात्रामें सेवन करनेसे ही मनुष्य कामसे लाभान्वित हो सकता है। नहीं तो—अनुचित रीतिसे, केवल इन्द्रियोंकी तृप्तिके उद्देश्यसे, किया जानेवाला कामोपभोग मनुष्यको लक्ष्यभ्रष्ट भी कर देता है। इसीकारण महर्षि शुक्राचार्यने कहा है—

'न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यति लालयेत्।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥'

(शु० नी० ३ अ० १४ श्लोक)

चूँकि, बहुत बढ़ा हुआ काम क्रोधको उत्पन्न करके बड़ा अनर्थ खड़ा कर देता है। इसीलिए मनुने कहा है कि 'काममें अति आसक्ति भूलकर भी नहीं करनी चाहिए'—

'अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसापि न चिन्तयेत्।'

(मनुस्मृ० २)

इस प्रकार जो काम मनुष्यको सर्वाधिक प्रिय होनेसे ‘पुरुषार्थ’ है, उसका परिणाम अतीव दुःखद हो जाता है। इसीसे काम जितना अधिक प्रिय है, उतनी ही अधिक शास्त्रोंमें, उसकी निन्दा भी है। भगवान् कृष्णने कहा है कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों नरकके द्वार हैं—

‘त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥’
‘तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥’
(गीता।)

राजशास्त्रमें तो काम और क्रोधको अत्यन्त प्रबल मद्य बतलाया है। मद्यका यथोचित सेवन होनेसे, उससे कुछ लाभ भी होता है, अर्थात् प्रतिभा बढ़ती है, बुद्धि निर्मल होती है, धैर्य बढ़ता है, चित्तमें निश्चयकी स्फूर्ति होती है। परन्तु अनुचित सेवन करनेसे बड़ी भारी हानि होती है—एकदम बुद्धिका ही परिलोप हो जाता है। बस्, ठीक यही दशा काम और क्रोधसे भी होती है। इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—

‘कामक्रोधौ मद्यतमौ प्रयोक्तव्यौ यथोचितम्।’ (शुक्रनी०।)

‘अर्थात् काम और क्रोध—ये दोनों बड़े प्रबल मद्य (मादक) हैं। अतएव इनका सेवन बहुत ही सतर्क होकर, यथोचित मात्रामें ही करना चाहिए।’ इसीलिए थोड़ेसे जिह्वाके स्वादके लिए, बुद्धिकी सूक्ष्मता तथा शान्तिका स्वभाव खो बैठना, और आत्माकी उन्नतिसे हाथ धो-बैठना-अत्यन्त दुर्भाग्यकी बात है। महात्मा शेखसादीने यह कितना सुन्दर कहा है कि—

‘खुरदन बराय ज़ीस्तन व ज़िक्र करदनस्त।
तो मातकिद कि ज़ीस्तन अज़बहरे खुरदनस्त।’

‘अर्थात् खाना जीवित रहनेके लिए है, ताकि जीवनमें उच्चकोटिका चिन्तन किया जा सके। परन्तु तुम्हारा आशय यह है, कि जीवन बना ही खानेके लिए है ?’

इसीलिए कामको (अर्थात् कामासक्तिको) बढ़ानेकी अपेक्षा, जहाँ तक हो, उसे सीमित करना चाहिए। अस्तु,

विशेष काम

कामके विवेचनके प्रसङ्गमें यह बात भी विचारणीय है कि—यद्यपि कामका अर्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंके सम्पर्कसे जनित सुख अथवा सुखकी साधन-सामग्री[1] है, तथापि कामसूत्रके प्रणेता वात्स्यायन आदि महर्षियोंके अनुयायी लोग केवल स्त्री-पुं-विषयक भोगाभिलाषको ही 'काम' और उसके अभिलाषीको ही 'कामी' कहते हैं। अतः तदनुसार लोकमें 'काम' और 'कामी' शब्द प्रायः सर्वत्र इसी अर्थमें अधिक रूढ हो गये हैं। इसीलिए—

'कामिनां बहुमन्तव्यम्। 'यच्च कामसुखं लोके।'
'कामिहि नारि पियारि जिमि।'

—इत्यादि प्रचलित उक्तियाँ भी इसी अर्थकी द्योतक हैं। और इतर विषयोंकी अपेक्षया लोग प्रायः इसीका अधिक महत्व समझकर इसी ओर अधिकाधिक अकृष्ट भी होते हैं। इसी कारण बड़े-बड़े त्यागी, वीतराग और तपस्वी महात्मा भी—अर्थात् अन्नपान आदि विषयोंका परित्याग कर देनेवाले लोकोत्तर महापुरुष भी—इस ओर आकृष्ट होकर पथभ्रष्ट (अपने लक्ष्यसे च्युत) हो जाते हैं। इसीलिए विवेकी और त्यागशील पुरुष इस प्रसङ्गसे सदैव बचते रहनेकी चेष्टा भी करते हैं। अतः इससे प्रतीत होता है कि सर्वोत्तम 'काम' यही है? अस्तु।

इस धारणाका मुख्य कारण यह है कि, शृङ्गाररसमें स्त्री-पुरुषके परस्पर सम्मिलनमें, दोनोंको परस्पर एक दूसरेके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका—यानी पाँचों इन्द्रियोंके अभीष्ट पाँचों ही विषयोंका—एक ही जगह और एक ही साथ रसास्वादन प्राप्त होता है। इसीलिए भिन्न-भिन्न विषयोंके पृथक्-पृथक् समास्वादन करनेकी अपेक्षा इसमें एक ही साथ पाँचों विषयोंका रसास्वाद प्राप्त होनेसे, संसारी लोगोंको इतर विषयोंकी अपेक्षया इसमें अधिक रसानुभूति होती है। क्योंकि इसमें दोनोंको एक दूसरेका स्पर्श प्राप्त होनेसे, परस्पर एक-दूसरेके स्पर्शका सुख भी प्राप्त होता है। रस-शास्त्रमें स्पर्श-सुख ही सर्वश्रेष्ठ सुख माना जाता है। अतः इतर सुखोंके साथ यदि स्पर्श-सुख प्राप्त न हो तो फिर वे सब व्यर्थ हो जाते हैं। प्रियके स्पर्शमें कितना सुख होता है—यह अनुभव-गम्य है।

१—अर्थात् धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, एवं भक्ष्य, भोज्य आदि सभी अभिलषित वस्तु हैं।

प्रत्येक प्राणी अपनी आँख, कान, रसना, नासिका और स्पर्शेन्द्रियके द्वारा ही रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—इन पाँच विषयोंके सुखका अनुभव करते हैं। इनमेंसे आँख, कान, रसना और नासिका—इन चार इन्द्रियोंके गोलक तो शरीरके एक छोटेसे कोनेमें अवस्थित हैं। उन्हें बहुत ही संकुचित, छोटा-छोटा स्थान मिला है। अतः वे सब परिमित हैं। इसी कारण शरीरके एक छोटे-से कोनेमें रहनेवाली एक इन्द्रिय एक ही विषयका रसास्वाद कर सकती है। क्योंकि वह एक छोटेसे गोलकसे अपने विषयको ग्रहण करती है। परन्तु धन्य है वह स्पर्शेन्द्रिय, जिसने कि प्राणियोंके सारे ही शरीरपर बाहर अन्दर सर्वत्र, अपना पूरा आधिपत्य स्थापित कर रक्खा है। अतः प्राणियोंके आँख, कान, नासिका, मुँख, हाथ, पाँव, नाभि, हृदय आदि सम्पूर्ण ही शरीरमें बाहर और अन्दर—सब जगह स्पर्शेन्द्रिय व्याप्त है। अतः अपने-अपने छोटेसे गोलकोंमें रहनेवाली समस्त इन्द्रियोंको भी स्पर्शेन्द्रियकी सहायता अपेक्षित होती है। इसीलिए सुन्दर गानको सुनकर उसकी ध्वनि जब तक हृदयको स्पर्श नहीं करती, तब तक रस नहीं आता। स्पर्श करनेसे ही प्रेममें वृद्धि होती है। अतएव योगी अपने अन्तःकरणमें ब्रह्मका स्पर्श करते हैं। माता-पिता अपने बच्चोंको स्पर्श करते हैं, इससे उनको बड़ा सुख होता है। गौएँ अपने बच्चेंको जीभसे चाटती हैं, इससे उनका स्नेह बढ़ता है। इसीलिए कामशास्त्रमें स्पर्श-सुखको सब सुखोंका सम्राट् माना है। इसीलिए जैन-दर्शनोंमें, ज्ञानेन्द्रियोंकी गणनामें, स्पर्शेन्द्रियको सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। तत्त्वार्थ-सूत्रमें कहा गया है कि—

'स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि।' (२-१९)

इस सूत्रके वार्तिक और भाष्यमें कहा है कि—'यहाँ स्पर्शेन्द्रियकी गणना सर्वप्रथम इसलिए की गयी है कि—स्पर्शेन्द्रिय शरीरके बाहर अन्दर—सर्वत्र ही व्याप्त होकर रहती है:—

'स्पर्शनग्रहणमादौ शरीरव्यापित्वात्।' (वार्तिक ३)

'यतो वितत्य (व्याप्य वा) शरीरमवतिष्ठते स्पर्शनम्,

अतोऽस्य ग्रहणमादौ क्रियते।' (तत्त्वार्थ-वार्तिक-भाष्य[1]—पृ० १३१)

इसीसे राजनीतिके मर्मज्ञ महर्षि श्रीशुक्राचार्यजीने कहा है कि, स्पर्श-विषयका आकर्षण सब विषयोंसे अधिक प्रबल होता है। वह बड़े-बड़े

१—ज्ञानपीठ संस्करण।

योगियोंके भी चित्तको हर लेता है—अतः विषयोंका उपभोग अत्यन्त सावधान होकर, उचित मात्रामें करना चाहिए—

'एषु स्पर्शो वरस्त्रीणां स्वान्तहारो मुनेरपि।
अतोऽप्रमत्तः सेवेत विषयांस्तु यथोचितान् ॥'

(शु० नी० ३ अ० ११६)

इस काम-चेष्टामें स्त्री-पुरुषके परस्पर परिष्वङ्गमें, त्रपा-लज्जा आदि सब रुकावट छोड़कर, स्वच्छन्दताकी पराकाष्ठा दीख पड़ती है, जो चाहते हैं, सो करते हैं। इसीलिए मैथुनशक्तिके अभावको, अर्थात् क्लीवत्व और बन्ध्यात्वको साधारण स्त्री-पुरुष असह्य दुःख मानते हैं। इसीसे उपनिषद्में भी कहा गया है कि—

'सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एव एकायनम्।'

एक दृष्टिसे योषा और पुमान्के परस्पर परिष्वङ्गमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका एक साथ प्रवर्तन, तर्पण और आनन्दन होता है। इसीसे यह काम भौम और दिव्य-सुखका सर्वस्व माना जाता है। इसीलिए किसी कविकी उक्ति है कि—

'जये पृथिव्याः पुरमेव सारं, पुरे गृहं सद्मनि चैकदेशः।
तत्रापि शय्या शयने वरा स्त्री रत्नोज्ज्वला स्वर्गसुखस्य सारः ॥'

सुखकी इच्छा पाँच (ज्ञानेन्द्रियोंके) विषयोंके उपभोगसे उद्दीपित और पूर्ण होती है। स्त्री और पुरुष, एक दूसरेके शरीरमें इन पाँचों विषयोंके सार और उनके उपभोगसे सांसारिक सुखकी पराकाष्ठाका तीव्रतम अनुभव पाते हैं। इसीलिए स्त्री-पुरुषके द्वन्द्वका (मिथुनका) जो परस्पर काम है, वह 'विशेषकाम' कहलाता है। स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर—देह और मन—दोनोंके सभी विषयोंमें स्त्री-पुरुष एक दूसरेके लिए संसार-सर्वस्व हैं और सुख-सम्पत्तिका सार भी। इसीलिए महाकवि भव-भूतिने कहा है—

'प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसाम् इत्यन्यान्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥'

(उत्तर रा० च०)

अतः जो लोग बिना वासनाओंके क्षीण हुए, असमयपर इसे त्यागकर,

विरक्त हो जाते हैं, उनपर [1]कामकी ऐसी बड़ी मार पड़ती है कि वे फिर [2]'वान्ताशी' होकर पथभ्रष्ट हो जाते हैं।

'आपयतो वै ....अन्योन्यस्य सर्वान् कामान् '

(छान्दो० उ० ।)

इसी कारण विषय-सुखार्थी लोगोंकी दृष्टिमें, कामी-जगत्‌में, प्राय: स्त्रीपुंविषयक काम ही सर्वोत्तम सुख प्रतीत होता हुआ 'काम' शब्दसे व्यवहृत होता है और उस विषयकी कामना रखनेवाला व्यक्ति ही 'कामी' कहलाता है। इसीलिए काम और कामी शब्द प्राय: इन्हीं अर्थोंमें अधिक प्रसिद्ध हो गये हैं। इस रीतिसे प्राय: उक्त[3] काम ही विषयी लोगोकी इच्छाका मुख्य विषय बन गया है। और प्राय: उसी ओर लोगोंका अधिक आकर्षण भी होता है। अत: ऐसे लोग अनुचित पद्धतिसे कहीं 'कामकी प्रचण्ड ज्वालामें,—'अग्निज्ज्वालामें पतङ्गोंकी तरह, भस्म न हो जायँ, इसी उच्चतम उद्देश्यसे वात्स्यायन आदि महर्षियोंने उच्छृङ्खल पाशविकी कामप्रवृत्तिमें नियन्त्रण लगाकर लोगोंको धर्माविरुद्ध काममें प्रवृत्त करनेके लिए—कामासक्त पुरुषोंके कल्याणार्थ 'काम-शास्त्र'का निर्माण किया है। और उसमें **'परभाषया एव परो बोधनीय:'**— इस उक्तिके अनुसार[4] कामका विशद विवेचन करते हुए उसके उचित उपयोगका प्रकार भी बतलाया है। अत: काम-शास्त्रोक्त पद्धतिके अनुसार 'काम'का लक्षण यह है कि—

'आभिमानिक-रसानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रियप्रीतिः सः कामः।'

(का० सू० ।)

इस सूत्रके भाष्यमें वात्स्यायन महर्षिने कहा है कि—

'स्पर्श-विशेषविषये तु अस्य आभिमानिक-सुखानुविद्धा फलवती अर्थप्रतीतिः कामः।'

अर्थात् जिस अभीष्ट विषयमें, यानी विशेष प्रकारके स्पर्श-सुखमें स्वीयत्वाभिमान जनित रससे—इससे मुझे सुख मिलेगा—इस बुद्धिके साथ इन्द्रिय और मनकी परितृप्ति हो—उसको 'काम' कहते हैं। अस्तु।

१—कामदेवकी। २—वमन की हुई वस्तुको खाकर।

३—स्त्रीपुंविषयक काम।

४—उन्होंकी प्रसिद्धिके अनुसार।

काममें प्रवृत्तिका मूल

प्राणियोंको [1]काममें प्रवृत्त करनेवाला भी काम ही है। पूर्वोक्त रीतिसे काम बाह्य, आन्तरिक तथा वासना रूपसे, तीन प्रकारका होता। इन्हींको स्थूल, सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतर काम कहते हैं। काम शब्दका अर्थ है—सुख, सुखकी कामना, इच्छा, तृष्णा, वासना, एषणा, तथा सुखके साधन।

स्त्री, पुत्र, गृह, क्षेत्र, धन-धान्य, भक्ष्य-भोजन आदि जो सुखके साधन हैं—उन स्थूल विषयोंको 'बाह्य-काम' कहते हैं। इन्हींको स्थूल काम भी कहते हैं। विषयोंका चिन्तन या मनोरथ करते समय जो बाह्य विषय सूक्ष्मरूपसे केवल मनमें प्रतीत होते हैं, वे कामके आन्तरिक रूप होनेसे 'आन्तरिक काम' कहलाते हैं, इन्हींको 'सूक्ष्म-काम' कहते हैं। इनसे भी सूक्ष्म जो देखे और सुनेहुए विषयोंके अत्यन्त सूक्ष्म-संस्कार अन्तःकरणमें (मनमें) अङ्कित हो जाते हैं, उनको 'वासना-मात्र' काम कहते हैं—इन्हींका नाम 'सूक्ष्मतर काम' है। इस तरहसे कामके तीन भेद होते है। इनमेंसे सूक्ष्म और सूक्ष्मतर अर्थात् आन्तरिक और वासनामय काम ही बाह्य (अर्थात् स्थूल) काममें प्रवृत्तिके कारण हैं।

इनमेसे अन्तःकरणमें प्रविष्ट 'वासना-मय' काम तथा 'कामनारूप' मानस-कामके चार-चार भेद [2]बतलाए गये है—(१) सूक्ष्म, (२) स्थूल, (३) स्थूलतर और (४) स्थूलतम।

(१) **सूक्ष्म**—शरीरोत्पत्तिके पहले प्राणियोंके अन्तःकरणमें, किसी भी वस्तुके विषयकी वृत्ति[3] उत्पन्न नहीं होती। इसलिए उस अवस्थामें, वृत्तिशून्य अन्तःकरणमें स्थित जो वासनामय अथवा कामनारूप काम है—उसको 'सूक्ष्म-काम' कहते हैं।

(२) **स्थूल**—इसके अनन्तर शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके द्वारा शरीर उत्पन्न हो जानेपर जीवका अन्तःकरण जब इस स्थूल शरीरसे युक्त हो जाता है, तब प्रसङ्गानुसार अन्तःकरणमें (विषयोंकी) वृत्तियाँ प्रादुर्भूत होने लगती हैं। ऐसे वृत्तियुक्त अन्तःकरणमें अभिव्यक्त होकर वही काम फिर (मनमें) 'स्थूल' रूप हो जाता है।

१—अर्थात् बाह्य विषयोंमें।

२—देखिए—गीताकी मधुसूदनी टीका—३ अ०।

३—मनकी एक विषयाकार लहर।

(३) **स्थूलतर**—स्थूलकाम ही प्रसङ्गानुसार विषयोंका चिन्तन और मनन होते रहनेसे, पुनः पुनः उद्‌बुद्ध होकर मनमें 'स्थूलतर' रूपको धारण कर लेता है।

(४) **स्थूलतम**—वही स्थूलतर काम फिर विषयोंके उपभोगके समय अत्यन्त उद्‌बुद्ध होकर मनमें 'स्थूलतम' रूप हो जाता है। इस तरहसे वासना और विषयाभिलाषरूप इस सूक्ष्म, मानसिक कामके—ये चार भेद होते हैं। अस्तु।

वासनारूपसे प्राणियोंके अन्तःकरणमें अवस्थित पूर्वोक्त आन्तरिक सूक्ष्मतर काम ही सबके मनमें तत्-तत् विषयोंकी ओर प्रवृत्तिके मूल, सङ्कल्पको उत्पन्न करके जीवोंको इस प्रपञ्चके अनन्त कार्यजालोंमें फँसानेके लिए प्राणियोंके मनको प्रेरित करता है। अतः संसारमें जहाँ-जहाँ और जिसने-जितने प्रकारकी भी प्रवृत्तियाँ प्राणियोंमें दिखलायी पड़ती हैं, उन सबका मूल-कारण 'वासना' रूप काम ही है। इस (मूल) कामसे ही मनमें तत्-तत् विषयकी कामना अर्थात् इच्छा या अभिरुचि उत्पन्न होती है। कामनासे फिर प्रवृत्ति होती है। इस तरह काम ही सब जीवोंको तत्-तत् कर्मोंमें प्रवृत्त करता है। काम यदि न हो तो फिर विश्वमें किसीकी भी, कोई भी क्रिया हो ही नहीं सकती। क्योंकि काम-हीन अर्थात् कामनासे रहित पुरुषकी कोई भी क्रिया कहीं भी दिखलायी नहीं पड़ती। अतः जीव जो-जो भी क्रिया करता है, वह सब कामकी ही प्रेरणा है। इसीलिए भगवान् मनुने कहा है कि—

'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद् धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥'

(म० स्मृ० २, ४)

अर्थात् बिना कामके कोई भी क्रिया, कोई भी जीव नहीं करता। जो कुछ भी, जो कोई भी, करता है, वह सब अन्ततः कामकी ही चेष्टा है, अर्थात् सुखकी लिप्सासे ही किया गया है।

इसीलिए महाभारतमें कहा गया है कि 'जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, उसे न तो धन कमानेकी इच्छा होती है और न धर्म करनेकी ही। क्योंकि कामना-हीन पुरुष तो काम (अर्थात् भोग) भी नहीं चाहता है। इसलिए 'त्रिवर्ग' में काम ही सबसे बढ़कर (अर्थात् बलवान्) है। अतः ऋषि-मुनि लोग भी कामसे ही—किसी न किसी कामनासे संयुक्त

होकर ही—तपस्यामें मन लगाते हैं। कन्द-मूल, फल और पत्ते खाकर रहते हैं। वायु पीकर मन और इन्द्रियोंका संयम करते हैं—

'नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते॥
कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः॥'

(शा० पर्व १६७–२९, ३०)

आन्तरिक कामकी उत्पत्ति

आन्तरिक कामकी उत्पत्ति बाह्य-कामसे (अर्थात् स्थूल विषयोंके दर्शन, श्रवणसे होनेवाले अनुभव अथवा कामासक्त पुरुषोंके सङ्गसे) होती है। बाह्य-विषयोंको देखने और सुननेसे ही मनमें उन (अप्राप्त) विषयोंकी प्राप्तिका [उत्कट] सङ्कल्प अर्थात् 'यह वस्तु मुझे मिल जाय' इस प्रकारकी एक विशेष वृत्ति (यानी लहर-सी) उत्पन्न होती है, उसको **'कामितं कामः'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'काम' कहते हैं। जैसा कि दार्शनिक सम्राट्-पूज्यपाद श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है—

'अप्राप्तो विषयः प्राप्तिकारणाभावेऽपि, प्राप्यताम्'—
इत्याकारः, चित्तवृत्ति-विशेषः कामः।'

(श्रीमद्भगवद्गीता ३ अ०—मधुसूदनी टीका)

इससे भी सूक्ष्म—विषयोंके अनुभवसे ओत-प्रोत हुए मनमें, उन-उन बाह्यविषयों अथवा विषयीजनोंके सङ्गसे विषयोंकी अच्छाईका एक असर होकर—'अहा, यह वस्तु बड़ी सुन्दर है। यह मुझे चाहिए[1]।' इत्यादि प्रकारकी जो एक सूक्ष्म तृष्णा (अर्थात् वासना) उत्पन्न होती है, उसको भी 'काम' कहते हैं। इस तरह बाह्य-विषयों या विषयी लोगोंको देखने या सुननेसे, उसके प्रभावसे मनमें उत्पन्न हो-होकर उसमें (मनमें) चिपक जानेवाली कामकी सूक्ष्म-सूक्ष्म अवस्था अर्थात् यह सूक्ष्मतम काम ही 'वासना' कहलाती है। इन वासनामय विषयोंका विशेष अनुभव स्वप्नावस्थामें, हृदयमें ही, जाग्रत्में देखे हुए पदार्थोंके समान होता है। यह मूल वासना ही सर्वसङ्कल्पोंकी जननी होती है। इस वासनासे ही प्राणियोंके मनमें बाह्य-विषयोंका दर्शन या स्मरण होनेपर—'यह वस्तु

१—ममैत भवन्तु इति तृष्णाविशेषः कामः। (गीता—मधुसूदनी टीका)

मुझे मिले' इत्यादि प्रकारके तरह-तरहके सङ्कल्परूप काम (अर्थात् समस्त कामनाएँ) उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार कामसे उत्पन्न होनेवाली कामकी यह सारी ही परम्परा, कार्य और कारणके अभेदकी विवक्षासे, काम कहलाती है। जैसे कि किसी राजाकी पुत्र-पौत्रादि सन्तान-परम्परा सब राजा ही कहलाती है। अस्तु।

चित्त और काम

सूक्ष्म कामका निवास स्थान है—चित्त। अतः सभी काम सूक्ष्मतम-रूपसे—वासनारूपसे प्राणियोंके चित्तमें प्रविष्ट होकर छिपे रहते हैं। निमित्त पाकर, विषय अथवा विषयीजनोंके सङ्गसे, उद्बुद्ध होकर फिर वे चित्तमें तत्-तत् कामनाओंको उत्पन्न कर देते हैं। इसीलिए चित्तका नाम 'आशय' है। आशय शब्दका अर्थ है—**'आ शेरत कामा यस्मिन् स आशयः'**—अर्थात् जिसमें सर्वत्र काम सोये पड़े हों, यानी कामोंके सोनेकी (आराम करनेकी) जगह। अतः सभी काम अर्थात् सम्पूर्ण विषय, वासनारूपसे चित्तमें प्रविष्ट होकर, चित्तकी एक-एक वृत्तिमें घुसकर, वहीं पड़े रहते हैं और चित्त भी उन सब विषयोंमें ही घुसा रहता है। अर्थात् चित्त और काम (विषय),दोनों ही परस्पर मिल-जुले ही रहते हैं। इसीसे भगवान् कृष्णने कहा है—

'गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।'
(श्रीमद्भाग० ११-१३,२५)

प्राणियोंके चित्तमें यह सूक्ष्मतम काम (अर्थात् वासनाएँ) एक-दो नहीं, किन्तु अनन्तानन्त भरे रहते हैं। जैसे मछलियाँ-फँसानेवाले जालमें अगणित ग्रन्थियाँ (गाँठें) होती हैं, वैसे ही देखे या सुनेहुए अनेकानेक विषयोंकी अनन्तानन्त वासनाएँ चित्तमें उत्पन्न होकर उसीमें गुँथ जाती हैं। कालान्तरमें प्रसङ्गवश, अवसर पाकरके वे वासनारूप आन्तरिक सूक्ष्मतम काम ही प्राणियोंके मनमें तत्-तत् विषयोंके सङ्कल्पोंको उत्पन्न करके तत् तत् इच्छा, कामना और अभिरुचिको उत्पन्न करके—आन्तरिक कामको जागृत करके जीवोंको स्थूल-काम अर्थात् बाह्य-विषयोंमें प्रवृत्त कर देते हैं। इस तरहसे ब्रह्माण्डमें समस्त प्रवृत्तियोंका मूल-बीज एक-मात्र काम ही है। इसी कारणसे श्रुतिने जीवको 'काममय' कहा है—

'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः' (छान्दोग्य उ०)

'आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव। सोऽकामयत। जाया मे स्यादथ-प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय।' इत्यादि।

(वृ० दा० उप० १-४-६७)

अस्तु। कामकी सूक्ष्मतम अवस्था, अर्थात् वासना ही उत्तरोत्तर—आन्तरिक तथा बाह्य कामकी जड़ है। चित्तकी शक्ति बड़ी ही अद्भुत है। चलते-फिरते हुए भी मनुष्य यदि कहीं किसी वस्तुको देख-सुन लेता है, तो बस, उतनेसे ही उसके चित्तमें उस विषयकी एक वासना उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् उस बाह्य-कामकी एक सूक्ष्मतम छाया चित्तमें अङ्कित हो जाती है। इसीका नाम 'वासना' है। यह मूल वासना ही फिर सूक्ष्म और स्थूल कामको अङ्कुरित, पल्लवित और पुष्पित करती है। अतएव मनमें वासनाओंका उत्पन्न होना ही इस सारे प्रपञ्च और व्यवहारोंका मूल है। जीवकी पुण्य-पापात्मक समस्त प्रवृत्तियाँ इन्हींसे उत्पन्न होती हैं। अतः यदि यह आन्तरिक काम न हो, अर्थात् किसीके मनमें यदि कोई कामना या वासना न हो तो, बाह्य कामके विद्यमान रहनेपर भी उसमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि निरभिलाषी व्यक्तिकी किसी भी विषयमें, कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिए शास्त्रकारोंने इसपर गम्भीर विवेचन करते हुए कहा है कि—

'वहिर्गतो हि विषयः कामे सत्येव गृह्यते।
उभयोर्योग-सिद्धौ हि विश्लेषोऽशक्य एव च॥'

(भाग० ३,२२।१२ सुबोधिनी टीका)

अर्थात् आन्तरिक कामके रहनेपर ही प्राणीकी बाह्य-काममें प्रवृति होती है। काम और काम्य—यानी आन्तरिक काम और बाह्य विषय—इन दोनोंका संयोग हो जानेपर फिर विषय और चित्तका अलगाव होना भी अशक्य हो जाता है—

वासनारूप काम

अतः सब अनर्थोंकी जड़ वासना है। किसी भी विषयको देख-सुनकर मनमें उसकी वासना उत्पन्न न होने देना बहुत कठिन काम है—यह अपने वशकी बात नहीं है। क्योंकि विषयोंके सम्पर्कसे मनकी अवस्था इतनी सुकोमल (नाजुक) हो जाती है, जितनी कि चित्र खींचते समय (फोटो लेते समय) फोटोग्राफरके कैमरेके फोकसकी। चित्र लेते समय कैमरेके फोकसकी दशा इतनी सुकोमल होती है कि—

आधे ही सेकेण्डमें भारी घटना घट जाती है, वारान्यारा हो जाता है—चित्र खींचते समय कैमरेके चित्रग्रहणके अनुकूल हो जानेपर, यदि कहींसे उड़ती हुई चिड़िया या कोई मक्खी भी उसके सामने आ जाय, तो फिर उस चित्रमें उसकी छाया पड़े बिना नहीं रह सकती ?

बस, ठीक ऐसी ही अवस्था हमारे अन्तःकरणकी भी है। अन्तःकरण-पर देखी-सुनी हुई वस्तुकी तुरन्त ही छाप पड़ जाती है। वह छाप ही 'वासना' कहलाती है। और फिर कालान्तरमें सङ्ग पाकरके वह वासना ही आशयमें अर्थात् मनमें—सोये हुए कामको अर्थात् विषय-सङ्कल्परूप आन्तरिक कामको जगाकर, मनमें उस विषयकी भोगाभिलाषाको उद्दीप्त करके मनको स्थूल कामकी—बाह्य-विषयोंकी, प्राप्ति और उनको भोगनेके लिए प्रेरित कर देती है। मानसिक कामके स्मरण-चिन्तन और बाह्य-कामके उपभोग एवं कामी-जनोंकी कथा-वार्ताएँ सुननेसे चित्तपर उन बातोंका बड़ा भारी असर पड़ जाता है। किसीको खाते-पीते, ऐश-आरामकी वस्तुओंका सेवन करते (यानी कामोपभोग करते) देख-सुनकर मनुष्यके चित्तमें वासनारूपसे विद्यमान सूक्ष्मतम काम चित्तमें तुरन्त ही उभड़ जाता है। फिर उसमें अच्छाई प्रतीत होने लगती है, जिससे उस वस्तुमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति हो जानेपर उसको प्राप्त करने और उसे अपने पास रखनेकी कामना होती है। फिर उन वस्तुओंके उपभोगकी कामना (लालसा) बढ़ती है। उत्कट कामना हो जानेपर काम्य विषयके न मिलने अथवा उसमें रुकावट होनेपर लोगोंमें परस्पर कलह होने लगता है। कलहसे फिर असह्य क्रोध उत्पन्न हो जाता है। क्रोधके समय फिर अपने हित और अहितका ज्ञान ही नहीं रह जाता—चित्तमें भारी अज्ञान छा जाता है। अज्ञानसे फिर मनुष्यकी कार्याकार्यका निर्णय करनेवाली, व्यापक चेतनाशक्ति, अर्थात् स्मृतिशक्ति (सद्बुद्धि) शीघ्र ही लुप्त हो जाती है। चेतनाशक्ति अर्थात् स्मृतिशक्तिके लुप्त हो जानेपर मनुष्यमें मनुष्यता ही नहीं रह जाती—पशुता आ जाती है और वह शून्यके समान, अस्तित्व-विहीन हो जाता है—जैसे कि कोई मूर्च्छित या मरा हुआ हो। ऐसी अवस्थामें फिर उसका कोई भी स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकता—

'विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत्।
सङ्गात्तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम्॥

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्तते ।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥
तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते ।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥'

(श्रीमद्भागवत—११-२१-१९-२०-२१)

कामकी महिमा

इसीलिए इस असङ्ग, अजर, अमर आत्माको जगत्-प्रपञ्चमें, जीवन-मरणके चक्रमें, डालनेवाला (मुख्य प्रेरक) काम ही है। अतः काम ही प्राणियोंके जन्म-मृत्युरूप बन्धनका हेतु है। प्राणिमात्रको सत् और असत् कर्मोंमें काम ही प्रेरित करता है। अतएव काम ही समस्त सृष्टिका संचालक है। विश्वमें जो कुछ भी हुआ है, अथवा हो रहा है, यह सब कामका ही कार्य है। इसीलिए भगवती श्रुति भी कामकी महिमाका गान कर रही है—

'कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्ते ॥'

इसीलिए शास्त्रोंमें कहा गया है कि—"इस विश्व-ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी है, वह सब कामका ही कलेवा है"—

'कामस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत् ।'

इसीलिए महाभारतमें कामको त्रिवर्गमें मुखिया बतलाया गया है—

'नाकामतो ब्राह्मणाः स्वन्नमर्थान्
नाकामतो ददाति ब्राह्मणेभ्यः ।
नाकामतो विविधा लोकचेष्टा-
स्तस्मात् कामः प्राक् त्रिवर्गस्य दृष्टः ॥'

इसीलिए कामकी महिमाके विषयमें पूज्यपाद श्रीवेदान्त-देशिकने भी यह कितना सुन्दर विवेचन किया है। देखिए—

'कामोऽसौ समवर्ततताग्र इति हि ब्रूते समीची श्रुतिः,
कामादेव जगज्जनिस्थितिलयैराद्यः पुमान् क्रीडति ।
निष्कामोऽपि सकाम एव लभते निःश्रेयसं दुर्लभं
कामः कस्य वशो, क एष भुवने कामस्य न स्याद् वशो ॥'

(सं० सू० ३ अंक—४०)

अस्तु ।

बाह्य-काम

आन्तरिक कामकी उत्पत्ति होती है बाह्य-कामसे। इन्द्रियोंद्वारा बार-बार बाह्य-विषयोंको देखने-सुननेसे चित्त उन विषयोंमें आसक्त हो जाता है, और वे विषय चित्तमें अङ्कित हो जाते हैं। अतः आन्तरिक कामकी उत्पत्तिकी शुरुआत बाहरसे (इन्द्रियोंसे) होती है। बाहर इन्द्रियाँ हैं, अन्दर बुद्धि बैठी है। बुद्धिमें कर्तृत्व रहता है। मनकी प्रेरणासे इन्द्रियाँ बाहर, विषयोंमें जाती हैं, तब पीछे फिर बुद्धि उनपर आसक्त होती है। अतः आन्तरिक कामको उत्पन्न और उद्बुद्ध करने वाला बाह्य-काम (अर्थात् बाह्य-विषय) है। बाहरका ही काम अन्दर (बुद्धिमें) प्रविष्ट होता है। अतएव आन्तरिक कामको निवृत्त—नष्ट करनेके लिए, कामका निरोध पहिले बाहरसे करना चाहिए—इन्द्रियोंको बशमें करना चाहिए। बाहरके कामका अवरोध होनेपर ही, अन्दरके कामका (अर्थात् मन और बुद्धिमें स्थित काम और वासनाओंका) अवरोध हो सकता है।

अतः जो यह सोचता है कि, जब पहिले बुद्धिस्थ काम निवृत्त हो जायगा, अर्थात् 'जब मनमें विषयोंका सङ्कल्प उठना बन्द हो जायगा, तब फिर बाह्य-कामका अवरोध स्वतः ही हो जायगा'—वह मूर्ख है। क्योंकि कामकी शुरुआत बाहरसे होती हैं, अतः उसका अवरोध पहले बाहरसे ही करना चाहिए। इसीलिए भगवान् कृष्णने कहा है कि—

'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥'

(गीता ३–४१)

यहाँ भगवान्ने 'आदौ' कहा है। अतः कामकी निवृत्तिके लिए पहले बाह्य इन्द्रियोंका निरोध करना चाहिए, तभी मनका निरोध हो सकता है। काम बड़ा व्यापक है। वह प्राणियोंके बाहर, अन्दर—सर्वत्र अवस्थित रहता है—

'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥'

(गीता–३–४०)

इसीलिए श्रुतिने कहा है कि—

'स्मरो वा व आकाशादपि भूयान्।'

अर्थात् काम आकाशसे भी बड़ा है, वह सर्वत्र व्याप्त है। अस्तु;

कामियोंका सङ्ग

काम और कामियोंका सङ्ग इतना भयानक होता है कि, साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है, महर्षि सौभरि-जैसे महान् वीतराग तपस्वीके मनमें भी एक जलचर जन्तु—'मत्स्य-दम्पतिको, कामोपभोगमें प्रवृत्त देखकर, कामकी वासना उभड़ गयी। इसीलिए उन्होंने बाह्य-विषयों और विषयीजनोंके कुसङ्गके प्रभावका बहुत ही कटु अनुभव करके मुमुक्ष लोगोंको कुसङ्गतिसे अतीव सावधान रहनेके लिए, लोगोंको खूब सचेत कर दिया है। उन्होंने कहा है कि—'जो अपना भला चाहे, उसको भूलकर भी, कभी किसीका सङ्ग नहीं करना चाहिए। विशेषकरके जोड़े-से बैठे हुए स्त्री-पुरुषोंका, पशु-पक्षियों-तकका, दर्शन नहीं करना चाहिए। और एक क्षणके लिए भी अपनी इन्द्रियोंको बहिर्मुख न होने देना चाहिए। अपने मनको एकान्तमें सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें लगाना चाहिए। यदि सङ्ग किये बिना मन न मानता हो, तो फिर साधु-सन्त अथवा भगवद्भक्तोंका ही सङ्ग करना चाहिए :—

'सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि[1]।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत्प्रसङ्गः ॥'
(भाग० ९-६-५१)

अस्तु।

आन्तरिक काम अत्यन्त दुःखद है। कामासक्तिके बढ़ जानेपर फिर वाह्यकाममें लोगोंका ऐसा दृढ़ अभिनिवेश हो जाता है कि, वे लोग आत्माको शरीरसे पृथक् तत्व न समझकर चैतन्य-युक्त शरीरको ही आत्मा मानने लगते हैं। और एकमात्र कामको ही पुरुषार्थ समझते हैं। उनका यही एक सिद्धान्त हो जाता है कि—

'चैतन्य-विशिष्टः कायः पुरुषः। काम एवैकः पुरुषार्थः ॥'

ऐसी धारणावालोंका यही सिद्धान्त होता है कि—"काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है। कामकी प्राप्तिके लिए अर्थ अपेक्षित होता है और अर्थके लिए धर्मको अपेक्षा होती है। इसलिए अर्थ और धर्म काममें सहायक

१—देखिए, श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धका—अध्याय ९।

होनेसे, कामके लिए अपेक्षित हैं। अतः वे भी परम्परया पुरुषार्थ कहलाते हैं। परन्तु वास्तविक पुरुषार्थ तो केवल एक काम ही है। अर्थात् धर्म और अर्थ कोई स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं हैं। मुख्य पुरुषार्थ एकमात्र काम ही है?''

ऐसे सिद्धान्त वाले व्यक्ति दिन-रात अर्थ और काममें ही आसक्त होकर रात-दिन शरीर और इन्द्रियोंके ही लाड़-प्यारमें, उन्हींके आप्यायन-में लगे रहते हैं। ऐसी भ्रान्त और मलिन धारणावाले महालोभी कामियों-के कुसङ्गसे मनपर बड़ा भारी कुप्रभाव पड़ता है। क्योंकि ऐसोंकी सङ्गतिसे मनुष्य, अभ्युदय और निःश्रेयसकी ओर उन्नत न होकर, उत्तरोत्तर अधोगतिको ही प्राप्त होता है। इसी बातको दृष्टिमें रखते हुए महर्षि शुकमुनिने कहा है कि—'अपना श्रेय चाहनेवाले आत्मरतिके अभिलाषी—तत्त्व-जिज्ञासुओंको अर्थाराम एवं इन्द्रियारामोंका (अर्थात् अर्थलोलुप और कामलोलुपोंका) सङ्ग कभी भूलकर भी नहीं करना चाहिए। न कभी उनकी गोष्ठीमें जाना चाहिए और न उनके अभिमत वस्तुओंका परिग्रह ही करना चाहिए। क्योंकि वैसा करनेसे मनुष्यके चित्तमें विवेक नष्ट होकर अत्यन्त बहिर्मुखता हो जाती है—

'अर्थेन्द्रियाराम-सगोष्ठ्यतृष्णया, तत्सम्मतानामपरिग्रहेण च ॥

(भाग० ४–२०)

काम और कामी लोगोंके (अर्थात् विषय और विषयीजनोंके) संगसे विषयोंकी कामनाएँ उत्पन्न हो-होकर वासनारूपसे चित्तमें इस प्रकार चिपक जाती हैं, कि जैसे अत्यन्त पिघली हुई लाक्षामें डाले हुए तरह-तरहके रंग उसमें घुल-मिल जाते हैं। ऐसे [1]काममय चित्तके संसर्गसे ही परम सुखमय शुद्ध, निर्मल आत्मा काममय हो जाता है। इसीलिए स्कन्द पुराणमें कहा है कि—

'यत्र यत्र भवेत् प्रीतिर्जनस्य विषयात्मनः।
तत्र तत्र मनो याति जनस्तन्मयतामियात् ॥'

(काशी-रहस्य)

अतएव कामके अनर्थोंसे बचनेका सबसे मुख्य उपाय है—कामियोंके सङ्गका परित्याग। क्योंकि विषयोंके सङ्गसे मनुष्यका उतना क्लेश-

१. अर्थात् वासनामय।

बन्धन, अर्थात् उतनी हानि नहीं हो सकती, जितनी कि विषयो-जनोंके सङ्गसे होती है—

'न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्य-प्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥'

(श्रीमद्भाग० ३-३५)

कामका प्रभाव

कामसे चित्त सदैव साभिलाष बना रहता है। इसकी महिमा बड़ी अपार है। सब काम्य-विषय वासनारूपसे चित्तमें चुभ जाते हैं, प्रविष्ट हो जाते हैं—अर्थात् उसीमें छिप जाते हैं। और चित्त विषयोंमें प्रविष्ट हो जाता है। सारांश, चित्त विषयोंमें और विषय चित्तमें—दोनों ही परस्पर एक दूसरेमें विलीन होकर एकरूप हो जाते हैं। इसीको 'हृदय-ग्रन्थि' कहते हैं। इस प्रकार चित्त और विषयोंका एकीकरण हो जानेपर फिर विषयोंका परित्याग करना अत्यन्त अशक्य हो जाता है। क्योंकि मनमें विषय-लालसा बढ़ जानेपर फिर भोग्य-विषयोंमें गुण ही गुण प्रतीत होने लगते हैं। विषयोंमें गुणोंका ध्यान (गुणोंकी कल्पना) करनेसे मनुष्यके मनमें रजोगुण प्रबल हो जाता है। रजोगुणसे व्याप्त मनमें विषयोंकी प्राप्ति और उनके उपभोगका दृढ़ सङ्कल्प उत्पन्न होता है। उसीसे फिर मनमें काम (कामना अर्थात् काम्यवस्तुकी तृष्णा) अत्यन्त प्रबल, दुःसह हो जाता है। प्रबल कामके वशमें हुआ जीव फिर कभी जितेन्द्रिय नहीं रह सकता। अजितेन्द्रिय पुरुष रजोगुणके वेगसे प्रेरित होकर, जानते हुए भी दुःखद परिणामवाले कर्म करनेको परवश हो जाता है। देखिए, भगवान् कृष्णने यह बात कितनी सटीक कही है—

'अहमित्यन्यथा बुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥
रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः॥
करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः॥'

(श्रीमद्भाग० ११-१३-९-११)

'अर्थात् विवेकहीन पुरुषके मनमें पहले देहादिमें 'मैं'—इस प्रकारकी मिथ्या-बुद्धि उत्पन्न होती है। तब उस अहं-बुद्धिके कारण सत्त्वगुण-प्रधान मनमें घोर (दुःखका कारण) रजोगुण छा जाता है। रजोगुणसे व्याप्त मनमें 'यह वस्तु भोगने-योग्य है' इस प्रकारका सङ्कल्प उत्पन्न होता है। फिर 'इसको इस प्रकार भोगना चाहिए और इसको इस प्रकार भोगना चाहिए'—ऐसा सविशेष सङ्कल्प पैदा होता है। तब उसके बाद विषयोंमें गुणोंका अध्यास होनेसे—'अहा, यह कैसा सुन्दर रूप है ? कैसा माधुर्य है ?' इस प्रकारकी अतीव दुःसह भोगाभिलाषा उत्पन्न होती है। रजोगुणके वेगसे मोहित हुआ अजितेन्द्रिय पुरुष फिर उस भोगकी अभिलाषाके वशमें होकर—'कर्म परिणाममें अतीव दुःखदायी है'—ऐसा समझता हुआ भी कर्म करता है।' अस्तु।

मन और मन्मथ

दहीको मथते समय उसकी कैसी दशा हो जाती है। वह परवश होकर, कट-कटकर किस-किस प्रकार कहाँका कहाँ चक्कर काटता हुआ छिन्न-भिन्न हो जाता है—अपने वशका नहीं रह जाता। बस्, ठीक यही दशा कामके प्रबल हो जानेपर प्राणियोंके मनकी भी होती है। प्रबल काम लोगोंके मनको विवश करके उसे दहीकी तरह मथ डालता है। जिससे कि वह (मन) फिर अपने वशका नहीं रह जाता, वह परवश होकर हठात् अकर्तव्यमें प्रवृत्त हो ही जाता है। इसीलिए कामका प्रसिद्ध नाम ही '[1]मन्मथ' है। अतः प्राणियोंका मन जो असत्कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है—यह भी सब कामका ही पराक्रम है। इसीसे भगवान् कृष्णने कामको भयङ्कर शत्रु कहकर सबसे अधिक कटाक्ष उसीपर किया है—

'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥'

(गीता—३–३७)

काम प्राणियोंके इन्द्रिय, मन, और बुद्धिमें बैठकर प्राणियोंके ज्ञानको ढाँक करके, उन्हें चक्करमें डाल देता है—

'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥'

(गीता ३–४०)

१—मनको मथ डालनेवाला।

इसीलिए शास्त्रोंमें कहा है कि—'मनुष्यके मनमें काम जब अधिक प्रबल हो जाता है, तो फिर उसके लिए संसारमें कोई भी ऐसा काम नहीं रह जाता, जिसे कि वह न करे।' नीति-वाक्यामृतमें कहा है—

'अतिप्रवृद्धकामः तन्नास्ति, यन्न करोति।'

(काम समुद्देश)

अतएव मनुष्योंके हृदयमें विवेक, विनय, लज्जा, शील, सङ्कोच आदि सब गुण तभी तक रह सकते हैं, जब तक कि मनमें कामका प्रवेश नहीं होता। क्योंकि यह कामरूपी शत्रु ऐसा प्रबल है कि यह अकेला ही सम्पूर्ण सद्‌गुणोंका नाश कर देता है। कामसे ही क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि और महात्मा—साठ-साठ हजार वर्षतक तपस्या करके भी कामके वशमें होकर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए देवराज इन्द्र जब किसी महात्माकी तपस्यासे डरते हैं, तो उनके पास किसी अप्सराको भेज देते हैं। उसकी निगाह पड़ते ही सौ-में निन्यानवे तो फेल हो ही जाते हैं। इतिहास, पुराण, समस्त शास्त्रोंमें ये बातें भरी पड़ी हैं। इसीलिए कहा गया है कि—

'तावदेव विदुषां विवेकिनी बुद्धिरस्ति भवबन्धभेदिनी।
यावदिन्दुवदना न कामिनी वीक्षिता रहसि हंसगामिनी॥'
'तावदेव कृतिनां हृदि स्फुरत्येष निर्मलविवेक-दीपकः।
यावदेव न कुरङ्गचक्षुषां ताड्यते चपललोचनाञ्चलैः॥'

इत्यादि।

इसीसे श्रीशुक महर्षिने कहा है कि—'अहो, भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। यह जीव सम्पूर्ण लोगोंका संहार करनेवाले कालको देखकर भी नहीं देखता, जो कि तुच्छ विषयोंके सेवन करनेके लिए—हर समय पापमय विचारोंकी ही उधेड़-बुनमें लगा रहता है। अपने ही हाथोंसे अपने पुत्र और पिताके देहको चितामें जला करके भी स्वयं जीनेकी इच्छा करता है'—

'अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितं घ्नन्तं जनोऽयं हि मिषन्न पश्यति।
ध्यायन्नसद्यर्हि विकर्म सेवितुं निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषति॥'

(भागवत ५–१८–३)

महाभारतमें कहा है कि—'अतिलोभीका अर्थ और अधिक आसक्ति रखनेवालेका काम—ये दोनों ही, धर्मको हानि पहुँचाते हैं।' अस्तु।

काम और शान्ति

मनुष्य जीवनका लक्ष्य है—शान्तिको प्राप्त करना। काम उसको नष्ट देता है। क्योंकि, कामके अधिक सेवनसे कामासक्ति बढ़ती है। कामासक्तिसे वासनाएँ प्रबल होती हैं। प्रबल वासनाओंसे चित्तमें प्रबल काम होता है। जहाँ काम प्रबल होता है, वहाँ फिर कामकी सन्तति—क्रोध, लोभ और मोह भी प्रबल हो जाते हैं। इसीसे फिर मनुष्यका ज्ञान आवृत हो जाता है। ज्ञानके आवृत हो जानेसे फिर शान्ति जाती रहती है। श्रीमद्भागवतमें कहा है :—

'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टै - राक्षिप्तं ध्यायतां मनः।
चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्बस्तोयमिव ह्रदात्॥
भ्रश्यत्यनुस्मृतिश्चित्तं ज्ञानभ्रंशः स्मृतिक्षये।
तद्रोधं कवयः प्राहुरात्मापह्नवमात्मनः॥'

(४ स्कन्ध २२ अ० ३०, ३१)

'अर्थात् विषयोंका चिन्तन करनेवालोंकी इन्द्रियाँ विषयोंसे आकृष्ट होकर उनके मनको भी उन्हींकी ओर खींच ले जाती हैं। फिर जैसे जलाशयके तीरपर उगे हुए कुश आदि तृण अपनी जड़ोंसे उसके जलको खींचते रहते हैं, उसी प्रकार वह इन्द्रियासक्त मन बुद्धिकी विचार-शक्तिको हर लेता है। विचार-शक्तिके नष्ट हो जानेपर पूर्वापरकी स्मृति जाती रहती है। स्मृतिका नाश हो जानेपर फिर ज्ञान नहीं रहता। इस ज्ञानके नाशको ही विद्वान् लोग—'अपने आप अपना नाश करना' कहते हैं।'

इसीलिए भगवान्‌ने कामको ज्ञानीका नित्य-वैरी बतलाया है। उन्होंने कहा है कि—

'आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥'

(भगवद्गीता—३ अ०)

वैसे तो काम ज्ञानी और अज्ञानी—सभीका नित्य-वैरी ही है। परन्तु अज्ञानी मनुष्य विषयोपभोगके समय कामको अपना मित्र-जैसा समझता है, पीछे परिणाममें फिर दुःख प्राप्त होनेपर, तब उसे वैरी समझता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष तो विषयोपभोगके समयमें भी—'कामने मुझे इस

अनर्थमें डाल दिया है'—ऐसा समझता रहता है। इसलिए ज्ञानीका वह नित्य ही वैरी है। इसीसे अर्थ और काममें आसक्त पुरुष धर्मज्ञानके अधिकारी ही नहीं समझे जाते। भगवान् मनुने कहा है—

'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।' (म० स्मृ० २—)

इसीलिए अर्थ और कामके चिन्तनको मनुष्यके लिए समस्त पुरुषार्थोंसे भ्रंश (च्युत) करा देनेवाला कहा है—

'अर्थेन्द्रियार्थाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम्।
भ्रंशितो येन विज्ञानाद् येनाविशति मुख्यताम्॥'

(भाग० ४-२२-३३)

'अर्थात् अर्थ और इन्द्रियोंके विषय-(काम) के चिन्तन करनेसे मनुष्य ज्ञान और विज्ञान—दोनोंसे भ्रष्ट होकर वृक्ष आदि स्थावर योनियोंमें जन्म पाता है।'

अतः मनुष्य यदि ढङ्ग से न चलें, इन्द्रिय और विषयोंका ही लाड़-प्यार करें और पापोंसे बचनेमें उपेक्षा करते रहें, तो इससे (उनकी) आत्माका बड़ा भारी नुकसान अर्थात् अहित होता है। अस्तु।

धर्माविरुद्ध काम

वैसे तो मनुष्योंके धर्म और जीवनके लिए अत्यन्त उपयोगी होनेके कारण काम 'पुरुषार्थ' है। अतः धर्ममें सहायक होकर काम भी परम्परया 'पुरुषार्थ' (मोक्ष) का ही साधन है। अर्थात् धर्माविरुद्ध काम यानी शास्त्र-सम्मत स्त्री, पुत्र, गृह, वित्त आदि इच्छित विषयोंकी प्राप्ति तथा उनके उपभोगसे धर्मानुष्ठानका मुख्य साधन शरीर स्वस्थ और सुरक्षित रहता है। इसीलिए शास्त्रोंमें कहा है कि—

'आपदर्थं धनं रक्षेज्जायां रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥'

अतः जो व्यक्ति अप्रमत्त होकर धर्मानुकूल कामका सेवन करते हैं, मनमें प्रमादको नहीं आने देते—नित्य-नियममें सावधानीसे लगे रहते हैं, उन्हें काम परवश नहीं कर पाता है। इस दृष्टिसे तीसरा पुरुषार्थ 'काम' भी अत्यन्त आवश्यक है और उपादेय है। इसीलिए इस प्रकारके कामको भगवान्ने स्वयं अपनी विभूतियोंमें गिनाया है—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

संसारमें दो ही प्रकारकी वस्तुएँ हैं—एक लौकिक वस्तु और दूसरी पारलौकिक। लौकिक वस्तुओंमें—धन, वैभवकी इच्छा, पत्नी-पुत्रादिके सुखकी इच्छा--इत्यादि हैं। और ये सब धर्मपूर्वक (न्यायसे) प्राप्त की जायँ, तो लोकमें सुख प्राप्त होगा ही, और साथ ही साथ इनसे परलोक भी बनेगा। और यदि ये वस्तुएँ अधर्म-पूर्वक प्राप्त की जायँ, तो फिर लौकिक सुख तो क्षणभरके लिए मिल ही जायगा—परन्तु परलोक इनसे बिगड़ जायगा ! मृत्युके पश्चात् उत्तम लोकोंको प्राप्त करना, या मुक्त हो जाना, यह पारलौकिक सुख है।

पाँच इन्द्रियाँ पाँच विषयोंको चाहती है। जबतक मन इन्द्रिय-जनित सुखोंमें भटकता रहेगा, तबतक उसे शाश्वती शान्ति नहीं प्राप्त होगी। जब विषयोंसे विरक्ति होकर आत्मामें रति उत्पन्न होगी, तब उसको ये जगत्के विषय नीरस प्रतीत होगें और तभी यह मनुष्य निःश्रेयसका अधिकारी होगा।

अतएव कामका उपार्जन और उपभोग भी अर्थकी ही तरह, धर्मानुकूल रीतिसे ही करना चाहिए। साथ ही अर्थके प्रतिकूल भी उसका उपार्जन और उपभोग नहीं चाहिए। क्योंकि धर्म और अर्थसे विरुद्ध काम व्यर्थ और हानिकारक होता है। क्योंकि धर्म यथार्थमें मन, बुद्धि और आत्माके विकासके लिए है। अतः धर्मके विरुद्ध विषयोपभोग केवल शरीरके ही सौख्य और वृद्धिके लिए होता है—मन, बुद्धि और आत्माके विकासके लिए नहीं। इसीसे महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—

'धर्मार्थौ यत्र न स्यातां तद्वा कामं निरर्थकम्।'

(शु० नी०)

इसीलिए महर्षि कौटल्यने लिखा है कि—

'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत।' (अर्थशास्त्र)

अस्तु।

कामकी प्राप्तिके साधन धर्म और अर्थ—दोनों ही हैं। यद्यपि आज-कलके सभ्य-जगत्की धारणाके अनुसार, केवल अर्थसे भी कामकी उपलब्धि हो ही सकती है, किन्तु कामका वास्तविक सुख धर्मके बिना कथमपि प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि धर्मविहीन काम कभी भी सुस्थिर एवं सुखप्रद नहीं होता। कामकी प्राप्ति एवं उसके उपभोगकी पूर्ण क्षमता केवल धर्मसे ही प्राप्त होती है। अतः सकल काम्य-पदार्थ और उनके उप-

भोगकी शक्ति पाना—यह सब बहुत बड़े पुण्यका काम है। इसीलिए कहा है कि—

'भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वराङ्गना।
विभवो दानशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम्॥'

'अर्थात् भोग्य वस्तु और उनको भोगनेकी शक्ति, रतिशक्ति तथा सुन्दरी भार्या एवं वैभव और दानशक्ति—यह सब मामूली तपस्याका फल नहीं है, बहुत बड़े पुण्यका फल है।' इसीलिए भगवान् व्यासदेवने कहा है कि—

'धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।' इत्यादि।

कामकी प्राप्ति प्राणियोंको भगवत्कृपासे ही होती है। भगवान् ही समस्त जीवोंकी कामनाओंकी पूर्ति करते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—मनुष्य जिन-जिन वस्तुओंकी इच्छा करते हैं, भगवान् उन्हें वही सब देते हैं। उपासक उनकी जैसी आराधना करते हैं, उन्हें वैसा ही फल प्राप्त होता है—

'तांस्तान् कामान् हरिर्दद्याद् यान् यान् कामयते जनः।
आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः॥'
(भाग० ४।१३।३४)

स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि—

'ममैव कामो भूतानां यद्भूयासुर्विभूतयः।'
(भाग० ३ ९)

श्रुति भी कहती है—

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना
मेकोबहूनां यो विदधाति कामान्।'
(कठोप०)

अस्तु।

काम-विवेचनके प्रसङ्गमें यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि—कामका सेवन ही नहीं करना, उसका परित्याग ही कर देना भी उचित नहीं है। क्योंकि धर्मानुष्ठान और अर्थोपार्जनके लिए शरीरका भरण-पोषण अत्यन्त आवश्यक है। अतः जीवन धारण करनेके लिए कामका

यथोचित उपभोग तो नितान्त आवश्यक है। और बिना सुखभोगके रहना भी शास्त्रोंके प्रतिकूल ही है। शास्त्रोंकी आज्ञा है कि—

'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत, न निःसुखः स्यात्।'

(कौ० अथ०)

'अर्थात् मनुष्यको चाहिए कि धर्म और अर्थके अनुकूल कामका सेवन करे और सुखसे वञ्चित न रहे।' कोई भी मनुष्य जबतक ग्राम्य-सुखका, विषय-सुखका अनुभव नहीं कर लेता, तबतक उससे उसको पूर्ण वैराग्य नहीं होता—

'अविदित्वा सुखं ग्राम्यं वैतृष्ण्यं नैति पूरुषः।'

(भाग० ९-१८-४०)

इसीलिए भगवान्ने अपनी पूजाके स्थानोंमें 'आत्मा' की (जीवात्माकी) भी गणना करते हुए प्रिय-भोगोंके द्वारा अपनी अन्तरात्माका पूजन करना अपना पूजन बतलाया है—

'भोगैरात्मानमात्मनि।' (भाग० ११-११-४५)

अर्थात् 'यह मेरी आत्मा मेरे प्रभुका अधिष्ठान है'—ऐसा समझकर अपने शरीरमें फूल, माला, चन्दन, वस्त्र और इच्छित भोगोंद्वारा अपनी आत्माका पूजन करना चाहिए। अर्थात् शास्त्राविरुद्ध भक्ष्य आदि इच्छित विषयोंका स्वयं भी उपभोग करना चाहिए और व्रतके सिवाय अन्य समयमें भोगोंका परित्याग करके अपनी आत्माको कष्ट नहीं देना चाहिए'। और यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि—'जो भोग स्वतः प्राप्त हो जाय, उसकी अवहेलना विरक्त-पुरुषके लिए भी उचित नहीं है, फिर विषयासक्त पुरुषकी तो बात ही क्या है—

'उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः॥'

(श्रीमद्भाग० ३-२२-१२)

चूँकि धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों ही पुरुषार्थ लोक-स्थितिके असाधारण कारण हैं, अतः प्रत्येक मनुष्यको इनके उपार्जनके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही इनसे अपनेको परिपूर्ण भी नहीं समझ लेना चाहिए। क्योंकि इन्हींके आधारपर सबकी जीवनयात्रा निर्भर है। इसलिए जैसे मनुष्य धर्म और अर्थके लिए प्रयत्नशील रहते हैं,

वैसे ही उन्हें काम अर्थात् काम्य-पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए भी सदैव प्रयत्नशील होना चाहिए। महर्षि शुक्राचार्यने कहा है—

'न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः।
एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता॥'
(शु० नी०)

वैध काम

यद्यपि कामसे ही सृष्टि है। किन्तु वह काम धर्मके अविरुद्ध होना चाहिए। वैध-कामसे (अर्थात् वैध भोगोंसे) ही मनुष्यकी तृप्ति हो सकती है— अवैध भोगसे कदापि नहीं। जैसे अवैध स्त्री या अवैध पति उपपत्नी या उपपति होते हैं। वैसे ही अवैध भोग भी कुभोग है।

काम अनियन्त्रित होनेसे धर्म, अर्थ और मोक्ष—तीनों ही पुरुषार्थोंका बाधक होता है। इसीलिए राजनीति तथा अर्थनीतिमें क्रोधज व्यसनोंके साथ कामज व्यसनोंका भी परित्याग आवश्यक बतलाया है। इस दुर्व्यसनसे असङ्ख्य पुरुषोंका पतन हुआ है। अतः कामको नियन्त्रित करनेके लिए शास्त्रोंमें अनेकों उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। इसीसे धार्मिक विवाह-संस्कार इसीके नियन्त्रणके लिए किया जाता है। अतः दुर्जय इन्द्रियरूप शत्रुओंको जीतनेके लिए गृहस्थ आश्रम एक 'दुर्ग है।

कभी-कभी उत्कट वासनाओंका अतिलङ्घन, विवेक-वैराग्यके द्वारा अशक्य हो जाता है। तभी वैध-भोगका समर्थन किया जाता है। वैध-कामसे वैराग्य सम्पन्न होता है। उत्तम पक्ष यही है कि ब्रह्मचर्याश्रमसे परम वैराग्यवान् होकर ब्रह्मनिष्ठा सम्पादन की जाय। परन्तु जब इसका सामर्थ्य न हो, तब वैध कामका समर्थन किया गया है। क्योंकि धर्माविरुद्ध काम 'भगवद्-विभूति' है—

१—इसी अभिप्रायसे महर्षि शुक्राचार्यने अपनी धर्मपत्नी दितिसे कहा है कि—'अन्य आश्रमवालोंके लिए इन्द्रियरूप शत्रु अत्यन्त दुर्जय हैं। परन्तु जैसे किलेका स्वामी अपने शत्रुओंको बड़ी सुगमतासे अपने अधीन कर लेता है। उसी प्रकार, हम गृहस्थ लोग भी अपनी विवाहिता पत्नीका आश्रय लेकर इन इन्द्रियरूप शत्रुओंको सहज ही में जीत लेते हैं'—

'यामाश्रित्येन्द्रियारातीन् दुर्जयानितराश्रमैः।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून् दुर्गपतिर्यथा॥' (भाग० ३-१४-१९)

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

कामका उपभोग करनेमें भी मनमें सन्तोषका रहना अत्यन्त आवश्यक है। बिना सन्तोषके अधिकसे अधिक काम्य वस्तुओंकी उपलब्धि होनेपर भी उनके उपभोगसे चित्तकी परितृप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि तृष्णा तो आकाशकी तरह अनन्त है। अतएव अपने प्रारब्धानुसार मनुष्यको जो भी सुख-सामग्री प्राप्त हो जाय, उसीसे चित्तको सन्तुष्ट रखना चाहिए। इस तरहके काम-सेवनसे ही मनुष्य सुखी रह सकता है। इसीलिए मनुने कहा है कि—

'सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥'
(म० स्मृ० ४—)

सन्तोषके रहनेसे साधारण परिस्थितिमें भी, स्वल्प ही वैभवमें भी मनुष्य स्वल्प सुख-सामग्रीसे ही कामके सुखका पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत सारी ही पृथिवीकी सम्पूर्ण सुख-सामग्रियोंका उपभोग करनेपर भी उनसे सुख नहीं मिलता—

'सप्तद्वीपाधिपतयो नृपा वैन्यगयादयः।
अर्थैः कामैर्गता नान्तं तृष्णाया इति नः श्रुतम्॥'
(भाग० ८—१९, २३)

कामका मल

'धर्म' और 'अर्थ'के विवेचनके प्रसङ्गमें यह कहा जा चुका है कि है कि त्रिवर्गमें एक-एक मल, एक-एक दोष उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् वह सदोष भी हो जाता है। अतः धर्म और अर्थकी ही तरह, काममें भी एक दोष उत्पन्न हो जाता है। उसका नाम है—'सम्प्रमोह'।

'सम्प्रमोहमलः कामो भूयस्तद्गुणवर्द्धितः।' (शान्ति पर्व—)

'सम्प्रमोह' का अर्थ है—दो वस्तुओंका, आत्मा और अनात्माका, अभेद हो जाना। अर्थात् आत्मा और अनात्माको एकरूप समझ लेना। [1]सम्मूढताको ही सम्प्रमोह कहते हैं। सम्प्रमोहका तात्पर्य है—विवेकका अभाव। इस सम्प्रमोहरूप मलसे विवेकका नाश हो जाता है।

१—देखिए, बृह० उप० ४–४–१ शाङ्करभाष्य।

क्रोध, लोभ आदि इन सब दुर्गुणोंका मूल कारण 'मोह' है। सत्य अर्थोंको महापुरुषोंसे न सुनना और न समझना एवं तत्फल-स्वरूप एक वस्तुको दूसरी-वस्तुके रूपमें समझना ही मोह है। जलते हुए दीपकको देखनेवाला बच्चा यह नहीं समझता है कि, यह छूनेपर जला देगा।' वह यही समझता है कि यह एक उत्तम पदार्थ है, यह लिया जा सकता है! ऐसे ही अधिक-वयस्क बच्चे बने हुए मनुष्य भी यह नहीं समझते हैं, कि 'क्षुद्र वैषयिक सुखमें आसक्त हो जानेपर वह आसक्ति अधिक क्लेश देनेवाली है', किन्तु उसे ही जीवनका लक्ष्य मानकर नष्ट हो जाते हैं।

अत एव अयुक्तिसे प्रणीत काम ही क्रोधादि दुर्गुणोंके रूपमें परिणत होकर अनर्थका कारण हो जाता है। इसीलिए भगवान् कृष्णने कहा है—

'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥'
(गीता—)

'अर्थात् मनुष्य जब बाह्य-जगत्के विषयोंका मनमें ध्यान (स्मरण) करने लगता है, तो उससे उनमें, गुण प्रतीत होनेसे, मनकी आसक्ति हो जाती है। मन और विषय—दोनों एक हो जाते हैं। फिर मन और विषय—इन दोनोंका अलगाव करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। बाह्य-विषय मनमें अङ्कित हो जाते हैं, वे मनमें चिपट जाते हैं, तब मन उसीमें (अर्थात् सूक्ष्म काममें ही) तन्मय हो जाता है। और उस समय उस कामका यदि कोई प्रतिघात करते लगता है, उसमें रुकावट डालने लगता है, तो फिर उसपर क्रोध आ जाता है। फिर क्रोधसे उत्पन्न होता है—सम्मोह। सम्मोह बड़ा ही भयानक होता है, क्योंकि इससे मनुष्यकी बुद्धि[1] *किंकर्तव्यविमूढ हो जाती है। अतः सम्मोहसे बुद्धि-भ्रंश अर्थात् विवेकका नाश हो जाता है। विवेकके नाशसे बुद्धिका नाश हो जाता है।*

इस क्रमसे कामका अन्तिम परिणाम बुद्धिनाश है। बुद्धिके नाशसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है। बुद्धिनाशका अर्थ है—आत्माकार

१—इसीलिए भगवानने मोहको दलदलकी उपमा दी है—
'यदा ते मोह-कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।'

बुद्धिका विनाश। बुद्धिनाशसे मनुष्य फिर किसी भी पुरुषार्थके सम्पादन करने योग्य नहीं रह जाता, इसलिए वह नष्ट हो जाता है—पुरुषार्थ-विहीन हो जाता है। पुरुषार्थ-विहीन हो जाना ही विनाश कहलाता है। इस प्रकारसे काम ही मनुष्यके विनाशका अर्थात् सर्वनाशका भी हेतु है। इसीलिए जीवको हठात् अनर्थमें प्रेरित करनेवाले कामको भगवान्‌ने महान् वैरी कहा है—

विद्ध्येनमिह वैरिणम्।'

कामजटा

केवल इन्द्रिय-तृप्तिके उद्देश्यसे कामोपभोगमें प्रवृत्ति होनेपर विषयोंमें गुण ही गुण प्रतीत होते हैं, जिससे कि उनमें अधिकाधिक आसक्ति उत्पन्न होकर उनके प्रति मोहकी मात्रा निरन्तर बढ़ती ही चली जाती है और उनसे विरक्ति होती ही नहीं। क्योंकि अधिक कामासक्तिसे मनमें भयङ्कर मोहजाल बन जाता है। इसीसे महाकवि भारविने कहा है कि—

'मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः।' (किरातार्जुनीय—३—)

इस मोह-जालको ही 'काम-जटा' कहते हैं। यह कामजटा अर्थात् यह मोहजाल ही मनुष्योंको—मत्स्यको बडिशकी तरह, फसा लेती है। बल्कि जालसे तो जीव कभी किसी तरह निकल भी जाता है, किन्तु इस अदृश्य सूक्ष्म कामजटासे मुक्त होना अत्यन्त ही कठिन है। परन्तु इससे मुक्त हुए बिना जीवको पूर्ण सुख, पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति कभी हो ही नहीं सकती। इसीलिए भगवती श्रुतियाँ भी इस काम-जटाका वर्णन करतीं हुईं, भगवान्‌से कह रही हैं कि—

'यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-
न्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः॥'

(भाग० वेद-स्तुति ८–७–३९)

'अर्थात् हे भगवन्, मनुष्य योगी, यति अर्थात् संन्यासी होकर भी यदि अपने हृदयसे कामजटाओं—विषयवासनाओंको उखाड़ नहीं फैंकते, तो उन दम्भियोंके लिए आप हृदयमें विद्यमान रहते हुए भी, वैसे ही दुर्लभ हो जाते हैं, जैसे कि कोई अपने गलेमें मणि पहने हुए हो, परन्तु

उसकी याद न रहनेपर, विकल होकर उसे इधर-उधर ढूँढता फिरे। जो योगी केवल अपनी इन्द्रियोंको ही तृप्त करनेमें लगे रहते हैं, विषयोंसे विरक्त नहीं होते, उन्हें जीवनभर और उसके बाद भी दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है। क्योंकि वे योगी नहीं, एकदम दम्भी हैं। एक तो उन्हें अभी मृत्युसे छुटकारा नहीं मिला है—लोगोंको रिझाने, धन कमाने आदिके क्लेश उठाने पड़ रहे हैं। और दूसरे आपका स्वरूप न जाननेके कारण अपने धर्मका उल्लङ्घन करनेसे नरक-प्राप्तिका भय भी उनको सदैव बना ही रहता है।' अस्तु।

इसीलिए इस अनर्थसे राष्ट्रको बचानेके लिए महर्षि कौटल्यने अपने अर्थशास्त्रमें कहा है कि—'जो लोग प्रव्रज्या लेकर यथेच्छाचार करते हैं, उन्हें दण्ड देकर यथेच्छाचारसे रोकना चाहिए। क्योंकि अधर्मसे उपहत धर्म शासकका ही उन्मूलन कर डालता है'—

'प्रव्रज्यासु वृथाचारान् राजा दण्डेन वारयेत्।
धर्मो ह्यधर्मोपहतः शास्तारं हन्त्युपेक्षितः॥'
(कौ० अ० ।)

नास्तिकता और दुराचार

कामासक्तिके बढ़नेसे ही राष्ट्रमें नास्तिकता तथा दुराचारका प्रसार बढ़ता है। महाभारतमें महर्षि कामन्दकने कहा है कि—नास्तिकता और दुराचारका मूल केवल कामासक्ति है—

'यो धर्मार्थौ परित्यज्य काममेवानुसेवते।
स धर्मार्थपरित्यागात् प्रज्ञानाशमिहार्च्छति॥
प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः।
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते॥
दुराचारान् यदा राजा प्रदुष्टान्न नियच्छति।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव॥'
(शा० प० १२३–१५–१७)

अर्थात् जो धर्म और अर्थका परित्याग करके केवल कामका ही सेवन करता है, उन दोनोंके परित्यागसे उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धिका नाश ही मोह है। मोह धर्म और अर्थ—दोनोंको नष्ट कर देता है। इससे मनुष्यमें नास्तिकता और दुराचारकी भावना उत्पन्न होती

है। अतः जब राजा दुराचारियोंको दण्ड देकर, उनपर नियन्त्रण नहीं करता है, तो उससे सारा ही राष्ट्र, घरमें रहनेवाले सर्पसे-जैसे, भयभीत हो जाता है।' अस्तु।

कामलोलुपता ही अन्यायका हेतु

संसारमें जितने भी अपराध मनुष्य करते हैं, उन सबमें मूलकारण काम ही है। काम-लोलुपताके कारण ही मनुष्य परस्त्री, परधन, अथवा परायी वस्तुओंकी लालसा करता है। कामी व्यक्ति कामकी प्रबल वासनासे प्रेरित होकर, अत्यन्त ही बहिर्मुख होकरके अधर्म, अन्याय-अनाचार आदि हर-तरहसे परायी वस्तुओंको आत्मसात् करनेकी चेष्टा करता हुआ, अपने आप अपना विनाश कर डालता है। इसीलिए तीर्थङ्कर श्रीमहावीरने यह कितना सुन्दर कहा है कि—

'सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि सत्तो वसन्तो न उवेई तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आयमई अदत्तं॥'

(उत्त० ३२–४२)

'अर्थात् शब्दादि विषयोंमें अतृप्त एवं परिग्रहमें आसक्त जीव कभी भी सन्तोषको नहीं प्राप्त होता। इस असन्तोष-भावके कारण ही वह दुःखी होकर, लोभवश फिर परायी वस्तुओंकी चोरी करने लगता है।'

इसी अभिप्रायसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि—'कामको अर्थात् अपनी कामनाओंको शान्त न कर सकनेके कारण ही, अजितेन्द्रिय मनुष्य निरन्तर वित्तके ही चिन्तनमें लवलीन रहता है। इसी कारण, पराये धनको हड़पनेवालोंको इस-लोक और परलोकमें कैसा-कैसा भयङ्कर दण्ड भोगना पड़ता है—इस बातको अच्छी तरह समझता हुआ भी वह पराये धनको हड़पता रहता है'—

'वित्तेषु नित्याभिनिविष्टचेता विद्वांश्च दोषं परवित्तहर्तुः।
प्रेत्येह चाथाप्यजितेन्द्रियस्तद् अशान्तकामो हरते कुटुम्बी॥'

(७–६–१५)

इसीकारण अर्थासक्त और कामानुरक्त लोगोंका मन कभी भी शुद्ध नहीं रह सकता। अतः ऐसे व्यक्ति तभी तक पवित्र और निःस्पृह प्रतीत होते हैं, जब कि उन्हें परायी सुन्दरीका दर्शन एवं अर्थकी प्राप्ति नहीं हो जाती। परायी युवतीका दर्शन और धनागमके हो जानेपर मनका पवित्र

रहना, उनकी ओर न ललचाना बड़ा ही कठिन है। सोमदेवसूरीने यह कितना सत्य कहा है कि—

'तावत्सर्वोऽपि शुचिर्निःस्पृहो वा,
यावन्न पर-वरस्त्रीदर्शनम् अर्थाधिगमो वा।'

(नी० वा० का० स०)

'अर्थात् तबतक सभी लोग पवित्र अथवा निःस्पृह दिखलायी पड़ते हैं, जबतक कि उन्हें परायी सुन्दरीका दर्शन अथवा धनकी प्राप्ति नहीं हो जाती। परायी युवतीका दर्शन और धनागमके होते ही मनुष्यका विवेक, विज्ञान, धैर्य और पवित्रता आदि सब गुण हवामें उड़ जाते हैं। एकान्तमें स्त्रीको देखकर पुरुषको, और पुरुषको देखकर स्त्रीको, मोह हो ही जाता है। इसीसे सोमदेव सूरीका यह कथन सर्वथा ही यथार्थ है कि—

'जनन्यापि परस्त्रिया सह रहसि न तिष्ठेत्।'

(नी० वा० व्यव० समु०-७९)

'अर्थात् परायी स्त्री, चाहे वह अपनी जननी ही क्यों न हो—उसके साथ कभी भी एकान्तमें सहवास नहीं करना चाहिए।'

क्योंकि विना अवसरके भी काम उत्पथमें ले जाता है, फिर अवसर प्राप्त होनेपर तथा प्रलोभन होनेपर तो क्या-क्या अनर्थ नहीं हो सकता ? अतितपस्वी महात्मा विश्वामित्र, पराशर आदि-जैसे महर्षियोंसे भी जब चूक होती रही है, तो फिर साधारण स्त्री-पुरुषोंकी तो बात ही क्या है ? मानव-प्रकृतिका यह स्वभाव ही है, कि नर-नारी, सान्निध्यमें, परस्पर एक दूसरेके चित्तको आकर्षित करते हैं और एक दूसरेको दूषित करते हैं। इसीलिए भगवान् मनुकी आज्ञा है कि—'मनुष्यको अपनी माता, बहिन और बेटीके साथ भी अकेलेमें नहीं रहना चाहिए। इन्द्रियोंकी सेना बड़ी बलवान् है, वह विद्वान्को भी कुराहमें ले जाती है'—

'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥'

इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—'अपनी माता, बहिन अथवा बेटीके साथ भी अत्यन्त-एकान्तमें निवास कभी भी नहीं करना चाहिए। प्रजोजनवश स्त्रियोंको सम्बन्धके अनुसार—माँ, बहिन, बेटी, इत्यादि पुनीत शब्दोंसे पुकारना चाहिए।'

'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नात्यन्तैकान्तिकं वसेत्।
यथासम्बन्धमाहूयादाभाष्याश्वास्य वै स्त्रियम्।
स्वीयां तु परकीयां वा सुभगे भगिनीति च॥'

(शु० नी० ३-११८)

अतएव पिता, पुत्र, पति, श्वसुर, बन्धु-बान्धव एवं राजा (शासक)-इन सबको चाहिए कि अपनी कन्या, माता, पत्नी, पुत्रवधू, बान्धव-पत्नी एवं अपनी प्रजाकी महिलाओंका—अन्य पुरुषोंके साथ सहवास, संभाषण, स्वातन्त्र्यपूर्वक रहन-सहन एवं पराये गृहमें निवास—इन सब बातोंको कदापि न होने दें और उन्हें गृह-कार्योंमें लगावें। गृह-कार्योंके बिना उनका एक क्षण भी बेकार नहीं रहना चाहिए। क्योंकि गृहकार्योंके बिना स्त्रियोंके चित्तका झुकाव अकार्यकी ओर हो जाता है—

'सहवासोऽन्यपुरुषैः प्रकाशमपि भाषणम्।
स्वातन्त्र्यं न क्षणमपि वासश्चान्यगृहे तथा॥
भर्त्रा पित्राथवा राज्ञा पुत्रश्वसुर-बान्धवैः।
स्त्रीणां नैव तु देयः स्याद् गृहकार्यैर्विना क्षणः॥'

(शु० नी० ३-११९)

इसीलिए महाराज मनुने स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताका सर्वथा प्रतिवाद किया है। उन्होंने कहा है कि—

'अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥'

(म० स्मृ० ९-२)

मनुने कहा है कि—स्त्रियोंकी रक्षा पुरुषोंको बड़ी ही सावधानीसे करनी चाहिए और थोड़े भी कुसङ्गसे उन्हें बचाना चाहिए। क्योंकि यदि कुसङ्गसे उनकी रक्षा न की जाय, तो फिर वे अपने दोनों ही कुलोंको शोकाकुल कर डालती है[1]।

'स्त्री जैसे पुरुषकी सेवा शुश्रूषा करती है, वैसी ही सन्तानको उत्पन्न करती है। अतः अपनी सन्तानकी शुद्धिके लिए स्त्रीकी रक्षा, खासकर करनी चाहिए[2]।'

१—सूक्ष्मेभ्योऽपि प्रसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः॥ (म० स्मृ० ९-५)

२—'यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात्प्रजा-विशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः॥' (,, ,, ९-९)

[1]मद्यपान, दुर्जन-लोगोंका सङ्ग, पतिका वियोग, वृथा इधर-उधर घूमना, दिनभर सोना और दूसरेके घरमें निवास—ये छः काम स्त्रियोंको दूषित कर डालते हैं।

बुरे चाल-चलन, चित्तकी चञ्चलता, स्वाभाविक रूखापन, होनेके कारण ही स्त्रियाँ अपने पतियोंसे विपरीत चलती हैं। स्त्रियोंका ऐसा स्वभाव स्वाभाविक है। अतः इस बातको जानकर उनकी रक्षाके लिए पुरुषोंको विशेष प्रयत्न करना चाहिए[2]।

परन्तु कोई भी मनुष्य बलपूर्वक स्त्रियोंकी रक्षा नहीं कर सकता है। किन्तु निम्न-निर्दिष्ट उपायोंद्वारा ही उनकी रक्षा की जा सकती है[3]—

'चीज-वस्तुओंकी संभाल करना, उनका यथोचित उपयोग करना, घर-गृहस्थी और शरीरके काममें आनेवाली वस्तुओंको साफ-स्वच्छ रखना, रसोई बनाना, घर-गृहस्थीकी चीजोंकी देखभाल करना—इत्यादि कार्योंमें उन्हें लगानेसे ही उनकी रक्षा हो सकती है[4]।'

स्त्रियोंका ऐसा स्वभाव होता है कि वे—क्रोधी, षण्ढ, मारनेवाले, कामनाहीन, प्रवासशील, अति-दरिद्र, रोगी, एवं परस्त्रीसे प्रेम करनेवाले पतिसे या तो अनुराग ही नहीं करती हैं, या फिर दूसरे व्यक्तिसे प्रेम करने लग जाती हैं। अतः पुरुषोंको चाहिए कि इन सब दुर्गुणोंको छोड़कर प्रयत्नपूर्वक अपनी स्त्रियोंकी रक्षा करें—

'चण्डं षण्ढं दण्डशीलमकामं सुप्रवासिनम्।
सुदरिद्रं रोगिणं च ह्यन्यस्त्रीनिरतं तथा॥

१—पानं दुर्जन-संसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट्॥' (म० स्मृ० १३)

२—'पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते॥'
(मनु-स्मृति ९–१५)

३—'न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।
एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्॥' (,, ,, ९–१०)

४—'अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे॥' (,, ,, ९–११)

पतिं दृष्ट्वा विरक्ता स्याञ्नारी वाऽन्यं समाश्रयेत्।
त्यक्त्वैतान् दुर्गुणान् यत्नात्ततो रक्ष्याः स्त्रियो नरैः ॥'

(शु० नी० ३-१२०, १२१)

अत्यन्त चटक-मटकवाली वेश-भूषा भी स्त्री-पुरुषोंके चरित्रवान् होनेमें बाधक होती है। अत्याकर्षक वेशभूषासे ही चित्तका परस्पर आकर्षण होता है। इसीलिए महर्षि वात्स्यायनने कहा है कि—

'अत्युज्ज्वलकामित्वं हि स्त्रीणां पुरुषाणां च स्वभावः।'

(कामसूत्र—)

काम और व्यसन

यद्यपि शरीर और इन्द्रियोंकी पुष्टिके लिए, उचित मात्रामें कामका सेवन अत्यावश्यक है, परन्तु इसीको प्रधान मानकर विषयोंमें ही लम्पट हो जाना, दोष है—यह महान् दुर्गुण है। अपने आवश्यक कर्तव्योंको भूलकर, अपने ही प्रमादसे प्राप्त होनेवाले क्लेशोंपर भी ध्यान न देकर, उन्हें सहते हुए नाटक-सिनेमा देखते रहना, अधिकाधिक चटपट या मिष्ट-पदार्थोंको खाते-पीते रहना, स्त्री-लम्पट बनकर उनके पीछे-पीछे घूमते रहना—इत्यादि सब इसी दुर्गुणके विलास हैं। इन दुर्गुणोंको ही व्यसन कहते हैं। इसीको अमर्यादित काम कहते हैं।

कामी पुरुष दुर्व्यसनी हो जाता है। व्यसनी मनुष्य अत्यन्त तेजस्वी होते हुए भी दीन बन जाता है। इस व्यसनसे असङ्ख्य मनुष्य पतित हो गये हैं। इस दुर्गुणरूपमें परिणत कामसे ही क्रोध उत्पन्न होता है। किसी विषयपर अमर्यादित कामना रखकर, उसके लिए प्रयत्न करनेपर भी यदि वह प्राप्त न हो तो, लोग यह समझने लगते हैं कि—'इसमें अमुक लोगोंने बाधा डाली—इसीसे वह प्राप्त नहीं हुआ ?' ऐसा समझकर दूसरोंपर अपार क्रोध करने लगते हैं। इस अमर्यादित कोपको ही 'क्रोध' कहते हैं। यह प्रसिद्ध दुर्गुण महान् अनिष्टका कारण है। शास्त्र कहते हैं कि—क्रोधी मनुष्य क्या-क्या पाप नहीं करता, वह अपने गुरुजनोंका भी बध कर सकता है—

'क्रुद्धः पापं न कः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।'

कामसे ही क्रोध, मोह, शोक, लोभ आदि दोष उत्पन्न होते हैं। काम और क्रोधका मनुष्यको दुबला-पतला और दुर्बल बनानेमें, बड़ा हाथ

होता है। क्योंकि, काम, क्रोध, मोह आदि दुर्गुण मनुष्योंके मनमें शोक, वैमनस्य, दुःखी-होना, रूठजाना और चिड़चिड़ा हो जाना—इत्यादि प्रकारके दोषोंको उत्पन्न कर देते हैं। जिनके कारण शरीरसे मांस और चिकनाईके कण कट-कटकर नष्ट होते रहते हैं। और शरीर घुनकी खायो लकड़ीकी तरह (निर्बल) हो जाता है। मनमें सदैव अशान्ति रहती है—**'अशान्तस्य कुतः सुखम्'**। इसीसे लोग बेकारी, घरेलू झगड़े, और मुकद्दमोंमें फँसकर दिन-प्रतिदिन क्षीण होते चले जाते हैं। उनकी खाये, पीयेसे प्राप्त हुई शक्तिका बहुत-सा भाग दुर्विचारोंमें व्यय हो जाता है। अतः लोगोंको दुबला-पतला, दुःखी और अशान्त बनानेमें काम-क्रोधका बहुत बड़ा हाथ है। अस्तु।

इन भयङ्कर दुर्व्यसनोंसे ग्रस्त मनुष्य कभी भी उन्नति नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत वे दिनोंदिन अधोगतिको, दुर्गतिको ही प्राप्त होते हैं। महर्षि शुकमुनिने कहा है कि—

'जो लोग कुसङ्गमें फँसकर सद्विद्या, सदाचार, सद्विचार और भगवान्‌की पापापहारिणी, पवित्र सत्कथाओंको छोड़कर, बुद्धिको भ्रष्ट कर देनेवाली अर्थ-काम-सम्बन्धिनी निन्दित कथा-वार्ताओंको सुनते हैं, वे लोग फिर ऊँचे (वैकुण्ठ आदि) लोकोंमें नहीं जा सकते हैं। हाय, अभागे लोग जब उन निःसार अर्थ-काम सम्बन्धी कुकथाओं सुनते हैं, तो वे कुकथाएँ उनके विवेक, विचार, ज्ञान, पुण्य आदि सद्गुणोंको नष्ट करके, उन्हें आश्रय-विहीन नरकोंमें फेंक देती हैं—

'यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-
स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त॥'

(श्रीमद्भाग० ३-१५,२३)

इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'जो व्यक्ति काम, क्रोध आदि दुर्व्यसनोंसे आतुर रहता है, उसे विचारवान् पुरुष धिक्कारते हैं। उसका निन्दनीय कर्म उस आतुर मानवको (पशु-पक्षी आदि) कुत्सित योनियोंमें जन्म दिलाता है'—

'लोकमातुरमसूयते जनस्तस्य तज्जनयतीह सर्वतः।'

(शा० प० १९४-६२)

अति कामासक्त मनुष्य कलङ्क और अपकीर्तिसे भी अछूता नहीं रह सकता। शास्त्रोंमें कहा है कि—

'कामातुरो लाञ्छनम्।'

अर्थात् अति-कामासक्त पुरुष कलङ्कको प्राप्त होता है। इस बातको गोस्वामीजीने भी पुष्ट किया है—

'कामी पुनि कि रहहिं अकलङ्का।' (तु० रा०, उत्त० का०)

इतना ही नहीं, कामान्ध मनुष्य उल्लू और कौवेसे भी गया-बीता होता है। क्योंकि उल्लू तो केवल दिनमें ही अन्धा रहता है और कौवा रातमें ही नहीं देखता है। परन्तु कामान्ध मनुष्य तो दिन और रात—सदा ही अन्धा होता है—

'दिवा पश्यति नोलूकः काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवानक्तं न पश्यति॥'

इसीसे तामस-प्रकृतिवाले कामान्ध-पुरुष कामिनीके पीछे काञ्चन और कीर्तिकी भी आहुति दे देते हैं। बस्, केवल इसी कारण शास्त्र-कारोंने स्त्रीको भयङ्कर बन्धनका कारण बतलाया है—

'कलत्रं नाम नराणाम् अनिगडमपि बन्धनमाहुः।'
(नी० वा० काम-समु०)

इसमें भी दुर्भाग्यवश यदि किसी मनुष्यकी आसक्ति कहीं परदारामें हो जाय, तब तो फिर उसका सर्वनाश ही हो जाता है। क्योंकि परस्त्रीमें आसक्त मनुष्यका हाथमें आया हुआ निःश्रेयस, चट्से नष्ट हो जाता है। अन्तमें उसकी बड़ी भारी दुर्गति होती है। क्योंकि जो धर्म-विरुद्ध कामका सेवन करते हैं, वे नरकके अधिकारी होते हैं। संसारमें दो ही बड़े पाप हैं—(१) परस्त्रीपर मन ललचाना और (२) परधनकी इच्छा करना। जो लोग कामासक्त होकर धर्मविरुद्ध स्त्री-सेवन करते हैं, उन्हें राजयक्ष्मा आदि भयंकर रोग होते हैं और उनका ज्ञान नष्ट हो जाता है। इस लोकमें उनकी बड़ी अपकीर्ति होती है और अन्तमें नरक निवास होता है। इसीलिए महाराज मनुने कहा है—

'अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्॥'
(म० स्मृ० २-२१४)

इसीसे, मत्स्य-पुराणमें कहा है कि—'परायी वस्तुओंमें, विशेषतः परस्त्री, परभूमि और परद्रव्यमें जिसका मन जाता है, उस व्यक्तिको सदैव विपत्तियाँ घेरे रहती हैं'—

'विपत्तिः सततं तस्य परवस्तुषु यन्मनः।
विशेषतः परस्त्रीषु परद्रव्येषु भूमिषु॥'

(म० पु०)

इसीलिए महर्षि शुक्राचार्यने कहा है कि—'मनुष्यको परस्त्री और परद्रव्यकी कामना कदापि नहीं करनी चाहिए'—

'परस्त्रीसङ्गमे कामो नैव धार्यः कथञ्चन।'

(शु० नी०)

उत्तम कोटिके पुरुष सदैव भगवच्चिन्तन किया करते हैं। मध्यम श्रेणीके लोग सत्कर्मोंमें लगे रहते हैं। अधम-पुरुष स्त्री-लम्पट होते हैं। वे सदैव स्त्रियोंके ही रूप-रङ्ग और हाव-भावोंका चिन्तन किया करते हैं।

वायु पुराणमें कहा है कि—'परायी दारासे निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है। वर्णसङ्कर सन्तानसे समाजको भय होता है। और लोकमें बड़ी निन्दा होती है'—

'सन्तत्या हानिरश्लाघ्या वर्णसङ्करतो भयम्।
भेत्तव्यं च भवेल्लोके वृथादारपरिग्रहात्॥'

(१४-४१)

अतएव बुद्धिमानोंको परस्त्री और परद्रव्यकी लिप्सा कभी, भूलकर भी, नहीं करनी चाहिए। क्योंकि परद्रव्यसे नरक और पर-स्त्रीसे अधोगति प्राप्त होती है—

'परस्वे परदारे च न कार्या बुद्धिरुत्तमैः।
परस्वं नरकायैव परदाराश्च मृत्यवे॥'

(वा० पु० १४, ४५)

इसीलिए सोमदेव सूरीने कहा है कि—'जो लोग परस्त्रीके निरीक्षणमें अन्धवत् रहते हैं, अर्थात् जिनकी दृष्टि, जिनकी चित्तवृत्ति परदाराकी ओर नहीं जाती, वे वास्तवमें भाग्यवान् हैं'—

'परकलत्रदर्शनेऽन्धभावो महाभागानाम्।'

(नी० वा० व्य० समु०)

महर्षि हारीतने कहा है कि—'पूर्वजन्ममें जिन्होंने धर्मका पूर्ण अनुष्ठान किया है, वे परायी स्त्रीपर कभी भो कुदृष्टि नहीं करते'—

'अन्यदेहान्तरे धर्मो यैः कृतश्च सुपुष्कलः।
इह जन्मनि तेऽन्यस्य न वीक्ष्यन्ते नितम्बिनीम् ॥'

नीतिवाक्यामृतमें कहा है कि—'जिसका चित्त परस्त्री और परधनमें नहीं जाता है, वह मनुष्य वास्तवमें प्रत्यक्ष देवता है'—

'स खलु पुरुषः प्रत्यक्षं दैवं यस्य
परस्वेष्विव परस्त्रीषु निःस्पृहं चेतः।'

(का० समु०)

कामासक्ति

काममें आसक्ति बढ़नेसे, चित्तका विषयोंमें अत्यन्त अभिनिवेश हो जाता है। विषयाभिनिवेशसे मनुष्यको विवेक और वैराग्य नहीं हो सकते, विवेक एवं वैराग्यके बिना तत्त्व-चिन्तन नहीं हो सकता और बहिर्मुख मानव परम शान्तिको नहीं प्राप्त कर सकता।

महाभारतमें कहा है कि—'विषयोंका चिन्तन अपने शरीरको ही पीडित कर देता है। जो मनुष्य विषयोंके चिन्तनसे रहित है, उसको दुःखका अनुभव नहीं होता। जैसे प्रज्ज्वलित अग्निमें घृत छोड़ देनेसे उसका बल और अधिक बढ़ जाता है, वैसे ही काम और अर्थका लाभ होनेपर मनुष्यकी तृष्णा और अधिक बढ़ जाती है'—

'कामाभिध्या स्वशरीरं दुनोति यया प्रमुक्तो न करोति दुःखम्।
यथेध्यमानस्य समिद्धतेजसो भूयो बलं वर्धते पावकस्य ॥
कामार्थलाभेन तथैव भूयो न तृप्यते सर्पिषेवाग्निरिद्धः ॥'

(वन पर्व २६–५½)

महर्षि वात्स्यायनने 'न्याय-भाष्य'में-४।१।५७ सूत्रके भाष्यमें कहा है कि—'किसी वस्तुको कामना करने वालेकी वह कामना जब पूर्ण हो जाती है, तो फिर उसी समय दूसरी कामना चट्से उपस्थित होकर, उसको सताने लगती है—इस प्रकार एकके बाद दूसरी, उसके बाद फिर तीसरी—इस रीतिसे मनमें एक-से-एक अगणित कामनाएँ उत्पन्न होती ही रहती हैं। उनका अन्त कभी होता ही नहीं—

'कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते।
अथैनमपरः कामः क्षिप्रमेव प्रबाधते॥'
(न्या० भा० ४-१-५७)

यदि सम्पूर्ण धन-धान्य और रत्नोंसे भरी हुई, समुद्र-पर्यन्त यह सारीकी सारी ही पृथिवी भी किसीको प्राप्त हो जाय, तो भी उस धनसे वह धनाभिलाषी तृप्त नहीं होता—

'अपि चेदुदनेमि समन्ताद् भूमिमालभेत सगवाश्वाम्।
न स तेन धनेन धनैषी तृप्यति किं नु सुखं धनकामः॥'
(न्यायभाष्य ४-१-५७)

काम-वासना बढ़ जानेसे मनुष्यके मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ विक्षिप्त हो जाती हैं। विक्षिप्त चित्तवाले चाहे सत्वगुणी देवता ही क्यों न हों, परन्तु वे अपने हृदयमें ही विराजमान अपनी प्रिय, शाश्वत आत्माको नहीं जान पाते हैं। तब फिर इतर रजोगुणी और तमोगुणी लोगोंका तो कहना ही क्या है—

'ये विक्षिप्तेन्द्रियधियो देवास्ते स्वहृदि स्थितम्।
न विन्दन्ति प्रियं शश्वदात्मानं किमुतापरे॥'
(श्रीमद्भाग० ९-९-४६)

भक्तवर प्रह्लादने कहा है कि—'विषयोंकी बातें सुननेमें ही अच्छी हैं, वास्तवमें वे मृगतृष्णाके जलके समान नितान्त असत्य हैं। और यह शरीर भी, जिससे कि वे भोग भोगे जाते हैं, अगणित रोगोंका उद्गम-स्थान है। अतः कहाँ तो वे मिथ्या विषयभोग और कहाँ यह रोग-युक्त शरीर ? इन दोनोंकी क्षणभङ्गुरता और असारताको जानकर भी, मनुष्य इनसे विरक्त नहीं होता। वह बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होनेवाले छोटे-छोटे मधुबिन्दुओंसे अपनी कामनाकी प्रचण्ड आगको बुझानेकी चेष्टा करता है'—

'कुत्राशिषः श्रुतिसुखा मृगतृष्णिरूपाः
क्वेदं कलेवरमशेषरुजां विरोहः।
निर्विद्यते न तु जनो यदपीति विद्वान्
कामानलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः॥'
(भाग० ७-९-२५)

ज्ञानेन्द्रिय देखने, सुनने, छूने, सूँघने और रस चखनेके व्यापारोंमें संलग्न होकर विषयोंमें संचार करती रहती हैं। विषयोंसे दुःख प्राप्त

होनेपर भी इन्द्रिय विषयोंसे हटती नहीं हैं—फिर भी उन्हींमें ही लगी रहती हैं। ऐसी इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले विषय सुखकी अपेक्षा महान् एवं अपरिमित जो आत्मसुख है—जो कि इन इन्द्रियोंद्वारा जाना नहीं जा सकता, उसपर दृढ़ निष्ठा होती ही नहीं। अतः कामासक्त लोगोंका यह अमूल्य मनुष्य-जीवन यों ही, व्यर्थ व्यतीत हो जाता है। विषयोंका चिन्तन करते-करते मनुष्य विषयरूप हो जाता है। उसका जीवन वृक्षोंके समान, जड़ हो जाता है। उसके शरीरमें लोहारकी धौंकनीके समान व्यर्थ श्वास चलता रहता है। उसे न अपना ज्ञान रहता है और न किसी दूसरेका। अतः वह सर्वथा आत्म-वञ्चित हो जाता है'—

'विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्।
वृक्षजीविकया जीवन् व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन्॥'

(भाग० ११-२१-२२)

इसीलिए ऐसे अनर्थकारी, महान् बन्धनके हेतुभूत अनियन्त्रित कामकी शास्त्रोंमें बड़ी निन्दा है। मनुने कहा है—

'कामात्मता न प्रशस्ता।' (म० स्मृ० २—)

इसीसे कामके इस भयङ्कर अनर्थसे बचनेके लिए ही श्रीमद्-भगवद्गीता, भागवत, उपनिषत् एवं दर्शनशास्त्रोंमें निष्कामता-सम्पादन करनेकी ही ओर बड़ा जोर दिया है। परन्तु मनमें कामके क्षीण हुए विना कोई भी व्यक्ति निष्काम हो ही कैसे सकता है? और जबतक मनुष्य निष्काम नहीं हो जाता, अर्थात् जबतक मनुष्यकी सब कामनाएँ शान्त नहीं हो जातीं, तबतक वह किसी तरह भी पूर्णकाम (अर्थात् कृतकृत्य) नहीं हो सकता। इसीलिए मनुष्य-जीवनकी पूर्ण सफलताके लिए मनका कामनाहीन होना आवश्यक है। मनको काम-हीन करनेके लिए उसमें काम्य-विषयोंका सङ्कल्प ही नहीं उठने देना चाहिए। क्योंकि कामका मूल सङ्कल्प है—**'सङ्कल्पमूलः कामो वै'**।

अतः अभ्यास और वैराग्यके द्वारा विवेकी मनुष्यका मन जब शान्त हो जाता है, तब 'असङ्कल्पाज्जयेत् कामम्' के अनुसार कामपर मनुष्यकी विजय हो सकती है। कामपर विजय हो जानेपर ही फिर मनपर भी विजय प्राप्त हो जाती है। क्योंकि मन कामके कारण ही विक्षिप्त बना रहता है—काम ही मनका प्रेरक है। अतएव कामपर विजय हो जानेपर फिर मनोनिग्रह भी अनायास ही हो जाता है। इसीलिए कहा है कि—

२२

'यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत्।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः॥'
(श्रीमद्भा० ७-१५-३३)

'अर्थात् कामके द्वारा मारा हुआ मन इधर-उधर चक्कर काटता हुआ जहाँ-जहाँ भी जाय, विवेकी पुरुषको चाहिए कि वहाँ-वहाँसे लौटाकर उसे शनैः-शनै हृदयमें स्थिर करे।'

इसी अभिप्रायसे महाभारतमें कहा है कि—'अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको काम और उससे उत्पन्न होनेवाले क्रोधका, सर्वथा निग्रह करना चाहिए। क्योंकि, काम और क्रोध—ये दोनों ही मनुष्यके श्रेयका विनाश कर डालते हैं'—

'सर्वोपायात्तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
कार्यः श्रेयोर्थिना तात श्रेयोघातार्थमुद्यतौ॥'
(शा० प० ३२१-११)

विषयासक्तिसे बहिर्मुखता

धर्म और अर्थकी अपेक्षा काम अधिक व्यामोहक है। क्योंकि वह चारों पुरुषार्थोंमें, आपाततः सबसे अधिक प्रिय प्रतीत होता है। अतः कामके व्यामोहमें मनुष्य अपना धर्म, अर्थ—सब कुछ त्याग सकता है। इसीलिए 'शिव-पुराण'में कहा है कि—

'नाद्याद् विविधमन्नाद्यं भक्ष्याणि सुरभीणि च।
यदि चिन्तां समाधत्ते चित्ते कामादिषु त्रिषु॥'
(उ० सं० ५-३३-२६)

अर्थात् मनुष्यके चित्तमें जब किसी विषयकी तीव्र कामना लगी रहती रहती है, तो फिर वह व्यक्ति विविध प्रकारके सुगन्धित, मनोहर भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंका उपभोग नहीं करता है।

काम बड़े-बड़े विवेकियोंके विवेक, विनय, सद्बुद्धि, विचार-शक्ति आदि सद्गुणोंको नष्ट कर देता है। योग-वासिष्ठमें कहा है कि—'बड़े-बड़े घोर तपस्या करनेवाले ऋषि-मुनि लोग भी प्रारब्धसे प्रेरित होकर अपने नित्य-नियमोंका परित्याग करके काम और क्रोधके द्वारा पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं'—

'ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तांस्तान् भ्रश्यन्ते काम-मन्युभिः॥' (उ० प्र०)

कामके परिणामका सबसे कटु अनुभव करके—लोकाभिराम श्रीराम-जैसे पुत्रको निष्कासित करके—दुःख-सन्तप्त महाराज दशरथने शोकाकुल होकर बड़े भारी पश्चात्तापके साथ सुमन्त्रसे कहा है कि—'हाय, मैंने कैकेयीकी मिथ्यावञ्चनाओंसे वञ्चित होकर, अपने गुरुजन और मन्त्रियोंकी सलाह लिए बिना ही, अपने ही आप सहसा यह क्या अनर्थ कर डाला ?'—

'मिथ्योपचारात् कैकेय्या वञ्चितेन कथं मया।
न मन्त्रितं विमूढेन धर्मज्ञैर्गुरुभिः सह॥
केनाहं मोहितः पापो यन्मया सह मन्त्रिभिः।
असंमन्त्र्य, विमूढेन सहसा साहसं कृतम्॥'

(वा० रा० अयो० ६३–२०, २१)

इस तथ्यको मर्यादापुरुष श्रीरामने भी सप्रमाण पुष्ट किया है। उन्होंने श्रीलक्ष्मणजीसे कहा है कि—'लक्ष्मण, महाराजकी—पिताजीकी इस दारुण विपत्ति एवं मतिभ्रष्टताको देखकर मेरी यह धारणा दृढ़ हो गयी है कि—धर्म और अर्थकी अपेक्षा काम ही अधिक, प्रबल होता है। नहीं तो भला, मेरे-जैसे अत्यन्त वशवर्ती प्रिय पुत्रको एक प्रमदाके कारण कौन विद्वान् त्याग देगा ?—

'इदं व्यसनमालोक्य राज्ञः स्वमतिविभ्रमम्।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः॥
को हि विद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत्।
छन्दानुवर्त्तिनं पुत्रमिष्टं मामिव लक्ष्मण॥'

(अ० का० ५७–१०,११

अस्तु।

स्वल्पकामसे तृप्ति नहीं

कामके विषयमें यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि, कामका अर्जन और उपभोग स्वल्पमात्रामें नहीं करना चाहिए। क्योंकि स्वल्प कामोपभोगसे चित्त उससे विरत नहीं होता। कारण, सब काम वासना-रूपसे चित्तमें अवस्थित हुए रहते हैं। अतः स्वल्पमात्रामें किये जानेवाले कामोपभोगसे वह वासनामय चित्त उन विषय-वासनाओंसे शून्य नहीं हो सकता है। विषयोंका यथेच्छ-मात्रामें अनुभव हुए बिना उनकी निःसारताका यथार्थ अनुभव नहीं होना और उसके बिना विषयोंसे

विरक्ति भी नहीं होती—केवल श्मशान-वैराग्य होकर रह जाता है। विषयोंसे पूर्ण विरक्ति हुए विना मनुष्यके मनमें आत्मानुरक्ति नहीं हो सकती। वह क्षणिक वैराग्य, बीच-बीचमें प्रसङ्गवश कामके उभड़ जानेसे, अस्त हो जाता है और काम चित्तमें पुनः जागृत होकर फिर अपना प्रबलरूप धारण कर लेता है। अतः अत्यल्प कामोपभागोंसे भी कामसे विरक्ति नहीं हो सकती।

चित्त तो वासनाओंका भाण्डागार ही है। अतः सब काम उसीमें, वासनारूपसे अपनी जड़ जमाये रहते हैं। और बहुत अधिक-मात्रामें विद्यमान रहते हैं। उनके क्षीण हुए विना मनुष्यको परम-पुरुषार्थको (मोक्षको) प्राप्ति असंभव ही है। इसीलिए मनका वासनाओंको क्षीण करना परम आवश्यक है। वासनाओंको क्षीण करनेके मुख्य उपाय केवल दो ही हैं—(१) या तो उन्हें दग्ध कर देनेवाला आत्मज्ञान उत्पन्न हो जाय, अथवा (२) विषयोंका उचित रीतिसे, प्रशस्त मात्रामें, उपभोग करके चित्तको उनसे सन्तृप्त कर दिया जाय ? क्योंकि जैसे खेतको बार-बार जोतनेसे वह उत्तरोत्तर निर्वीय होकर फिर अङ्कुरोत्पादन करनेके योग्य नहीं रह जाता, अतएव उसमें बोया हुआ बीज भी नष्ट हो जाता है। वैसे ही कामसे भरा हुआ चित्त, कामका अधिक मात्रामें उपभोग होनेसे, उनसे सन्तृप्त होकर ही, फिर उनसे विरक्त भी हो जाता है। कामका थोड़ा-थोड़ा उपभोग करनेसे नहीं। जैसे कि अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि थोड़ेसे धृत-विन्दुओंसे तृप्त नहीं होता—

'उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं शनैर्निर्वीयतामियात्।
न कल्पते पुनः सूत्या उप्तं बीजं च नश्यति॥
एवं कामाशयं चित्तं कामानाम् अतिसेवया।
विरज्येत, यथा राजन् नाग्निवत् कामबिन्दुभिः॥'

(श्रीमद्भाग० ७–११–२०, २१)

अतः जिस विषयकी वासना हो, उस विषयका अधिकाधिक मात्रामें उपभोग करके उन-उन वासनाओंको क्षीण कर डालना चाहिए। अर्थात् मनसे हटा देना चाहिए।

पर हाँ, विषयोंसे उपरत होनेके लिए, कामके सेवनका यह प्रकार सर्वसाधारणके लिए उपयोगी नहीं है। क्योंकि इसमें सूक्ष्म विवेक एवं शास्त्रीय-पद्धतिके अनुगमनकी नितान्त आवश्यकता है। उसमें यदि

थोड़ा-सा भी वैगुण्य हो जाय तो फिर लाभकी अपेक्षा हानिकी अधिक सम्भावना है।

महर्षि सौभरि चक्रवर्ती नरेश महाराज मान्धाताकी पचास राजकुमारियोंके साथ पाणिग्रहण करके, अपनी अपार तपस्याके प्रभावसे—अमूल्य सामग्रियोंसे सुसज्जित, अनेकों उद्यान-उपवनों और निर्मल सरोवरोंसे सुमनोहर तथा सुगन्धभरे पुष्पोंके बगीचोंसे घिरे महलोंमें—बहुमूल्य शय्या, आसन, वस्त्र, आभूषण, स्नान, अनुलेपन, सुस्वादुभोजन और पुष्पमालाओंके द्वारा अपनी पत्नियोंके साथ विहार करने लगे। सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभरण धारण किये हुए स्त्री-पुरुष सर्वदा उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते। कहीं कोमल कण्ठवाले पक्षी चहकते, तो कहीं भ्रमरगण गुञ्जार करते। और कहीं-कहीं वन्दीजन उनकी विरुदावली गाकर उनका स्तवन करते रहते थे।

सौभरि महर्षिकी इस गृहस्थीका सुख देखकर, सप्तद्वीपवती पृथिवीके स्वामी चक्रवर्ती मान्धाता नरेश आश्चर्य-चकित रह गये। और उनका यह गर्व कि, मैं सार्वभौम सम्पत्तिका स्वामी हूँ,—सब जाता रहा[1]।

इस प्रकार वह महर्षि अपने गार्हस्थ्यके अलौकिक सुखमें रम गये और अपनी नीरोग इन्द्रियोंसे अनेकानेक दिव्य विषयोंका उपभोग करते रहे। परन्तु फिर भी जैसे घीकी बूँदोंसे आग तृप्त नहीं होती, वैसे ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ—

'एवं गृहेष्वभिरतो विषयान् विविधैः सुखैः।
सेवमानो न चातुष्यद् आज्यस्तोकैरिवानलः॥'

(श्रीमद्भाग० ९–६–४)

× × × ×

श्रीमद्भागवतमें यह भी बतलाया गया है कि, मन प्रायः कामनाओंके कारण ही अत्यन्त आतुर रहता है। और वह हर्ष, शोक, भय, लोक-परलोक, धन, पत्नी-पुत्र—आदिकी चिन्ताओंसे व्याकुल बना रहता है।

'जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥' (११–९–२७)

१—देखिए, श्रीमद्भागवत—९ स्कन्ध, ६ अ० के श्लोक ३८ से ५५ तक।

अर्थात् कभी भी नहीं अघानेवाली जिह्वा मनुष्यको एक ओर यानी स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है। जननेन्द्रिय सुन्दर स्त्रीकी ओर, त्वचा सुकोमल स्पर्शकी ओर, पेट भोजनकी ओर, कान सुन्दर सङ्गीतकी ओर, नासिका सुगन्धकी ओर और चञ्चल नेत्र सौन्दर्यकी ओर खींचते रहते हैं। इनके अतिरिक्त कर्मेन्द्रियाँ भी उसको अपने-अपने विषयोंकी ओर खींच ले जाती हैं। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ—दोनों ही इसे इसतरह अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, जैसे कि बहुत-सी सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर घसीटती रहती हैं।

ऐसी परिस्थितिमें विषयोंके अति-सेवनसे और अधिक कामासक्ति हो जानेकी भी सम्भावना है। क्योंकि केवल अपने ही उद्देश्यसे होनेवाला कामोपभोग उसकी तृष्णाको और भी अधिक उद्दीप्त कर देता है। जैसे कि अग्निमें घृत डालनेसे वह शान्त न होकर और भी तेज हो जाती है। इसीलिए भगवान् मनुने कहा है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥'

(म० स्मृ० २-)

अतएव वासनाओंको क्षीण करनेका यह उपाय आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक नहीं है। विवेक और वैराग्यका आश्रयण किये बिना पर्याप्त भोगसे भी तृप्ति नहीं होती—जैसे अनियन्त्रित पशु तृणके लोभसे आगे बढ़ते ही जाते हैं, वही स्थिति यहाँ भी होती है।

इसीलिए अत्यन्त कामासक्त व्यक्तिको यदि संसारभरका सारा ही धन-धान्य, सारी ही भक्ष्य-भोज्यकी सामग्री, और सारी-की सारी विश्व-सुन्दरियाँ भी प्राप्त हो जाँय, तो भी उसे उनसे सन्तोष नहीं हो सकता।

राजर्षि ययातिने पूरे एक सहस्रवर्षपर्यन्त कामका खूब अनुभव करके संसारभरके कामियोंको अत्यन्त सचेत कर दिया है। उन्होंने कहा है कि—

पृथिवीमें जितने भी धन-धान्य, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब मिल करके भी उस पुरुषके मनको सन्तुष्ट नहीं कर सकते हैं, जो कि कामनाओंके प्रहारसे जर्जरित हो रहा है—

'यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥'

(भाग० ८-१९-१३)

विषयोंकी तृष्णा ही समस्त दुःखोंका मूल है। मन्द-बुद्धि लोग बड़ी कठिनाईसे उसका परित्याग कर सकते हैं। शरीर जीर्ण हो जाता है, पर विषय-तृष्णा नित्य नवीन ही होती जाती है। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से शीघ्र इस तृष्णाका (भोगकी वासनाओंका) परित्याग कर देना चाहिए—

'या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत्॥'

(भाग० ९-१९-१६)

अतएव विषयोंकी अधिकाधिक प्राप्ति और उनके उपभोगकी अपेक्षा उनके परित्यागका ही अधिक महत्त्व है। मनुने कहा कि—'विषयोंको प्राप्त करनेकी अपेक्षा उनका त्याग अधिक श्रेष्ठ है। अतः जो प्रयत्न करके सब विषयोंको प्राप्त कर लेता है और जो केवल उनको त्याग देता है—इन दोनोंमें प्राप्त करनेवालेकी अपेक्षा परित्याग करनेवाला ही श्रेष्ठ माना जाता है'—

'यश्चैतान् प्राप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥'

(म० स्मृ० २-)

विषय और विषय-वासनाओंका त्याग ज्ञानके बिना नहीं हो सकता, अतः ज्ञानकी प्राप्तिके लिए ही मनुष्यको सतत प्रयत्न करना चाहिए। यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिए कि विषयोंमें प्रसक्त हुई इन्द्रियोंका उनके विषयोंसे हटानेमात्रसे वैसा वास्तविक संयमन नहीं किया जा सकता, जैसा कि ज्ञानसे, अपने आदर्श और विषयोंके स्वरूपका सतत चिन्तनसे, किया जा सकता है। इसीलिए मनुने बतलाया है कि—

'न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः॥'

(म० स्मृ० २-)

भगवदर्पण

कामको सीमित एवं क्षीण करनेका सर्वोत्तम उपाय यह है कि काम्य वस्तुओं और उनके उपभोगकी इच्छा केवल अपने ही उद्देश्यसे नहीं करनी

चाहिए। क्योंकि ऐसा सङ्कुचित काम बन्धनका कारण हो जाता है। इसीलिए भगवान्‌ने कहा है कि—

'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।' (गीता ३—)

अतएव काम्य-वस्तुओंका उपार्जन देवता, पितर, अतिथि, बन्धु, इष्ट-मित्र, दीन-अनाथ एवं भगवत्सेवा आदिके उद्देश्यसे करते हुए उन्हें तत्-तत् देवादिको समर्पण करके भगवत्प्रसादके रूपसे किया जानेवाला कामोपभोग फिर कथमपि बन्धनका हेतु नहीं होता। प्रत्युत ऐसा काम यज्ञ-शिष्टरूप हो जानेसे परम-पुरुषार्थमें उपयोगी हो जाता है—

'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।' (गीता–३)

इसी महान् उदार उद्देश्यको लक्ष्यमें रखकर जीवोंके परम कल्याणके लिए शास्त्रकारोंने कामके अनर्थसे बचनेके लिए ही गृहस्थ लोगोंके लिए देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, मनुष्ययज्ञ, और भूतयज्ञ आदि अनेकानेक यज्ञोंका विधान किया है—

'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥'

सारांश, कोई भी प्राणी बिना कामके, बिना कर्म किये, एक क्षण भी नहीं रह सकता। अतः कामका सर्वथा परित्याग तो हो नहीं सकता है। और केवल स्वार्थके उद्देश्यसे होनेवाले कामोपभोगसे, बन्धन होना भी निश्चित है! इसलिए लौकिक उच्छृङ्खल (अनियन्त्रित) कामसे मुक्त होनेके लिए ही शास्त्रोंमें वैदिक कामका (वैदिक क्रियाकलापका) विधान किया गया है—

'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।' (ईशोपनिषत्)

वैदिक काम नियन्त्रित होता है। उसमें उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचार नहीं रहता। इसीलिए लौकिक अर्थात् पाशविक कामपाशसे मुक्त होनेके लिए ही शास्त्रोंमें कामियोंके कल्याणके लिए लोगोंकी कामनाओंके अनुसार अनेकानेक वैदिक कर्मोंका विधान किया गया है। उनमें प्रवृत्त होनेसे मनुष्यका वह अनियन्त्रित—पाशविक काम सुसंस्कृत एवं सुनियन्त्रित होकर, संशोधित विषके तुल्य होकर धर्मरूपमें परिणत होकर बन्धनसे मुक्तिका हेतु बन जाता है। अर्थात् जैसे शोधा हुआ विष मारक न होकर औषधिके रूपमें परिणत होकर मनुष्योंके जीवनका हेतु बन

जाता है, वैसे ही इस प्रकारसे सुसंस्कृत काम भी, मुक्तिका कारण बन जाता है। इस तरहसे काम भी, सुसंस्कृत हो जानेपर धर्मरूपमें परिणत होकर, चतुर्थ पुरुषार्थ—मोक्षमें, उपयुक्त हो जाता है। अतः ऐसे ही अर्थ और कामके विषयमें कविकुल-गुरु कालिदासने कहा है कि—इस तरहके अर्थ और काम भी धर्मरूप ही हो जाते हैं—

'अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः।'

इसीलिए महाभारतमें कहा है कि—'मनुष्य इन कामनाओंसे मुक्त होकर, निष्काम भावसे कर्मोंका अनुष्ठान करके परब्रह्म, परमात्माको प्राप्त करे'।

इसी उच्चतम उद्देश्यसे शास्त्रोंमें कर्मोंका विधान किया गया है। वेदमें स्वर्ग आदिकी कामनासे जो तत्-तत् यज्ञ-यागादि कर्मोंका विधान किया गया है, वह उन्हीं मनुष्योंको अपने जालमें फँसाता है कि, जिनका मन भोगोंमें आसक्त है। वास्तवमें इन कामनाओंसे दूर रहकर, परमात्माको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिए ही कर्म करना चाहिए। क्षुद्र विषय-भोगोंके लिए नहीं—

'एभिर्विमुक्तः परमाविवेश एतत्कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः।
कामात्मकांश्छन्दसि कर्मयोग एभिर्विमुक्तः परमाददीत॥'

(शा० प० २०१-१३)

अतः कामसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थसे बचनेके लिए केवल अपने ही उद्देश्यसे, स्वार्थ-दृष्टिसे, कामका सेवन नहीं करना चाहिए। प्रत्युत—

'आश्वाघान्तेवसायिभ्यः कामान् संविभजेद् यथा।
अप्येकामात्मनो दारान् नृणां स्वत्वग्रहो यतः॥'

(भाग० ७-१४-११)

'अर्थात् अपनी समस्त भोग-सामग्रियोंको—कुत्ते, पतित और चाण्डाल पर्यन्त सब प्राणियोंको यथायोग्य बाँटकर ही अपने काममें लाना चाहिए। और तो क्या, अपनी स्त्रीको भी—जिसे मनुष्य समझता है कि, यह मेरी है—अतिथि आदिकी निर्दोष-सेवामें नियुक्त रखना चाहिए।'

—इत्यादि विधिके अनुसार कामको भगवत्समर्पण बुद्धिसे, देवता, पितर, अतिथि, बन्धु,बान्धव, पशु-पक्षी कीट-पतङ्ग आदि प्राणियोंकी सेवामें उपयुक्त करके, उससे अवशिष्ट कामका उपभोग करना चाहिए। इसीलिए भगवान् मनुकी आज्ञा है कि—

'विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः।
विघसो यज्ञशेषं तु भुक्तशेषं तथाऽमृतम् ॥'
(म० स्मृ० ४ अ०)

इसीलिए देवर्षि नारदने कहा है कि—'गृहस्थ पुरुषको अपने प्रारब्धसे प्राप्त और पञ्चयज्ञ आदिसे बचे हुए अन्नसे ही अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिए। अतः जो बुद्धिमान् पुरुष इसके सिवाय और किसीमें स्वत्त्व नहीं रखता, वह अनायास ही वीतराग संन्यासियोंके पदको प्राप्तकर लेता है'—

'सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन् प्राज्ञः पदवीं न्यासिनामियात् ॥'
(भाग० १७–१४–१४)

इस उच्चकोटिके आदर्शमय उद्देश्यसे ही शास्त्र-कार महर्षियोंने कहा है कि—'कोई व्यक्ति यदि आनन्द चाहता है, तो उसे दूसरोंको उसी दृष्टिसे देखना चाहिए कि जिस दृष्टिसे वह अपनेको देखता है। सुख-दुःख जैसे एकको, वैसे ही अन्यको भी—समानरूपसे प्रभावित करते हैं—

'यथैवात्मा परस्तद्वत् द्रष्टव्यः सुखमिच्छता।
सुख-दुःखानि तुल्यानि यथात्मनि तथा परे ॥'
(दक्ष-स्मृति ३–२२)

अस्तु। अर्थ और कामकी जैसी आवश्यकता अपनेको है, वैसी ही अन्य प्राणियोंको भी। इस दृष्टिसे औरोंके लिए भी अर्थ और कामका सम्पादन करना, यह—'द्रव्याद्वैत' हो जाता है। इससे प्राणियोंमें भेद-बुद्धि नष्ट होकर, अद्वैत आत्मतत्त्वका ज्ञान बड़ी सरलतासे हो जाता है। श्रीमद्-भागवतमें कहा है—

'आत्मजायासुतादीनाम् अन्येषां सर्वदेहिनाम्।
यत् स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥'
(७–१५–६५)

इस प्रकारसे विवेकद्वारा सुसंस्कृत तथा धर्मनियन्त्रित (धर्माविरुद्ध) काम सांसारिक बन्धनोंका हेतु न होकर सदाचार तथा धर्मरूपमें परिणत होकर अन्तःकरणको विशुद्ध करके मनुष्यको निष्काम कर देता है। इस

रीतिसे मनुष्यकी भोग-गृध्नुता (अर्थात् विषय-लोलुपता) दिनोंदिन क्षीण होती जाती है। और उसका सारा ही विवेक सफल हो जाता है। विषय-गृध्नुताका क्षीण हो जाना, विषयोंसे निःस्पृह हो जाना ही, मनुष्यके विवेक और ज्ञानकी कसौटी है। इसीलिए 'योग-वासिष्ठ' में कहा है कि—

'विवेकः सफलस्तस्य विज्ञेयो, यस्य सन्मतेः।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नुता॥'

इसी अभिप्रायको हृदयमें रखते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी यह कितनी सुन्दर बात कही है कि—

'जानिय जीव तबहि जग जागा।
जब सब विषय-विलास विरागा॥'

इसलिए कामको भी अन्यान्य जीवोंके सेवा-सत्कारद्वारा भगवत्सेवामें लगाकरके उनके प्रसादरूपमें स्वयं भी यथेच्छ, यथोचित उपभोग करके विवेकी मनुष्य इस महान् प्रबल कामके पाशसे अनायास मुक्त हो जाता है। इस रीतिसे काम लौकिक विषयोंसे हटकर फिर केवल एक भगवद्विषयक, अर्थात् आत्मरतिके रूपमें परिणत होकर सकाम, साभिलाष मानव-समाजको निष्काम करके अन्तमें उसे पूर्णकाम कर देता है। इस पद्धतिसे काम भी, संशोधित विषकी तरह, मुक्तिका कारण बन जाता है। इसी अभिप्रायसे भगवान् मनुने (वैदिक कामकी महिमा बतलाते हुए) कहा है कि—

'तेषु सम्यग् वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथासङ्कल्पितांश्चेह सर्वान् कामान् समश्नुते॥'
(म० स्मृ० २)

अस्तु।

विषयोंका चाव

परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाकर, अर्थात् विषय-लोलुप बनाकर उन्हें हिंसित कर दिया है। इसी कारणसे जीव इन्द्रियोंद्वारा बाह्य-विषयोंको देखता है, परन्तु अपनी अन्तरात्माको नहीं। ऐसी अवस्थामें विषयरूपी व्यालोंने जिनके चित्तको डस लिया है—उनका न तो मरण ही होता है और न जीवन ही—

'विषयैर्दष्टचित्तानां न मृतिर्न हि जीवनम्।' (काशी-रहस्य)

विषयोंका चाव ऐसा विलक्षण होता है। कहीं भी यदि जरा-सा भी खुटका सुना कि, बस्, प्रतीत होता है कि—वही आ गया है। यह विषयोंका चाव बड़ा ही दुस्त्यज होता है। इसीसे स्कन्द-पुराणमें कहा है कि—

'विषयाकाररूपेयं विष्णोर्माया सुदुस्त्यजा।'

(काशी-रहस्य)

काम मनुष्यके तेजको, इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण शक्तिको क्षीण कर देता है। हृदयमें किसी भी कामनाके उत्पन्न होते ही इन्द्रिय, मन, प्राण, देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्य—ये सब क्षीण हो जाते हैं—

'इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः।
ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना॥'

(भाग० ७-१०-८)

इसीलिए महर्षि नचिकेताने कहा है कि—

'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।'

(कठोपनि० १-१-२६)

इसी कारण मन्दमति, अल्पज्ञ-पुरुष बाह्य-विषयोंका ही अनुगमन किया करते हैं। इसीसे वे अविद्या, काम और कर्मके समुदायरूपी मृत्युके विस्तीर्ण (अर्थात् सर्वत्र व्याप्त) पाशमें बँध जाते हैं। अर्थात् देह, इन्द्रिय आदिके संयोग-वियोगरूप अनर्थको प्राप्त होते हैं। परन्तु धीर, विवेकी-जन अपने प्रत्यगात्म-स्वरूपमें स्थितिरूप अमृतत्वको निश्चल जानकर इस अनर्थरूप संसारके अनित्य पदार्थोंमेंसे किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करते—

'पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥'

(कठोप० २।४ २)

उत्कृष्ट काम और अकामहतका आनन्द

आनन्दकी, सुखकी इच्छा सबको होती है। परन्तु केवल इच्छा होनेसे ही वह प्राप्त नहीं होता। आनन्दको प्राप्त करनेके लिए साधु, सत्कर्मी और चरित्रवान् होना अत्यावश्यक है। दुष्ट, दुराचारी और दुर्व्यसनियोंको

काम अर्थात् ऐहलौकिक एवं पारलौकिक विषयभोगोंका यथार्थ-सुख यानी पूर्ण आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। अतः जो व्यक्ति जितना अधिक चरित्रवान्, साधु और विद्वान् होगा—उसे उतना ही अधिक, कामका उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त होगा। इसमें भी सबसे अधिक उत्कृष्ट आनन्द उसीको प्राप्त होता है, कि जो व्यक्ति अकामहत—अर्थात् विषयोंकी कामनाओंसे पीड़ित न होनेवाला विद्वान् हो, यानी जो पूर्ण जितेन्द्रिय हो। अतः कामसे पराभूत न होनेवाले पूर्ण जितेन्द्रिय विद्वान्को ही वह अखण्ड ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है।

अकामहत विद्वान् श्रोत्रियको प्रत्यक्ष होनेवाला वह ब्रह्मानन्द ही मनुष्य-गन्धर्व आदि आगे-आगेकी भूमिकाओंमें अविद्या, कामना और कर्मका ह्रास होनेसे उत्तरोत्तर सौ-सौ गुना अधिक उत्कृष्ट होता जाता है। अतः मनुष्योंके आनन्दसे लेकर ब्रह्मलोक-तकके आनन्दोंमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टता होती है। लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्दका ही अंश है। अविद्यासे, अज्ञानसे ज्ञानके तिरस्कृत हो जानेपर अविद्याका उत्कर्ष हो जानेसे, जब प्राक्तन कर्मोंके द्वारा जीवोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है, तो फिर जीव अपने-अपने विज्ञानके अनुसार विषयोंमें आनन्दकी भावना करने लगते हैं। इसी कारण लोकमें वह अस्थिर और लौकिक आनन्द हो जाता है।

विद्याके द्वारा, ज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर—विषय और विषयी-विभागके नष्ट हो जानेसे वह फिर स्वाभाविक, परिपूर्ण, एक अद्वैत-आनन्द हो जाता है। इसी बातको समझानेके लिए कृष्ण-यजुर्वेदके तैत्तिरीय उपनिषद्की श्रुतियाँ कहती हैं कि—

"युवा स्यात् साधुयुवाऽध्यायक आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्, स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्य-गन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्य-गन्धर्वाणामानन्दाः स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः, स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानां देवनामानन्दः, ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः, स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥

ते ते शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मणआनन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥"

(तैत्तिरीय उप० आनन्दवली २-८)

अर्थात् जो युवा साधुयुवा हो, यानी जो चरित्रवान् भी हो और युवा भी हो, सम्पूर्ण वेद-शास्त्र पढ़ा हुआ हो। आशिष्ठ अर्थात् अत्यन्त आशावान् हो, साथ ही अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ भी हो—इस तरह जो इन आध्यात्मिक साधनोंसे सम्पन्न हो। और एक उसीकी यह धन-धान्यादिसे सम्पन्न अर्थात् उपभोगके साधनोंसे सम्पन्न सारी पृथिवी हो, यानी जो इस सारी ही पृथिवीका अधिपति हो—ऐसे सार्वभौम सम्राट्का जो आनन्द है, वह एक मानुष आनन्द अर्थात् मनुष्योंका सर्वोत्कृष्ट आनन्द है।

ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं, वही मनुष्य-[1]गन्धर्वोंका का एक आनन्द है। मानुष आनन्दसे मनुष्य-गन्धर्वोंका आनन्द सौगुना अधिक उत्कृष्ट होता है। और वही आनन्द अकामहत श्रोत्रिय अर्थात् कामनाओंसे पीडित न होनेवाले—जितेन्द्रिय विद्वान्को भी प्राप्त होता है। विषय-भोगोंकी कामनाओंसे व्याकुल न रहनेवाले श्रोत्रियके आनन्दका उत्कर्ष मनुष्योंके आनन्दकी अपेक्षा सौ-गुना अधिक उत्कृष्ट, अर्थात् मनुष्य-गन्धर्वोंके आनन्दके बराबर होता है। इसीलिए कहा है कि—

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥'

मनुष्य-गन्धर्वोंके जो सौ आनन्द हैं, वही [2]देव-गन्धर्वोंका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त होता है। देव-गन्धर्वोंके जो

१—जो पहले मनुष्य होकर कर्म और उपासनाकी विशेषतासे गन्धर्व बन जाते हैं, वे मनुष्य-गन्धर्व कहलाते हैं। २—जो जन्मसे ही गन्धर्व हों।

सौ आनन्द हैं, वही [1]नित्य-लोकमें रहनेवाले पितृगणोंका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त होता है। नित्य-लोक निवासी पितृगणोंके जो सौ आनन्द है, वही [2]आजानज-देवोंका एक आनन्द है और वह अकामहत विद्वान्‌को भी प्राप्त होता है।

आजानज देवताओंके जो सौ आनन्द हैं, वही [3]कर्मदेव-देवताओंका एक आनन्द है और वह अकामहत विद्वान्‌को भी प्राप्त होता है। कर्मदेव-देवताओंके जो सौ आनन्द हैं, वही [4]देवताओंका एक आनन्द है और वह पूर्ण-जितेन्द्रिय विद्वान्‌को भी प्राप्त होता है।

देवताओंके जो सौ आनन्द हैं, वही देवराज-इन्द्रका एक आनन्द है और वह जितकाम विद्वान्‌को भी प्राप्त होता है। इन्द्रके जो सौ आनन्द हैं, वही देवगुरु बृहस्पतिका एक आनन्द है और वह अकामहत विद्वान्‌को भी प्राप्त होता है।

बृहस्पतिके जो सौ-आनन्द हैं, वही [5]प्रजापतिका एक आनन्द है और वह जितकाम श्रोत्रियको भी प्राप्त होता है। प्रजापतिके जो सौ-आनन्द हैं, वही [6]ब्रह्माजीका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त होता है।

ब्रह्माका यह आनन्द भी जिस आनन्द-समुद्रका एक बिन्दुमात्र है—जिसके लेशमात्र आनन्द, समुद्रके जलके बिन्दुओंके समान, सर्वत्र विभक्त होकर पुनः उसीमें एकत्वको प्राप्त हुए हैं, वही अद्वैतरूप स्वाभाविक परमानन्द है—यही अखण्ड ब्रह्मानन्द है। इसमें आनन्द और आनन्दीका अभेद हो जाता है।

यह सर्वोच्च परमानन्द उसीको प्राप्त होता है, जो कि क्षुद्र-क्षुद्र कामोंकी कामनाओंसे पराभूत न हो, अर्थात् जो जितकाम हो, जितेन्द्रिय

१—चिर-स्थायी लोकमें।

२—आजान देवलोकका नाम है, उस देवस्थानमें उत्पन्न होनेवाले।

३—जो वैदिक कर्मोंसे देव-लोकको प्राप्त होते हैं, वे 'कर्मदेव' कहलाते हैं।

४—यज्ञमें हविर्भाग लेनेवाले ३३ देवताओंका।

५—अर्थात् विराट्का।

६—ब्रह्माण्ड-शरीरधारी अर्थात् समष्टि-व्यष्टिरूप एवं सम्पूर्ण विश्व-मण्डलमें व्याप्त ब्रह्मा।

हो। अतः निष्पाप होना, विद्वान् होना एवं जितेन्द्रिय होना—ये तीनों ही गुण पूर्वोक्त उत्कृष्ट आनन्दोंके साधन हैं।

निष्काम-भाव

जब हृदयसे सब कामनाएँ, जो कि हृदयमें आश्रित होकर रहती हैं, हट जाती हैं, उस समय मनुष्य अमर बन जाता है और वह इसी शरीरसे ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥'

काम मनुष्यकी बुद्धिको, पारेके समान, इधर-उधर—विषयोंमें बिखेर डालता है, अर्थात् छिन्न-भिन्न कर डालता है। यानी अत्यन्त चञ्चल एवं क्षीण कर देता है। अतः जब हृदयसे सब कामनाएँ बिलकुल हट जाती हैं, तभी मनुष्यकी बुद्धि भी स्थिर होती है और तभी उसे शाश्वती शान्ति भी प्राप्त होती है—

'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टस्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥'
(गीता २-)

अतः जो मनुष्य समस्त कामनाओंका त्याग करके ममता और अहंकारसे रहित होकर निःस्पृह हो जाता है, वही व्यक्ति शान्तिको प्राप्त करता है। और ज्योंही मन शान्त रहने लगता है, शरीरका बढ़ना आरम्भ होता है। मनमें आनन्द और निश्चलता आ जाती है—

'विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥'
(गीता—२)

इसीलिए भगवान् कृष्णने काम और क्रोधपर नियन्त्रण करनेके लिए बड़ा जोर देकर कहा है—

'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥'
(गीता-)

परन्तु, काम अनादि कालसे प्राणियोंके हृदयमें पक्की जड़ जमाये रहते हैं। अतः उनको हृदयसे हटा देना—उखाड़ फेंकना, यह कोई साधारण बात नहीं, बड़ी टेढ़ी खीर है—बहुत ही कठिन काम है। विषयोंका सहसा परित्याग हो जाना असम्भव है। अतः कोई यदि वैसा करता भी है, तो वह श्मशान-वैराग्य चिर-स्थायी नहीं रह सकता। वैसा करनेसे मनुष्य फिर और भी दीनभावको प्राप्त हो जाता है। विषयोंसे विरक्ति हुए विना आवेशमें आकर यदि कोई उन्हें त्याग देता है तो, उसे बीच-बीचमें उनकी याद आती रहती है, इससे उसको दीनता घेर लेती है। विषय सदैव शोक और सन्तापको उत्पन्न करते हैं। इसीलिए स्कन्द पुराणमें कहा है कि विषयोंका परित्याग मनुष्यको शनैः-शनैः करना चाहिए—

'शोक-सन्तापजनकान् उपेक्षेत शनैः शनैः।
सहसा विषयांस्त्यक्षन् याति जीवः सुदैन्यताम्॥'

(का.श.–रहस्य)

ईश्वरका आश्रयण

कामकी निवृत्तिका सबसे उत्तम उपाय यह है कि—मनमें विषयोंका चाव कम कर दिया जाय! इसपर यह प्रश्न उठता है कि—'विषयोंके चावको किस प्रकारसे कम किया जाय?' इसका उपाय स्कन्द पुराणमें यह बतलाया है कि—

'तच्छनैर्विषयान् सर्वान् ईक्षेतेश्वरमाश्रितः।'

(काशी–रहस्य)

अर्थात् विषयोंको (शनैः-शनैः =) धीरे-धीरे, देरीसे देखना चाहिए—विषयोंको देखनेमें जल्दीबाजी, उतावली, नहीं करनी चाहिए। उदाहरणार्थ, जैसे किसी प्रेमीके पत्र या तारकी प्रतीक्षामें बैठे हों, और उसका पत्र या तार आ जाय, तो उसे देखनेकी मनमें बड़ी उतावली रहती है। अतः अपना पूजन-पाठ आदि कर्तव्य छोड़कर अर्थात् जिस काममें लगे हों, उसे छोड़कर, तुरन्त उस चिट्ठी या तारको बाँचने लगते हैं। इसी तरह कहीं शान्तिसे बैठकर किसी अच्छे विचारमें लगे हों, सामने यदि कोई खाने-पीनेकी या देखनेकी वस्तु आ जाय, तो इन्द्रियाँ अपना काम छोड़कर चट्से उनकी ओर चली जाती हैं। चित्तमें उनकी ओर कौतूहल होने

लगता है। परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। इस चावको कम कर देना चाहिए। अर्थात् विषयोंको धीरेसे, यानी देरीसे देखना, सुनना चाहिए, उनके चावको बढ़ाकर उनको देखने-सुननेकी उतावली नहीं करनी चाहिए। अपना मुख्य कर्तव्य पूरा करके, पीछे फिर उन्हें देखना चाहिए। विषयोंको विलम्बसे देखने-सुननेसे उनका चाव कम हो जाता है।

'परन्तु ऐसा हो कैसे ? क्योंकि मन तो उसके लिए उतावली करता रहता है। अतः मनका यह वेग रोका कैसे जाय ?' इसका एकमात्र उपाय यही है कि—

'ईश्वरमाश्रितः।'

अर्थात् विषयोंके चावको कम करनेके लिए, मनके वेगको रोकनेके लिए, ईश्वरका आश्रय लेना चाहिए (ईश्वरमाश्रितः)। क्योंकि विना ईश्वरका आश्रय लिए यह हो ही नहीं सकता है। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें, ब्रह्मादि देवताओंने भगवान्‌से कहा है कि—

'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥'
(१०-२-३२)

'अर्थात् हे प्रभो, जो आपके चरण-कमलोंका आश्रय नहीं लेते और आपमें भक्तिभावके न होनेसे जिनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है—वे लोग झूठे ही अपनेको मुक्त मानते हैं। वास्तवमें तो वे बद्ध ही हैं। अतः वे लोग बड़ी भारी तपस्या और साधनोंके द्वारा ऊँचे-से-ऊँचे पदमें पहुँचकर भी, वहाँसे नीचे गिर जाते हैं—पतित हो जाते हैं।'

और इसके विपरीत जो लोग आपका (ईश्वरका) आश्रय लेते हैं, उनसे यह काम (अर्थात् विषयोंके चावको कम करना) बड़ी सरलतासे सिद्ध हो जाता है—

'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥'

अतः भगवान्‌का आश्रय लेकर कामकी (विषयोंकी) शनैः-शनैः उपेक्षा करते-करते, विषयोंकी उत्सुकता कम हो जाती है। मनमें विषयों-

का सङ्कल्प नहीं उठता और धीरे-धीरे चित्त निष्कामभावको प्राप्त होता जाता है। भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है कि—

'रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते॥'

(श्रीमद्भाग० ११–१२–१३)

'अर्थात् विवेकी मनुष्यका भी चित्त यद्यपि रजोगुण और तमोगुणके द्वारा मोहित हो जाता है, तथापि विषयोंमें दोषोंको देखता हुआ वह आलस्य-रहित होकर, चित्तको रोकता हुआ फिर उन विषयोंमें आसक्त नहीं होता है।'

अतः ईश्वरका आश्रय लेनेसे अन्तःकरणसे समस्त दोषोंके हट जानेपर जिस व्यक्तिके मनमें समस्त काम, पूर्ण-समुद्रमें नदियोंकी तरह समा जाते हैं, अर्थात् उसमें विकार उत्पन्न नहीं करते, वही पुरुष परम-शान्तिको प्राप्त होता है, विषयोंकी कामना करनेवाला नहीं—

'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥'

(गीता २–७०)

अत एव जहाँतक संभव हो, विवेकी पुरुषको कामको सीमित करते हुए शनैः-शनैः उसे निवृत्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। इसके लिए भी कामकी ही आवश्यकता है। अर्थात्—

'शान्त्यै विषे हि विषमे वषमेव पथ्यम्।'

—के अनुसार कामकी निवृत्ति भी कामसे ही होती है। सारांश, जैसे विषम विषकी शान्तिके लिए विष ही गुणकारी होता है, वैसे ही, कामकी निवृत्ति भी कामसे ही होती है। ऐसा [1]काम है—आत्मानुरक्ति अर्थात् भगवद्-अनुराग। भगवद्-अनुराग भी काम ही है। अतः काम यदि किसी प्रकार लौकिक विषयोंसे हटकर भगवान्‌की ओर होने लग जाय, भगवद्-अनुरागके रूपमें परिणत हो जाय, तो फिर उस कामसे, इस कामकी निवृत्ति अपने ही आप हो जाती है—

१—अर्थात् कामको निवृत्त कर देनेवाला काम।

'विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते ॥'
(भागवत ७-१०-९)

'अर्थात् मनुष्य जब अपने मनमें रहनेवाली समस्त कामनाओंका परित्याग कर देता है, तो उसीसमय वह भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिए लोक-परलोक—दोनोंके ही भोग असत् हैं, ऐसा समझकर न तो उनका चिन्तन करना चाहिए और न भोग ही। क्योंकि विषयोंके चिन्तनसे ही जन्ममृत्युरूप संसारकी प्राप्ति होती है, और उनके भोगसे तो आत्म-नाश ही हो जाता है। अतः इनके रहस्यको समझकर इनसे अलग रहनेवाला ही आत्मज्ञानी है—

'दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक् ॥'
(भाग० ९-१९-२०)

भगवद्-अर्पित काम

विषयोंका चाव घट जानेपर जब विषयोंकी वासनाएँ कुछ शिथिल पड़ जाती हैं, तब भाग्यवश किसी निमित्तसे अर्थात् किसी सद्गुरु, सत्सङ्ग, सत्कथा या धार्मिक आख्यानोंके प्रभावसे चित्तमें भगवान्‌की ओर अनुराग उत्पन्न होकर उसमें भगवद्विषयिणी कामनाएँ अङ्कुरित हो जाती हैं। उनसे अन्तःकरण अतीव स्वच्छ होकर उसमें केवल एकमात्र भगवद्-विषयिणी कामनाएँ प्रबल होकर फिर उत्तरोत्तर उसी विषयका सङ्कल्प, चिन्तन और मनन होने लगता है। उससे चित्तका सम्बन्ध धर्म और भगवच्चरणोंमें हो जाता है। अतः ऐसी अवस्थामें फिर पूर्वोक्त तीनों प्रकारके कामका अर्थात् वासनारूप, मानसरूप और बाह्य-रूप—इस त्रिविध कामका विषय एकमात्र भगवान् ही हो जाते हैं। तब यही काम भगवद्-अनुरक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है।

ऐसे कामकी शास्त्रोंमें बड़ी प्रशंसा है। जैसे अङ्गमें चुभे हुए काँटेको काँटा ही निकाल सकता है, वैसे ही अपार विषयासक्तिरूप कामको यह आत्मानुरक्तिरूप काम ही चित्तसे हटा सकता है। अतः मनमें भगवद्-अनुरागरूप कामका आविर्भाव हो जाना, बड़े भारी पुण्यका फल है।

आत्म-रतिके रूपमें परिणत हुआ काम मनुष्य-समाजको कृतकृत्य कर देता है। इसीलिए श्रीब्रह्मदेवने भगवान् कृष्णसे कहा है—

'तावद् रागादयस्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनः॥'

(भाग० १०-१४-३६)

'अर्थात् हे भगवन्, राग-द्वेष आदि दोष तभीतक चोरोंकी तरह मनुष्योंके सर्वस्वको हरते हैं, घर और उसके सम्बन्धी लोग मनुष्यको तभी तक कारागारके समान बाँधके रखते हैं, और मोह, पैरोंकी बेड़ियोंकी तरह तभी तक जीवको जकड़े रखता है, जब तक कि जीव आपका नहीं हो जाता। अर्थात् आपमें अनुरक्त नहीं हो जाता।'

अतः भगवद्-विषयक हो जानेपर काम फिर भूँजे हुए अन्नकी तरह हो जाता है। उससे फिर जीवका बन्धन नहीं हो सकता, प्रत्युत वह मोक्षका हेतु बन जाता है। महर्षि शुकदेवने कहा है—

'कामधियस्त्वयि रचिता न परम रोहन्ति यथा करम्भबीजानि।
ज्ञानात्मन्यगुणमये गुणगणतोऽस्य द्वन्द्वजालानि॥'

(श्रीमद्भागवत ६-१६-३९)

अर्थात् परमात्मा ज्ञानस्वरूप और निर्गुण हैं। इसलिए उनके प्रति की हुई सकाम-भावना भी, अन्यान्य कर्मोंके समान जन्म-मृत्युरूप फल देनेवाली नहीं होती। जैसे कि भूँजे हुए बीजोंसे अङ्कुरोंकी उत्पत्ति नहीं होती।

इसीलिए व्रजकी गोपाङ्गनाएँ, मीराँ, सूरदास आदि अनेकानेक भगवद्भक्त भगवद्-विषयक कामसे ही विश्व-बन्द्य होकर मुक्त हो गये। ऐसे ही कामके विषयमें श्रीशुक महर्षिने कहा है कि—

'मनुष्य काम या भयसे जितनी तन्मयताको प्राप्त होता है, उतना भक्तियोगसे नहीं'—

'यथा कामाद् भयाद् वापि मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥'

(भागवत० ११ ।)

अतः ऐसा काम, अर्थात् भगवद्-अनुरक्तिके रूपमें परिणत हुआ काम अतीव दुर्लभ है। वह मनुष्यके अन्तःकरणमें अनादिकालसे जमी हुई

कामकी जड़ोंको—कामके मलको, अर्थात् अनन्त-अनन्त दुर्बासनाओंको उखाड़कर दूर फेंक देता है—

'रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी
कामं कषायं मलमन्तरात्मनः।'

(श्रीमद्भाग० ४–२२–२१)

इसलिए सत्य-तत्त्वका यथार्थ निर्णय करनेवाले उच्चकोटिके शास्त्रोंमें—आत्मातिरिक्त पदार्थोंसे आसक्तिका परित्याग होकर आत्मामें ही दृढ़ अनुरक्तिका होना मनुष्यके परम कल्याणका (मोक्षका) अचूक साधन बतलाया गया है—

'शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या॥'

(श्रीमद्भाग० ४–२२–२२)

यह आत्मानुराग ही भक्तियोग कहलाता है। भक्तियोगसे जीवका हृदय अतीव विशुद्ध हो जाता है, जिससे कि चित्तसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर वासनामय सभी आन्तरिक काम नष्ट हो जाते हैं—भगवान् कृष्णने कहा है—

'प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे, मयि हृदि स्थिते॥'

(भाग० ११–२०–२९)

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यको इन्द्रियोंकी स्वेच्छामयी—उच्छृङ्खल, प्रवृत्तिको आत्माकी ओर मोड़कर, अपने हृदयस्थ कामको परमेश्वरके साथ जोड़नेका प्रयत्न करना चाहिए। देवर्षि नारदने युधिष्ठिरसे कहा है—

'यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत्।
ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः॥'

(श्रीमद्भाग० ७–१५–३३)

अर्थात् कामसे मारा हुआ चित्त इधर-उधर घूमता हुआ जहाँजहाँ भी जाय, वहाँ-वहाँसे उसे लौटाकर धीरे-धीरे हृदयमें रोकना चाहिए।

चित्तका निरोध हो जानेपर फिर समस्त इन्द्रियाँ अपने आप ही निरुद्ध हो जाती हैं—

'निरोधाच्चेतसोऽक्षाणि निरुद्धान्यखिलान्यपि ।
आच्छादिते रवौ मेघैराच्छन्ना स्युर्गभस्तयः ॥'
(पञ्चतन्त्र, मित्रसंप्राप्ति)

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेपर—जैसे इन्धनके बिना आग बुझ जाती है, वैसे ही—थोड़े ही समयमें चित्त शान्त हो जाता है—

'एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः ।
अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत् ॥'

इसीलिए महात्मा विदुरने महाराज धृतराष्ट्रसे कहा है कि—'जो मनुष्य जितेन्द्रिय, क्रोध और लोभसे रहित, सन्तोषी, तथा सत्यवादी होता है, उसको शान्ति प्राप्त होती है'—

'यतेन्द्रियो नरो राजन् क्रोधलोभनिराकृतः ।
सन्तुष्टः सत्यवादी यः स शान्तिमधिगच्छति ॥'
(म० भा० स्त्रीपव–७–१८)

महाभारतमें कहा है कि—'यह दूरतक दौड़नेवाला और अनेक विषयोंकी ओर जानेवाला कामनामय संशयात्मक मन अच्छी तरहसे जिसके वशमें हो जाता है, वह मनुष्य इस लोक तथा मरनेके बाद परलोकमें भी सुखी होता है'—

'दूरग बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम् ।
मनः सुनियत यस्य स सुखी प्रेत्य चेह च ॥'
(शा० पर्व० १९४–३७)

अतः सांसारिक विषयोंकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होनेवाला यह काम यदि ईश्वरमें, निर्गुण ब्रह्ममें रतिके रूपमें परिणत हो जाय, तो फिर

'सा परानुरक्तिरीश्वरे'

—के अनुसार वह अन्तमें भगवद्भक्तिका रूप धारण करके मनुष्यको कृतकृत्य कर देता है। देवर्षिने कहा है कि—

'कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् ।
चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ॥'
(भाग० ७–१५–३५)

'अर्थात् जब मनुष्यकी सब कामनाएँ मनमें चोट करना बन्द कर देती हैं, और चित्तकी सब वृत्तियाँ अत्यन्त शान्त हो जाती हैं, तब चित्त फिर ब्रह्मानन्दके संस्पर्शमें मग्न हो जाता है और फिर उसका कामकी ओर—विषयोंकी ओर, कभी भी खिंचाव नहीं होता।' इसीलिए श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

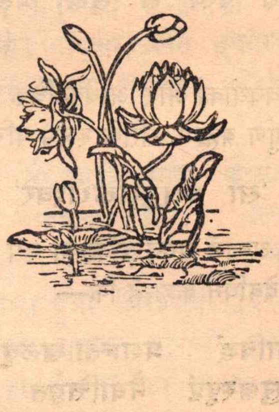
'समर्द्धयन्ति तान् कामाः स्वाराज्यपरिभाविताः।
दुर्लभा नापि सिद्धानां मुकुन्दं हृदि पश्यतः॥'

(भाग० ९-४-२५)

विषयोंकी ओर चित्तका खिंचाव न होनेपर ही मनुष्यको वास्तविक शान्तिका सुख प्राप्त होता है। इस प्रकारसे कामकी निवृत्ति भी कामसे ही हो जाती है। इसीलिए 'काम' भी एक अद्वितीय पुरुषार्थ है।

•

'कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटम्।
कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यान्न संशयः॥'



चतुर्थ-परिच्छेद

'मोक्ष'

'जन्ममृत्युजरारोगै – र्व्याधिभिर्मानसक्लमैः ।
दृष्ट्वैव सततं लोकं घटेन्मोक्षाय बुद्धिमान् ॥'
(शा० प० २१५ अ० २)

'मोक्ष'

चतुर्थ पुरुषार्थका नाम है—'मोक्ष'। इसे 'परम पुरुषार्थ' भी कहते हैं। प्रायः अर्थ और कामकी चकाचौंधके सामने अधिकांश, अविवेकी मनुष्य मोक्षको शुष्क और नीरस समझकर उसका नाम ही सुनकर घबड़ा जाते हैं। वे लोग समझते हैं कि—'भला, मोक्षमें क्या आनन्द मिलेगा? वहाँ न तो यह शरीर ही रहेगा और न ये प्रियतम विषय ही मिलेंगे, केवल यह आत्मा परमात्मामें विलीन हो जायगा। तब इससे हमें आनन्द क्या मिलेगा?'

परन्तु समस्त वेद, शास्त्र, महान्से महान् ज्ञानी ऋषि-महर्षि, सन्त, मुनि-महात्मा आदि लोकोत्तर प्रतिभाशाली सभी महापुरुषोंने—संसार-भरके एक-से-एक सुखोंको छान-बीन करके, उन्हें खूब अच्छी तरहसे परख-परख करके, अन्तमें बिना मतभेदके सभीने एक स्वरसे, यही एक अकाट्य, अटल सिद्धान्त सुस्थिर कर दिया है कि--

'वास्तवमें सबसे उत्तम, सबसे सुखमय और सबको अभीष्ट और चाहनेयोग्य निरवधिक अखण्ड आनन्दमय महान् सरस पुरुषार्थ 'मोक्ष' ही है।' इसीलिए विष्णु-पुराणमें कहा है कि—

'इति संसार-दुःखार्क-ताप-तापित-चेतसाम्।
विमुक्ति-पादपच्छायामृते कुत्र सुखं नृणाम्॥'

(६ अंश० ५ अ० ५७)

'अर्थात् सांसारिक दुःखरूपी प्रचण्ड सूर्यके तापसे जिनका अन्तःकरण सन्तप्त हो रहा है, उन पुरुषोंको मोक्षरूपी कल्पवृक्षकी शीतल छायाको छोड़कर और कहाँ सुख मिल सकता है?'

अत एव मोक्ष ही समस्त पुरुषार्थों और समस्त सुखोंका सम्राट् है। इसकी प्राप्ति किसी-किसी विरले ही भाग्यशालीको हो पाती है, अधिकांश लोगोंके लिए तो यह एक आदर्शमात्र है। अस्तु।

मोक्षका अर्थ है—**मुच्यते सर्वैर्दुःखबन्धनैर्यत्र सः मोक्षः**? अर्थात् जिस पदको पाकर जीव आध्यात्मिक आदि सम्पूर्ण दुःखबन्धनोंसे मुक्त हो जाता है—उसे मोक्ष कहते हैं। इसीलिए इसका नाम मुक्ति भी है। मुक्ति-

शब्द भी 'मुच्लृ मोचने' इस धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय होकर बना है। इसका अर्थ होता है—(बँधे हुए प्राणीका) बन्धनोंसे छूट जाना। बन्धन क्या है? परतन्त्रता। तो जीव स्वतन्त्र है कि परतन्त्र? इसका उत्तर है कि—जीव परतन्त्र है। यद्यपि देह भिन्न है और देही आत्मा (जीव) भिन्न है। परन्तु देही देहके अन्दर—देह और इन्द्रियोंके बन्धनोंसे खूब जकड़ा हुआ है, अतएव वह बिल्कुल परतन्त्र है। गोस्वामीजीने कहा है—

'परबश जीव स्वबश भगवन्ता।'

इसीलिए और तो क्या, बड़े-से-बड़ा सम्राट् भी अपनी इच्छासे इस बन्धनको तोड़ नहीं सकता। समय समाप्त हो जानेपर वह स्वेच्छासे एक-आध घण्टे भर भी फिर इस देहमें नहीं रह सकता। अतः देह धारण करना ही जीवका महान् बन्धन है। देहवान् होते हुए इन जन्म-मरण और कर्म-भोगोंकी परतन्त्रतासे छुटकारा कोई भी नहीं पा सकता। जबतक यह बन्धन है, तबतक जीवको परम आनन्द अर्थात् अखण्ड सुख मिल ही नहीं सकता।

सुख-दुःख

चौरासी लाख योनियोंसे भरपूर इस अपार संसारमें अनेक प्रकारके सुख-दुःख हैं और एकसे-एक बढ़कर हैं। ये दो अति प्रबल पदार्थ सबको प्रत्यक्ष अनुभूत हो रहे हैं। यद्यपि सुखको ही सब चाहते हैं, दुःखको कोई भी नहीं चाहता। तथापि प्रकृतिका एक ऐसा अटल नियम है कि किसी-न-किसी रूपमें दुःख सभीको भोगना ही पड़ता है, अर्थात् सुख-दुःखका भोग सबका एक-सा नहीं रहता है। प्राणिमात्रका हृदय सुखके लिए अत्यन्त लालायित रहता है। अतएव सुखप्राप्तिके लिए ही प्रत्येक मनुष्य उद्योग करता है और जिसका जैसा पुरुषार्थ रहता है, उसको वैसा ही सुख मिलता है।

वैसे तो प्राणिमात्र ही सुखका पिपासु है। परन्तु मनुष्यका हृदय तो उसके लिए नितान्त ही लालायित रहता है। मनुष्यको साधारण सुख रहनेपर भी, अपनेसे विशेष सुखी व्यक्तिको देखकर, उसके सुखकी लालसा होने लगती है। और उसके न मिलनेपर, मनमें उसीकी लालसा लगी रहनेसे, अपना पहलेका सुख भी दुःखरूपमें ही परिणत हो जाता है। इसीसे विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें, सांसारिक सुख भी, परिणाममें नीरस ही

होनेके कारण, दुःखरूप ही है। अतः सांसारिक सुखके अनुभवके समय मनुष्यको जो-जो भी वस्तु सुखरूप प्रतीत होती है, सूक्ष्म विचार करनेपर वह सब वास्तवमें दुःखरूप ही है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलिने इस विषयमें यह कितना सुन्दर कहा है कि—

'परिणाम - ताप - संस्कार - दुःखैर्गुणवृत्ति-
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।'

(योग सू० ।)

'अर्थात् विषय-सुख नित्य-सुख नहीं है। क्षणिक और दुःखसे मिश्रित है। क्योंकि विषयसुखको प्राप्त करनेमें पहले बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है और पीछे फिर उसके अनुभवके समयमें भी प्रायः कोई-न-कोई दुःख वहाँ रहता ही है। अतः संसारी पुरुषको ऐसे सुखका अनुभव कभी भी नहीं होता, जिसके अनुभवके समय बाह्य, आन्तरिक कोई एक भी दुःख, मन्द-रूपसे भी न रहे। इसके साथ ही साथ सांसारिक सुख परिणाममें विनाशी है, विषय-सुखका नाश अवश्यंभावी है और उसके नाश होते समय फिर बड़ा भारी दुःख होता है। अतएव यह सुख भविष्यमें दुःखका हेतु है और वर्तमान समयमें भी उसके विनाशकी सम्भावनाका भय लगा ही रहता है। इस प्रकार विषयोंसे प्राप्त होनेवाला सुख दुःखोंसे ओत-प्रोत (अर्थात् सनाहुआ) है।' अतः ऐसा सुख परिणाममें शोकरूपमें ही परिणत हो जाता है।

इसीलिए दार्शनिक-शिरोमणि श्रीगोकुलनाथ उपाध्यायने कहा है कि—'मनुष्यके मनमें जिन-जिन विषयोंके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है, पीछे उन विषयोंके विनष्ट होमेपर फिर वही अनुराग शोकरूपमें परिणत हो जाता है। अतएव बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिए कि भगवान्में ही अनुराग करे। क्योंकि वह अनुराग शोकरूपमें परिणत नहीं होता'—

'प्रसरति विषयेषु येषु रागः परिणमते विरतेषु तेषु शोकः।
त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते रुचिपरिपाकशुचामगोचरोऽसि॥'

(अमृतोदय—अ०)

'इसीलिए महर्षि शुकने श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

'यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे।
तं तं धुनोति भगवान् पुमान् शोचति यत्कृते॥'

(९-१०-२)

'अर्थात् जीव सुखकी अभिलाषासे जिस-जिस वस्तुको बड़े कष्टसे प्राप्त करता है, उसी-उसीको काल भगवान् विनष्ट कर देते हैं। उसके लिए फिर मनुष्य शोक करता रहता है।'

इसीसे महाभारतमें धृतराष्ट्रने यह बात बड़े अनुभवसे कही है कि—

'धिगस्तु खलु मानुष्यं, मानुषेषु परिग्रहे।
यतो मूलानि दुःखानि संभवन्ति मुहुर्मुहुः॥'

(स्त्रीपर्व ८–६)

अर्थात् इस मनुष्य जन्मको धिक्कार है। इसमें भी विवाह आदि करके परिवार बढ़ाना तो और भी बुरा है। क्योंकि उसीके कारण मनुष्योंको बार-बार नानाप्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं।

विष्णु-पुराणमें महर्षि पराशरने मैत्रेय महर्षिसे कहा है कि—'प्राणियोंको केवल नरकमें ही दुःख हो—सो बात नहीं है। स्वर्गमें भी पतनके भयसे जीवको शान्त नहीं मिलती। जीव बार-बार गर्भमें आता है, और जन्म ग्रहण करता है। कभी गर्भमें ही नष्ट हो जाता है। और कभी जन्म लेते ही मर जाता है। जो उत्पन्न हुआ है, वह जन्मते ही, बाल्यावस्थामें, युवावस्थामें, अथवा जराग्रस्त होकर फिर वृद्धावस्थामें मर जाता है। और जब तक भी जीता है, तब तक नाना प्रकारके दुःखोंसे, इस प्रकार घिरा रहता है कि, जिस तरहसे—कपासका बीज चारों ओरसे तन्तुओंके कारण सूक्ष्म-सूत्रोंसे घिरा रहता है'—

'यावज्जीवति तावच्च दुःखैर्नानाविधैः प्लुतः।
तन्तुकारण-पक्ष्मौघै - रास्ते कार्पासबीजवत्॥'

(६ अं० ५–५३)

द्रव्यके उपार्जन, संरक्षण और विनाश होनेमें, तथा इष्ट-मित्रोंके विपत्तिग्रस्त होनेपर मणुष्योंको अनेकों दुःख प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्योंको जो-जो भी वस्तुएँ अभीष्ट होती हैं, वे भी सब दुःखरूपी वृक्षका बीज हो जाती हैं। स्त्री, पुत्र, मित्र, अर्थ, गृह, क्षेत्र और धन आदि वस्तुओंसे मनुष्योंको जैसा दुःख प्राप्त होता है, वैसा सुख नहीं होता—

'यद् - यत् प्रीतिकरं पुंसां वस्तु मैत्रेय जायते।
तदेव दुःखवृक्षस्य बीजत्वमुपगच्छति॥

कलत्र - पुत्र - मित्रार्थ - गृह - क्षेत्रधनादिकैः।
क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसां यथाऽसुखम ॥'
(६–५–५५–५६)

अतएव गर्भ, जन्म एवं जरा आदि अवस्थाओंसे उत्पन्न होनेवाले आध्यात्मिक आदि त्रिविध दुःख-समूहकी एकमात्र सनातन महौषधि भगवत्प्राप्ति ही है। जिसका एकमात्र लक्षण निरतिशय आनन्दरूप सुखकी प्राप्ति ही है—

'तदस्य त्रिविधस्यापि दुःखजातस्य वै मम।
गर्भ - जन्म - जराद्येषु स्थानेषु प्रभविष्यतः॥
निरस्तातिशयाह्लाद - सुखभावैक - लक्षणा।
भेषजं भगवत्प्राप्ति - रेकान्तात्यन्तिकी मता॥'
(६ अं० ५–५८, ५९)

इसलिए विवेकशील पुरुषोंको भगवत्प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए। उसकी प्राप्तिके साधन शास्त्रोंमें कर्म और ज्ञान—ये दो ही बतलाये हैं—

'तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः।
तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने॥'
(६–५–६०)

अतएव तत्व-विवेकी पुरुषोंको अन्तमें मोक्षसुख ही सबसे अधिक अभिलषित होता हैं। क्योंकि मोक्ष-सुख ही नित्य सुख है और वही समस्त दुःखनिवृत्ति-स्वरूप है। इसीलिए शास्त्रोंमें मोक्षरूप नित्य-सुखकी प्राप्तिके लिए ही उद्योग करनेका आदेश है—

'तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद् भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥'
(भाग० १–५–१८)

अर्थात् बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि, वह उसी वस्तुकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करे, जो कि तृणसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त—समस्त ऊँची-नीची योनियोंमें भटकनेपर भी स्वयं नहीं प्राप्त हो सकती। क्योंकि संसारके विषय-सुख तो—जैसे बिना प्रयत्न किये दुःख अपने आप मिलते हैं, वैसे ही—कर्मके फलस्वरूपमें, अचिन्त्यगति कालकी प्रेरणासे सबको, सर्वत्र

स्वभावतः ही मिल जाते हैं। अतः ऐसे सुखोंसे मनुष्यका विशेष कल्याण क्या हो सकता है?

सच्चा सुख

कामसे प्राप्त होनेवाला सुख सच्चा सुख नहीं हैं। काम-सुख तो ऐसा ही है, जैसे कि पहले अपने शिरपर बोझ रखकर, फिर कुछ देरके लिए बोझके उतरनेसे जरा-सी देर उससे छुटकारा पाकर शिर हल्का हो जानेसे सुखका अनुभव करना। वास्तवमें वह सच्चा सुख नहीं है—केवल सुखाभास है। क्षुधा लगनेपर भोजन करनेसे, कुछ देरीके लिए, क्षुधारोग निवृत्त हो जाता है, इसीसे मनमें थोड़ा-सा चैन मालूम पड़ता है। प्यास लगनेपर चित्तमें जो बेचैनी उत्पन्न हो जाती है, वह पानीके मिल जानेसे जरा दूर हो जाती है। इससे सुख क्या प्राप्त होता है? इसी प्रकार तत्-तत् इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करते-करते तत्-तत् इन्द्रियोंकी जो पिपासा बढ़ जाती है, वह कुछ रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंके प्राप्त हो जानेसे—जरादेरके लिए शान्त हो जाती है। इससे कोई नया सुख जीवको क्या मिलता है? बस, शिरपर रक्खा हुआ बोझ जरा-सी देरके लिए उतर जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि—

जैसे इसलोककी सम्पत्ति प्रत्यक्ष ही नाशवान् है, वैसे ही यज्ञयागादिसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी नाशवान् हैं और एक दूसरेसे छोटे-बड़े, नीचे-ऊँचे हैं। इसलिए वे सब भी निर्दोष नहीं हैं।

अपनेको बहुत बड़ा विद्वान् माननेवाला पुरुष इसलोकमें जिस उद्देश्यसे बार-बार बहुतसे कर्म करता है, उस उद्देश्यकी प्राप्ति तो दूर रही—उल्टा उसे उसके विपरीत ही फल मिलता है और निःसन्देह मिलता है।

कर्ममें प्रवृत्त होनेके दो ही उद्देश्य हैं—सुखकी प्राप्ति और दुःखोंकी निवृत्ति। परन्तु जो पहले कामना न होनेके कारण सुखी था, उसे ही अब कामनाके कारण यहाँ सदा-सर्वदा दुःख ही भोगना पड़ता है। मनुष्य इस लोकमें सकाम कर्मोंद्वारा जिस शरीरके लिए भोगोंको प्राप्त करना चाहते हैं, वह शरीर ही पराया है—सियार और कुत्तोंका भक्ष्य है। और नाशवान् है। कभी वह मिल जाता है तो कभी चला जाता है।

जब शरीरकी ही यह दशा है—तो फिर इससे अलग रहनेवाले स्त्री, पुत्र, धन, महल, सम्पत्ति, राज्य, खजाने, पशु-पक्षी, नौकर चाकर, भृत्य,

गुरुजन और दूसरे, अपने-कहलाने वालोंकी तो बात ही क्या है ? ये तुच्छ विषय शरीरके साथ ही नष्ट हो जाते हैं। ये जान तो पड़ते हैं, पुरुषार्थके समान, परन्तु हैं—वास्तवमें ये सब अनर्थरूप ही। आत्मा तो स्वयं ही अनन्त आनन्दका महान् समुद्र है। उसके लिए इन वस्तुओंकी क्या आवश्यकता है ?

देखिए, जो जीव गर्भावस्थासे लेकर मृत्यु-पर्पन्त—सभी अवस्थाओंमें अपने कर्मोंके अधीन होकर क्लेश-ही-क्लेश भोगता है, उसका इस संसारमें स्वार्थ ही क्या हैं ? इसीलिए महर्षि शुकदेवजीने कहा है—

'एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः।'
'यदध्यर्थ्येह कर्माणि विद्वन्मान्यसकृन्नरः।
करोत्यतो विपर्यासममोघं विन्दते फलम्॥
सुखाय दुःखमोक्षाय संकल्प इह कर्मिणः।
सदाप्नोतीहया दुःखमनीहायाः सुखावृतः॥
कामान् कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः।
स वै देहस्तु पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च॥
किमु व्यवहितापत्यदारागारधनादयः।
राज्यं कोश-गजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः॥
किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः।
अनर्थैरर्थसंकाशै- र्नित्यानन्दमहोदधेः॥
निरूप्यतामिह स्वार्थः कियान् देहभृतोऽसुराः।
निषेकादिष्ववस्थासु क्लिश्यमानस्यकर्मभिः॥'
(श्रीमद्भाग० ७-७-४०-४६)

यही बात भगवान् कृष्णने भी कही है कि—

'को न्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥'
(भाग० ११-१०-१२)

अर्थात् जीवोंके शिरपर जब कि हर समय मृत्यु नाच रही है, तब ऐसी कौन-सी भोग-सामग्री अथवा भोग-कामना है, जो कि उन्हें सुखी कर सके ? भला, जिस मनुष्यको फाँसीपर लटकानेके लिए वध-स्थानपर ले जाया जा रहा हो, उसे क्या कोई सुन्दर फल-फूल, चन्दन, वनिता

आदि पदार्थ सुखी कर सकते हैं ? कदापि नहीं ! अतः इन वस्तुओंसे सच्चा सुख किसीको भी नहीं मिल सकता।

सच्चा सुख तो तभी प्राप्त हो सकता है, जब कि भूख, प्यास, विषय-तृष्णा, राग-द्वेष, जन्मलेना, मरना, आदि दुःखोंकी सारी ही परम्पराएँ सदाके लिए बन्द हो जायँ। उसीका नाम है—मुक्ति। अस्तु।

चूँकि, जीवका वास्तविक स्वरूप तो ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं। अतः उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व—इत्यादि समस्त अनात्मभाव अविद्यासे, अज्ञानसे परिकल्पित हैं। अज्ञानसे कल्पित उन समस्त अनात्मभावोंका परित्याग करके जीवका अपने वास्तविक परमात्म-स्वरूपमें अर्थात् स्व-स्वरूपमें, स्थित हो जाना ही 'मुक्ति' कहलाता है—

'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।'

(श्रीभागवत–२।१०)

इसीलिए मनुष्य ईश्वर बनना चाहता है, महान् होना चाहता है।

जीव ईश्वर बनना चाहता है

इसीसे सबके अन्तःकरणमें ये पाँच स्वाभाविक इच्छाएँ विद्यमान रहती हैं कि—१. हम सदा रहें, २. हम सब कुछ जानें, ३. हम निःसीम और दुःखसंसर्गसे रहित आनन्दको प्राप्त हों, ४. हम सब बन्धनोंसे मुक्त हो जायँ, और ५. सब हमारी इच्छाके अनुसार कार्य करें—अर्थात् सब हमारी बात मानें। अतएव प्रत्येक मानवके ये पाँच लक्ष्य हैं—१. अनन्त सत्ता, २. असीम ज्ञान, ३. अविच्छिन्न सुख, ४. परम स्वातन्त्र्य और ५. सबपर अपना आधिपत्य। ये पाँचों ही गुण भगवान्‌के हैं।

इन पाँचों परिस्थितियोंमेंसे—जिन्हें प्राप्त करनेके लिए हम सभी मनुष्य बिना 'ननु नच'के उत्सुक और सचेष्ट रहते हैं—कोई भी, किसी एक मनुष्यमें नहीं दिखलायी पड़ता, चाहे वह कितना भी महान् क्यों न हो ? वास्तवमें ये सब गुण उसके हैं, जिसे कि संसारके सब धर्म 'ईश्वर'के नामसे पुकारते हैं। अतः जो लोग ईश्वरके अस्तित्वपर विश्वास नहीं रखते अथवा उसे अस्वीकार भी करते हैं—वे लोग भी, अज्ञातरूपसे सदैव उन्हीं गुणोंकी प्राप्तिका प्रयत्न करते रहते हैं, जो कि संसारके समस्त धर्म-ग्रन्थोंमें 'ईश्वर'के गुण कहे गये हैं। अनन्त-सत्ता, असीम ज्ञान, अविच्छिन्न आनन्द, परम स्वातन्त्र्य और सबपर अपना

एकाधिपत्य—ये सब बातें प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। छोटे-छोटे बच्चे भी इनकी इच्छा रखते हैं। अतः इससे स्पष्ट है कि—प्रत्येक मनुष्य ईश्वर बनना चाहता है। ठीक ही है। बड़प्पन ही तो सुख है, छोटाईमें सुख कहाँ ? इसीलिए श्रुतियाँ भी कहती हैं कि—

'नाल्पे सुखमस्ति। यो वै भूमा तत्सुखम्।'
'तत् त्वमसि।' 'जीवो ब्रह्मैव नापरः।' इत्यादि।

अतएव मानवमात्रको—**'अहं ब्रह्मास्मि'**की भावना करनेका पूरा अधिकार है। अस्तु।

मोक्षको 'निर्वाण' भी कहते हैं। निर्वाण शब्दका अर्थ भी पूर्वोक्त अर्थको ही पुष्ट करता है। **'निर्गतो वाणः, तापो यस्मात् तत् निर्वाणम्।'** इस व्युत्पत्तिके अनुसार शोकजनित कायिक, वाचिक, और मानसिक आदि समस्त सन्तापोंकी शान्तिको 'निर्वाण' कहते हैं। निर्वाण प्राप्त होनेपर जीव प्रकृतिके समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर, दुःखातीत हो जाता है। इसीलिए महर्षि चाणक्यने कहा है कि—निर्वाण ही सब दुःखोंकी औषधि है—

'दुःखानामौषधं [1]निर्वाणम्।' (चा० सू० १–६९)

इसी अर्थको प्रकाशित करनेवाला मोक्षका एक नाम—अपवर्ग भी है। अपवर्ग शब्दका अर्थ होता है—**'अपकृष्टाः वर्गा धर्मार्थकामा यस्मात् सः अपवर्गः।'** अर्थात् जिसके सामने तीनों पुरुषार्थ निम्न कोटिके प्रतीत होते हैं, उसको अपवर्ग कहते हैं। इसीको 'कैवल्य' 'परमपद' 'परमकल्याण' 'परमज्योति' 'निःश्रेयस' 'आत्यन्तिक क्षेम' अथवा 'स्वाराज्य-प्राप्ति' भी कहते हैं। अस्तु।

क्लेश-निवृत्ति

हृदयमें द्वैत-भावके विद्यमान रहते प्राणीका भय वास्तवमें निवृत्त नहीं हो सकता। अतः हृदयसे सम्पूर्ण द्वैतभावको मिटाकर अद्वय, परम आनन्दमय परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाना ही मनुष्य-जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य है। जिस अवस्थामें इस मानवीय सत्ताका व्यापक भागवत्सत्ताके साथ एकीभाव हो जाता है, उसीको 'कैवल्य',

---

१—निर्वाणम्—प्रकृतिपाशान्मोचनम्। निर्वाण—सन्तापशान्तिः।

'परम-पद', 'स्वाराज्य-प्राप्ति' कहते हैं। वहाँ जीवके सभी दुःख विलीन हो जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं—

> 'यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ।
> विलीयन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव सर्वतः॥'
>
> (श्रीमद्भाग० ३-७-१३)

इस प्रकार 'मोक्ष' तथा उसके पर्यायवाची सभी शब्दोंकी व्युत्पत्ति और निर्वचनोंपर विचार करनेसे भी निश्चित होता है कि—सम्पूर्ण दुःखोंके संसर्गका अभाव हो जाना, अर्थात् समस्त दुःखोंसे रहित होकर अपने आनन्दमय स्वरूपका—स्वस्वरूपका साक्षात्कार करके, उससे अभिन्न हो जाना ही, मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण कहलाता है और यही मानव-जीवनका प्रधान लक्ष्य है।

अतएव वास्तवमें यदि देखा जाय तो मुख्य पुरुषार्थ एकमात्र 'मोक्ष' ही है। उसीको प्राप्त करनेके लिए त्रिवर्गकी अपेक्षा है, इसलिए मुख्य पुरुषार्थ मोक्षमें उपयोगी होनेसे त्रिवर्गको भी 'पुरुषार्थ' कहते हैं। अर्थात् धर्म, अर्थ, और काम—ये तीनों पुरुषार्थ वास्तवमें साक्षात् या परम्परया मोक्षके ही साधन हैं। मुख्य पुरुषार्थ तो एक मोक्ष ही है। इसीसे मोक्षको 'परम-पुरुषार्थ' कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> 'तत्रापि मोक्ष एवार्थः आत्यन्तिकतयेष्यते।
> त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः॥'
>
> (४ स्कन्ध० २२-३५)

'अर्थात् समस्त पुरुषार्थोंमें भी सबसे श्रेष्ठ मोक्ष ही माना जाता है, क्योंकि अन्य तीन पुरुषार्थोंमें सदा, सर्वदा कालका भय लगा ही रहता है।'

अतः मोक्षको प्राप्त किये बिना जीवके दुःख-परम्परारूप सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति कदापि हो नहीं सकती है। इसलिए मोक्ष ही परम-पुरुषार्थ है और वही मनुष्य-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति होनेसे ही जीवके सकल दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है।

अतएव निर्वाणको प्राप्त कर लेना ही मानव जातिके लिए सर्वोत्तम लाभ है। इसीलिए शास्त्रोंमें कहा गया है कि, जीवनका फल तत्त्वकी जिज्ञासा है—

'जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।'
(भाग० १-२-१०)

अतः अनेकानेक कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्गादिको प्राप्त कर लेना जीवनका फल नहीं है। क्योंकि सभी ओरसे मृत्युसे भयभीत यह जीव मोक्षको प्राप्त हुए बिना मृत्युके भयसे छुटकारा पा ही नहीं सकता है, केवल मोक्षको पाकर ही यह मर्त्य अमर होता है। इसीसे श्रुति कहती है—

'अशब्द-मस्पर्शमरूप-मव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥'
(कठोप०)

निःश्रेयस

मनुष्यका निश्चित कल्याण तो मोक्ष प्राप्त होनेपर ही होता है। इसीसे मोक्षको 'निःश्रेयस' कहते हैं। निःश्रेयस शब्दका अर्थ है—जीवका सबसे बड़ा हित **'निश्चितं श्रेयः निःश्रेयसम्।'** [1]श्रेयका अर्थ है, अभीष्ट फल। और जीवका जो अभीष्ट फल निश्चित है, जो कभी भी नष्ट नहीं होता। अर्थात् जिसकी स्थायितामें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है—ऐसे सर्वोत्तम अभीष्ट फल-(परम पुरुषार्थ-) को 'निःश्रेयस' कहते हैं। यह बात केलल एक मोक्षमें ही सम्भव है। क्योंकि अन्य तीन पुरुषार्थोंमें सदा कालका भय लगा ही रहता है। क्योंकि आध्यात्मिक आदि दुःखोंसे युक्त प्राणीको बड़े भारी कष्टसे यदि कुछ अर्थ और कामरूप श्रेय प्राप्त हो भी जायँ, तो उनसे जीवको क्या आत्यन्तिक लाभ हो सकता है? क्योंकि जिसको हर समय आध्यात्मिक आदि दुःख घेरे रहते हैं और लौकिक साधनोंसे उनको दूर नहीं किया जा सके, ऐसी परिस्थितिमें, मनुष्यको भारी-भारी कष्टोंकेद्वारा यदि कुछ सांसारिक सुख और उनके साधन प्राप्त भी हो जायँ, तो उनसे उसको वास्तवमें क्या सुख हो सकता है? क्योंकि, जिस शरीरके उपभोगके लिए वह सामग्री प्राप्त है, वह तो स्वयं अनेकानेक आधिव्याधियोंसे घिरा हुआ है—

१—श्रेयः = कर्मफलादि पुरुषार्थः।

'सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः।
श्रीधरी—श्रेयसां कर्मफलादिपुरुषार्थानाम्॥' (भाग० १०-२)

'आध्यात्मिकादिभि-र्दुःखैरविमुक्तस्य कर्हिचित् ।'
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥'
(भागवत ७-१३-३०)

अतएव शास्त्रोंमें उसी निःसीम सुखके लिए सर्वथा प्रयत्न करना पुरुषार्थ माना गया है, जिसमें कि कमी-वेशी न हो और जिसका कभी विनाश न हो। इस प्रकारका जो अक्षयफल है अर्थात् अविनाशी सुख है, वही 'निःश्रेयस' है। उससे इतर और जितने भी इसलोक या परलोकके सुख हैं, वे सब तारतम्यसे दूषित हैं, उनमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा कमी-वेशी रहनेसे वे सब दुःखरूप ही हैं—वास्तविक सुखरूप नहीं हैं और स्त्री, पुत्र, धन-धान्य आदि अनित्य विषयोंसे उत्पन्न होनेके कारण सब क्षणिक और अनित्य हैं। अतः ऐसा सुख कभी दुःखरूपमें भी परिणत हो जाता है। इसलिए परम-सुखके पिपासु जीवकी वह चिरकालकी सुख-विषयिणी पिपासा इन सांसारिक विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं हो सकती, क्योंकि इन विषयोंमें वह नित्य-सुख है ही नहीं। तब इनसे जीवको वह परमसुख कैसे प्राप्त हो सकता है? सुख तो आत्मा का स्वरूप ही है। और सम्पूर्ण चेष्टाओंकी निवृत्ति ही उसके प्रकाशित होनेका स्थान है। इसीलिए वीतराग महर्षि शुक मुनिने कहा है कि—

'इत्येतदात्मनः स्वार्थं सन्तं विस्मृत्य वै पुमान् ।
विचित्रामसति द्वैते घोरामाप्नोति संसृतिम् ॥'
(श्रीमद्भागवत-७-१३-२७)

अर्थात् मनुष्य अपने सच्चे स्वार्थ, अर्थात् वास्तविक सुखको, जो अपना स्वरूप ही है—भूलकर इस मिथ्या द्वैतको सत्य मानता हुआ, अत्यन्त भयङ्कर एवं विचित्र जन्म और मृत्युओंके चक्रमें भटकता रहता है। यही सिद्धान्त हमारे जैन-सम्प्रदायके आचार्योंका भी है। जैन-दर्शनमें कहा है कि—'शरीरको ही आत्मा मान लेनेसे मनमें जो मिथ्या भ्रम हो रहा है, उसे दूर करके, आत्म-तत्त्वको ठीक-ठीक रूपमें समझ कर उससे विचलित न होना ही परम-पुरुषार्थकी प्राप्तिका उपाय है'—

'विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग् व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥'

भ्रान्ति

जैसे अज्ञानी मनुष्य जलमें उत्पन्न हुए तिनके और सेवारसे ढके हुए जलको छोड़कर (जल न समझकर) जलके लिए मृगतृष्णाकी ओर दौड़ता है, वैसे ही अपनी आत्मासे भिन्न वस्तुओंमें सुख समझने वाला अज्ञानी पुरुष आत्माको छोड़कर अन्य विषयोंकी ओर दौड़ता है—

'जलं तदुद्भवैश्छन्नं हित्वाज्ञो जलकाम्यया।
मृगतृष्णामुपाधावेत् तथाऽन्यत्रार्थदृक् स्वतः॥'

(भागवत ७-१३-२८)

यह भ्रम चेतन और अचेतनके लक्षणको अच्छी तरहसे समझनेपर अनायास नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार जीव और ईश्वरके पार्थक्य-विषयको लेकर उठनेवाला विवाद भी जीव और ईश्वरके लक्षणोंको ठीक-ठीक समझ लेनेपर शान्त हो जाता है। इसीलिए—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा।'

इत्यादि श्रुतियोंमें तत्त्वत्रयका उपदेश है। इस श्रुतिमें सुख-दुःखको भोगने वाला ज्ञानवान् चेतन तत्त्व भोक्ता कहा गया है। एवं ज्ञानशून्य अचेतन तत्व भोग्य-शब्दसे कहा गया है। और इन दोनों तत्त्वोंको नियमन करनेवाले ईश्वर-तत्वको 'प्रेरिता' कहा गया है। अस्तु।

परम पुरुषार्थकी प्राप्तिमें महाविरोधी तीन भ्रम हैं—(१) प्रकृत्यात्मभ्रम, (२) स्वतन्त्रात्मभ्रम और (३) अनीश्वरवाद-रुचि।

१. प्रकृत्यात्मभ्रम

देह, इन्द्रिय आदि रूपमें परणत प्रकृतिको आत्मा समझ लेना—यह प्रकृत्यात्मभ्रान्ति है। जीवात्मा देह, इन्द्रिय आदि रूपमें परणत प्रकृतिको आत्मा समझकर प्रकृत्यात्म-भ्रममें डूबा रहता है। यह प्रकृत्यात्म-भ्रम एक प्रबल विरोधी है, इसके कारण ही जीवात्मा पारलौकिक उत्तमोत्तम फलोंको चाहता तक नहीं है।

२. स्वतन्त्रात्मभ्रम

जीवात्मा अपनेको स्वतन्त्र मान लेता है। अतएव ईश्वराज्ञारूप शास्त्रोंका उल्लङ्घन करनेमें उसको अणुमात्र भी सङ्कोच नहीं होता है। वास्तवमें जीवात्मा परमात्माके परतन्त्र है। यदि वह अपनेको

स्वतन्त्र माने तो यह भ्रम ही है। यह भ्रम भी मोक्षप्राप्तिमें महान् विरोधी है।

३. अनीश्वरवादरुचि

ईश्वर है ही नहीं—इस वादमें जीव रुचि रखता है। यह रुचि स्वतन्त्रात्मभ्रमका कारण है। इन तीनों विरोधियोंको नष्ट कर देना चाहिए। तत्व-त्रयके लक्षणोंकी ठीक-ठीक समझकर जीवात्मा जब अचेतन, चेतन और ईश्वरको अलग-अलग समझ लेता है, तो चेतन स्वस्वरूप और अचेतन प्रकृतिको विभिन्न तत्व समझ लेनेसे प्रकृत्यात्मभ्रम अनायास निवृत्त हो जाता है। चेतन जीवतत्व और सर्वस्वतन्त्र ईश्वर तत्वको ठीक-ठीक समझ लेनेसे स्वतन्त्रात्मभ्रम और अनीश्वरवाद-रुचि नष्ट हो जाती है। अस्तु।

द्वैतभावमें सदैव भय विद्यमान रहता है, अतएव द्वैतभावके रहते-रहते मनुष्यका भय निवृत्त नहीं हो सकता। इसलिए द्वैतभाव मिटाकर अद्वैत-भावको प्राप्तकर लेना ही मानव-जीवनका ऊँचा लक्ष्य है। इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्यने राजर्षि जनकसे कहा है कि—

'न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः क्षपाः।
सोऽयं प्रपद्यतेऽध्वानं चिराय ध्रुवमध्रुवः॥'

(शा० प० ३१९-७)

'अर्थात् दिन, रात और महीनोंके जो चक्र चल रहे हैं—वे किसीके टाले नहीं टल सकते हैं। इसी प्रकार जन्म-मृत्यु और जरा—आदिके क्रम प्रायः चलते ही रहते हैं। अतः जिसके जीवनका कुछ ठिकाना नहीं, वह मरणधर्मा मनुष्य कभी दीर्घकालके पश्चात् नित्य-पथका (अर्थात् मोक्षमार्गका) आश्रय लेता है।'

कपिल महर्षिने कहा है कि—'संसारमें सुख बिलकुल नहीं है। यहाँ जो भी कुछ सुख है, वह भी दुःखसे मिश्रित होनेके कारण दुःखरूप ही है—ऐसा दृढ़ निश्चय विवेकी लोग करते हैं—

'कुत्रापि कोऽपि सुखीति, तदपि
दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ति विवेचकाः।'

(सांख्य शास्त्र)

किसीके सुन्दर धवलधाम और मनोहर उद्यानको देखकर उसकी प्राप्तिके लिए मनमें बड़ी उत्कण्ठा होती है और उसके मिलनेपर कुछ क्षण

तो बड़ा हर्ष भी होता है। परन्तु कुछ ही कालमें चित्त अन्य विषयोंके चिन्तनमें व्यग्र हो जाता है और वे सब सौख्य-सामग्रियाँ सामने होनेपर भी अपना प्रभाव उसके चित्तपर नहीं डाल सकतीं। फिर तो वह और ही चिन्तामें व्यग्र हो जाता है। दूसरोंको दृष्टिमें वह बहुत सुखी होनेपर भी अपनी दृष्टिमें दुःखी ही होता है।

ठीक वैसे ही, थोड़ी देरमें नाना प्रकारके रसास्वादनके अनन्तर मन कुछ और चाहने लगता है। वहाँ भी यदि नींदमें बाधा पड़ी तो फिर प्रजागर रोग समझा जाने लगता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रियतमसे मिलकर भी प्रेमीकी स्वापके लिए प्रवृत्ति होती है। वस्तुतः जिनके पास जितनी अधिक भोग-सामग्री है, वे उतना ही अधिक स्वापमें प्रवृत्त होते हैं। यह सब इसीलिए कि चाहे कितना भी सुख क्यों न हो, परन्तु वास्तवमें वह सब दुःखरूप ही है।

अतएव इन सांसारिक सुखोपभोगोंसे श्रान्त होकर यह प्राणी निरायास अखण्ड आनन्दमय ब्रह्ममें विश्रान्ति चाहता है। वास्तवमें सभी तत्त्व अपने अधिष्ठानभूत परमात्मासे वियुक्त होकर सन्तप्त होते हैं। जैसे किसी सूत्रमें बँधा हुआ पक्षी (बुलबुल) प्रति दिशाओंमें भ्रमण करनेसे परिश्रान्त होकर विश्रान्तिके लिए उस बन्धन-सूत्रके आश्रय—काष्ठका ही समाश्रयण करता है, वैसे ही नाना प्रकारके कर्मोंके परतन्त्र होकर जीव जाग्रत् और स्वप्नकी अवस्थाओंमें स्वाश्रयभूत प्रभुसे वियुक्त होकर भिन्न-भिन्न विषयोंमें भटकता रहता है। और जाग्रत्, स्वप्नके हेतुभूत अविद्या, काम और कर्मोंके क्षीण होनेपर वह पुनः विश्रान्तिके लिए भगवान्‌का ही अवलम्बन करता है।

अतः सांसारिक सुखको सच्चा पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता। सच्चा पुरुषार्थ तो आत्माका वास्तविक ज्ञान है, जो कि एकरूप होनेसे सदा-सर्वदा टिकाऊ और सर्वोच्च आनन्दानुभव है। इसीलिए जो सूक्ष्मदर्शी विवेकी होते हैं, जिन्हें सांसारिक सुख-दुःखका वास्तविक ज्ञान हो जाता है—वे इसलोक तथा परलोककी सुख-सामग्रीसे विरक्त होकर, निवृत्ति मार्गका आश्रयण करते हैं। अतएव स्कन्द पुराणमें कहा है—

'सर्वो हि लोकः कुरुते प्रवृत्तिं प्रवृत्तिमार्गे खलु पातकं स्यात्।
अतः क्षणं जीवितमाकलय्य निवृत्तिरङ्गीक्रियते मुमुक्षुभिः॥'

(काशी रहस्य)

तत्त्वज्ञान और उसका उपाय

श्रुतियोंमें जीवको प्रभुका अंश बतलाया है और कहा है कि—जैसे अग्निसे विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) निकलते हैं, उसी तरह परमात्मासे जीवोंका निर्गम होता है—

'तद्यथा अग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति
एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे जीवाः सर्वे लोकाः।'
(बृ० दा० उ०)

अविद्या या अन्तःकरणरूप उपाधिसे जीव परमात्माका अंश कहा जाता है। उपाधिके शान्त हो जानेपर उसका परमात्मासे ऐक्य हो जाता है। अस्तु।

परम पुरुषार्थ मोक्ष और उसका उपाय प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे नहीं जाने जा सकते। अतः उनको जाननेके लिए एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। इस विषयमें निम्नलिखित वचन ही प्रमाण हैं। महाभारतके उद्योग पर्वमें संजयने धृतराष्ट्रसे कहा है कि—

मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे।
शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम् ॥'
(६८–५)

'अर्थात् हे राजन्, मैं मायाका सेवन नहीं करता हूँ। आपका मङ्गल हो। मैं वृथा धर्माचरण नहीं करता हूँ। मैं भक्तिसे शुद्धभावको प्राप्त होकर शास्त्रके द्वारा भगवान्‌को जानता हूँ।'

यहाँपर **'शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्।'** इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, भगवत्तत्त्व शास्त्रसे ही जाना जा सकता है। इसीलिए गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।'

विष्णु पुराणमें कहा गया है कि—दो ब्रह्म ज्ञातव्य हैं, (१) शब्द-ब्रह्म—वेद शास्त्र, और (२) परब्रह्म। शब्द-ब्रह्ममें निपुण हो जानेपर साधक विवेकजन्य उपासनारूपी ज्ञानके द्वारा परब्रह्मको प्राप्त करता है। इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि—परम पुरुषार्थ मोक्ष और उसके उपाय, इत्यादि सब शास्त्रसे ही जाने जा सकते हैं।

लौकिक या वैदिक उपायोंसे सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति होना सर्वथा असंभव है। क्योंकि जबतक शरीर रहेगा, तबतक कुछ-न-कुछ दुःख अवश्य ही लगा रहेगा। शरीरोंका अभाव होनेसे ही सब दुःखोंकी निवृत्ति हो सकती है। क्योंकि जबतक देह रहते हैं, तबतक पुण्य-पाप रहते हैं। पुण्य-पापसे ही यह शरीर रचित है। और जबतक पुण्य-पाप रेहेंगे, तबतक सुख-दुःख भी अवश्य रहेंगे। क्योंकि पुण्यका फल सुख और पापका फल दुःख होता है। अतः शरीरका अभाव मोक्ष होनेपर ही होता है।

प्राणिमात्रके शरीर पुण्य और पाप—दोनोंसे रचित है, किसी एकसे रचित नहीं हैं। पापका फल दुःख है, अतः जबतक शरीरका अस्तित्त्व रहेगा, तबतक दुःख-निवृत्ति नहीं हो सकती और शरीरका अस्तित्व तबतक बना रहता है कि, जबतक कि पुण्य-पाप रहते हैं। क्योंकि पुण्य और पापसे ही सब शरीर बनते हैं। पुण्य-पापका सर्वथा अभाव तभी हो सकता है, जब कि राग और द्वेष मिट जायँ। क्योंकि राग-द्वेषके रहनेसे पुण्य-पाप होते ही रहते हैं। राग-द्वेष अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञानसे उत्पन्न होते हैं। जिस विषयमें अनुकूल ज्ञान रहता है, अर्थात् जिस विषयको प्राणी अपने लिए लाभप्रद (फायदेकी चीज) समझता है, उसमें उसका राग होता है और जिस विषयमें प्रतिकूल ज्ञान रहता है, जिस वस्तुको वह अपने लिए हानिकारक समझता है, उसमें उसका द्वेष हो जाता है। इसलिए अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञानके सर्वथा विनष्ट हो जानेपर ही राग-द्वेषका अन्त हो सकता है।

अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान—ये दोनों ही, भेद-ज्ञानसे उत्पन्न होते हैं। क्योंकि अपनेसे भिन्न-वस्तुओंमें ही अनुकूल या प्रतिकूल-ज्ञान होता है, केवल अपने स्वरूपमें अनुकूल या प्रतिकूल ज्ञान, कुछ भी नहीं होता। सुखका साधन अनुकूल और दुःखका साधन प्रतिकूल कहलाता है। अपना स्वरूप सुख या दुःख, किसीका भी साधन नहीं है। यद्यपि वह सुखरूप है, किन्तु सुखका साधन नहीं है। अतः जबतक किसी भी वस्तुमें अपनेसे भेदज्ञान रहेगा, तबतक उसको अनुकूल ज्ञान तथा प्रतिकूल ज्ञान होते रहेंगे। वह भेद-ज्ञान अविद्यासे (अर्थात् आत्माके वास्तविक स्वरूपके अज्ञानसे) होता है। अतः जब तक अविद्या रहेगी, तब तक भेद ज्ञान भी रहेगा ही। इसलिए सम्पूर्ण अनर्थोंकी, समस्त दुःखोंकी जननी अविद्या अर्थात् अज्ञान है। वही समस्त संसारकी जड़

है। उस अविद्याका विनाश विद्या अर्थात् आत्म-ज्ञानसे ही हो सकता है, अन्य किसी भी उपायसे नहीं। इसीलिए जगद्गुरु श्रीसुरेश्वराचार्यने कहा है कि—

'दुःखराशेर्विचित्रस्य सेयं भ्रान्तिश्चिरन्तनी।
मूलं संसारबीजस्य तद्बाधस्तत्त्वदर्शनात्॥'

(नैष्कर्म्य-सिद्धि २ अ० १०३)

विष्णु-पुराणमें कहा है कि—'संसार-वृक्षकी बीजभूत यह अविद्या दो प्रकारकी है—(१) अनात्मामें आत्म-बुद्धि, और (२) जो स्वयं नहीं है, उसे स्वस्वरूप समझलेना। बस्, इसीसे यह कुमति जीव मोहरूपी अन्धकारसे आवृत होकर, इस पञ्चभूतात्मक देहमें—'मैं' और 'मेरा' ऐसी दृढ़ भावना करता है—

'अनात्मन्यात्म-बुद्धिर्या चास्वे स्वमिति या मतिः।
संसारतरुसंभूति - बीजमेतद् द्विधा स्थितम्॥
पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहतमोवृतः।
अहं-ममैतदित्युच्चैः कुरुते कुमतिर्मतिम्॥'

(वि० पु० ६ अं० ७–११, १२)

सारांश, जगत्में जितमें भी पुण्य-पाप कर्म होते हैं, उनके मूल कारण राग-द्वेषादि दोष हैं। ये दोष विश्वको ब्रह्मात्मक न समझनेसे ही उत्पन्न होते हैं और '**अयं निजः परो वा**'—ऐसा भेद-भाव बढ़नेपर ये रागद्वेष और सुदृढ़ हो जाते हैं। इस भेदभावको दूर करनेके लिए ही वेदने सम्पूर्ण विश्वको ब्रह्मात्मक बतलाया है। इसीलिए मनुने कहा है कि—'सत्, असत् (स्थूल और सूक्ष्म) जो कुछ भी पदार्थ है, वह सब अपने ही अन्दर है—इस प्रकारसे सबको अपने भीतर देखने वाला मनुष्य अधर्ममें मन नहीं लगाता अर्थात् अधर्माचरण नहीं करता'—

'सर्वमात्मनि सम्पश्येत् सदसच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाऽधर्मे कुरुते मनः॥'

(म० स्मृ० १२–११८)

इस प्रकार जीवात्मा और परमात्माके स्वरूपको यथार्थ समझकर उसका अनवरत चिन्तन करनेपर शोक, मोह, इत्यादि सभी सांसारिक दोष दूर हो जाते हैं। इसीसे वेदने कहा है कि—

'तरति शोकम् आत्मवित्।' 'तत्रको मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।' इत्यादि।

इसीलिए भगवान् मनुने ब्राह्मणके लिए आत्मज्ञानपर बड़ा ही जोर दिया है—

'यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥
एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥'

(मनु० स्मृ० १२९२,—९३)

अर्थात् ब्राह्मणको अन्य सब कर्मोंको छोड़कर भी—आत्म-ज्ञान, वेदाभ्यास और शान्ति—इन तीन विषयोंपर अधिक प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि इन्हींमें जन्मकी सफलता है। अतः इसीसे वह कृतकृत्य होता है।

इसीलिए श्रीमद्भागवतमें बार-बार इसी बातके अनुशीलन करनेका उपदेश दिया है। शुक महर्षिने कहा है कि—

'यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम्।
समदृष्टेस्तदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः॥'

(९-१९-१५)

'अर्थात् जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तुके साथ राग-द्वेषका भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है और उसके लिए फिर सभी दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं।' इसीलिए श्रुति भी कहती है—

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

इस प्रकार, पूर्वोक्त रीतिसे अविद्यासे भेदज्ञान, भेदज्ञानसे अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञान, अनुकूलज्ञान और प्रतिकूल ज्ञानसे राग-द्वेष, रागद्वेषसे कर्म अर्थात् पुण्य-पाप, पुण्य और पाप कर्मोंसे शरीर धारण-करना पड़ता है। शरीर प्राप्त होनेसे दुःख उत्पन्न होते हैं—यही अविद्याका विलास है। इसीको 'संसार' कहते हैं—**'संसरति अस्मिन्निति संसारः।'**

इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'संसार' शब्दका अर्थ जन्म-मरणका बन्धन होता है। तत्वज्ञानसे उसकी निवृत्ति होना ही मोक्ष है। मोक्षको प्राप्त करना ही इस मानव-जीवनका सर्वोच्च लाभ है। अतएव बुद्धिमान्

मनुष्यको संसारके सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त होनेके लिए सदैव प्रयत्न-शील होना चाहिए। इसीलिए महाभारतमें बुद्धिमानोंको सचेत करते हुए इसपर बड़ा जोर दिया है। भीष्म पितामहने कहा है—

'जन्ममृत्युजरारोगै - र्व्याधिभिर्मानसक्लमैः।
दृष्ट्वैव सततं लोकं घटेन्मोक्षाय बुद्धिमान्॥'

(शा० प० २१५-२)

'अर्थात् यह सारा ही जगत् जन्म, मृत्यु, जरावस्थाके दुखों, व्याधियों और मानसिक व्यथाओंसे घिरा हुआ है। अतः बुद्धिमान् पुरुषको इनसे मुक्त होनेके लिए अर्थात् मोक्षके लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए।'

इसीसे भगवान् कृष्णने कहा है कि—विवेकशील बुद्धिमान् पुरुषोंके विवेक और चतुर लोगोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि, वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें—

'एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥'

(भाग० ११-२९-२२)

श्रुति भी यही कहती है—

'अथ ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति,
अथ ये न विदुस्ते मृत्युमेवोपयन्ति।'

'अर्थात् जो लोग उस परम सत्य आत्म-तत्वको जान लेते हैं, उसे प्राप्त कर लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं। और जो उसको नहीं जानते, वे बारम्बार मृत्युको ही प्राप्त होते रहते हैं।'

इसीलिए विष्णु-पुराणमें कहा है कि—'यह जीव अनेक सहस्र जन्मोंतक सांसारिक भोगोंमें पड़े रहनेसे, उन्हींकी वासनारूपी धूलिसे आच्छादित हो जानेके कारण मोहरूपी श्रमको प्राप्त हो जाता है। और जब ज्ञानरूपी उष्ण-जलसे इसकी वह धूलि, वह वासना स्वच्छ हो जाती है, तब इस संसाररूपी पथके पथिकका वह मोहरूपी श्रम शान्त हो जाता है। मोह-श्रमके शान्त हो जानेपर मनुष्य स्वस्थचित्त होकर उस अनन्य, निरतिशय एवं निर्वाध निर्वाण-पदको प्राप्त हो जाता है'—

'अनेकजन्मसाहस्रीं संसारपदवीं व्रजन्।
मोहश्रमं प्रयातोऽसौ वासनारेणुकुण्ठितः॥

प्रक्षाल्यते यदा सोऽस्य रेणुर्ज्ञानोष्णवारिणा।
तदा संसारपान्थस्य याति मोहश्रमः शमम्॥
मोहश्रमे शमं याते स्वस्थान्तःकरणः पुमान्।
अनन्यातिशयाबाधं परं निर्वाणमृच्छति॥'

(वि० पु० ६ अंश–७–१९,२०,२१)

इसीलिए भगवान् मनुने—यज्ञ, दान, तपस्या आदि सबमेंसे आत्मज्ञानको ही श्रेष्ठ बतलाया है। क्योंकि वह सब विद्याओंमें मुख्य है। आत्मज्ञानसे मनुष्यको अमृत प्राप्त होता है—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

(म० स्मृ० १२–८५)

आत्मतत्त्वको जाननेसे ही यह मनुष्य-जन्म सार्थक होता है। अतएव मनुष्य-जन्म पाकर आत्मतत्त्वको, अर्थात् अपनेको न जानना, यह मानव-जीवनकी बड़ी भारी क्षति है, इस अमूल्य जीवनका व्यर्थ बरवाद हो जाना है। इसीसे श्रुतिने कहा है कि—

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'

(कठोपनिषद्)

महाभारतमें भी महर्षि याज्ञवल्क्यने राजर्षि जनकसे कहा है कि—'मनुष्य अज्ञानके कारण ही कर्म करते हैं और फिर उनके फलस्वरूप तत्-तत् योनियोंमें जन्म लेते और मरते रहते हैं। अतः ज्ञान-हीन मनुष्य अपने भयङ्कर अज्ञानके कारण ही नाना प्रकारकी प्राकृत योनियोंमें भटकते रहते हैं'—

'अज्ञानतः कर्मयोनिं भजन्ते तां तां राजंस्ते तथा यान्त्यभावम्।
तथा वर्णा ज्ञानहीनाः पतन्ते घोरादज्ञानात् प्राकृतं योनिजालम्॥'

(शा० प० ३१८–९१)

आत्म-विवेचन

अतः जिसप्रकार पिताकी सम्पत्ति पानेके लिए पुत्रका जन्मसिद्ध अधिकार है, उसी तरह बद्ध जीवात्माको भी भगवत्प्राप्तिके लिए स्वाभाविक अधिकार है। इसप्रकार भगवत्प्राप्तिके लिए स्वरूपयोग्यता

रखते हुए भी बद्ध जीव अनादिकालसे मायासे मोहित हो गया है। इसी कारण इसका ज्ञान अत्यन्त सङ्कुचित हो गया है। अतएव यह अपने परम पुरुषार्थको देख नहीं सकता। इसीलिए प्रकृतिरूपी मरु-कान्तारमें फँसा हुआ जीव—

'गतागतं कामकामा लभन्ते।'

—के अनुसार दौड़-दौड़कर बारम्बार अनेक योनियोंमें जन्म लेता रहता है। अतएव उस स्थानको समझना इसके लिए सर्वथा अशक्य है—जहाँ कि इसका परम पुरुषार्थ निहित है।

जिस प्रकार लगातार यात्रा करनेवालेके शरीरमें धूलि चढ़ती रहती है, उसी प्रकार संसारमें भटकते रहनेसे इस जीवके मनपर अनेक दुर्वासना, राग-द्वेष, और रजोगुण-तमोगुणरूपी मलिनता चढ़ती रहती है। इन मलिनताओंके कारण जीवात्माके ज्ञानकी विषय-प्रकाशन-शक्ति उसी प्रकार कुण्ठित हो जाती है, जैसे कि मलिनता चढ़नेपर माणिक्यकी प्रभा दब जाती है—फैल नहीं पाती है। ज्ञानके सङ्कुचित होनेके कारण इस जीवात्माको असली तत्त्व और अपने हितके विषयमें सही प्रकाश नहीं मिलता है। इसीलिए परम पुरुषार्थके मुख्य अधिकारी मानवको भी अपने लक्ष्यका पता नहीं लगता। इसीसे इसको विश्राम-स्थान नहीं मिलता है।

अतः विवेकी पुरुष अध्यात्म-शास्त्रके द्वारा जब आत्मा और अनात्माका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तो उनके मनमें यह भावना दृढ़ हो जाती है कि—"मैं यह देह, इन्द्रिय, मन आदि नहीं हूँ। मैं इनका साक्षी हूँ। इनसे मुझमें नाना प्रकारका वैलक्षण्य है। ये सब जड़ हैं, मैं चेतन हूँ। ये स्वयं प्रकाशनेवाले नहीं हैं, किन्तु मेरे ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं। मैं स्वयं प्रकाशनेवाला हूँ। ये ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता नहीं हैं। मैं ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हूँ। ये शरीरधारी नहीं हैं, मैं शरीरधारी हूँ। वे अनित्य हैं, मैं नित्य हूँ। वे सावयव हैं, मैं विरवयव हूँ। वे काटने, भिगाने, जलाने और सुखाने आदिके योग्य है, मैं काटा नहीं जा सकता हूँ, भिगाया नहीं जा सकता हूँ, जलाया और सुखाया नहीं जा सकता हूँ। ऐसे व्यापारोंका मुझपर कुछ भी प्रभाव पड़नेवाला नहीं है। ये देह, इन्द्रिय आदि सब घटने-बढ़नेवाले हैं, मैं घटने-बढ़नेवाला नहीं हूँ, किन्तु सदा एक-रूपसे रहनेवाला हूँ—ऐसा मेरा स्वरूप है।"

इस प्रकार विवेकशील पुरुष देह और इन्द्रियादिसे अपनेमें अनेक प्रकारके वैलक्षण्योंको जान लेते हैं। यह ज्ञान उनमें इतने विशदरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है कि, जिससे वे सदा इन वैलक्षण्योंको प्रत्यक्ष देखते रहते हों। साथ ही वे यह भी जान लेते हैं कि—हम दूसरे शरीरको प्राप्त करने और दूसरे लोकमें जाने योग्य हैं। इस प्रकारका निश्चय होनेसे वे पारलौकिक पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेके योग्य बन जाते हैं। क्योंकि उपर्युक्त निश्चय-सम्पन्न साधक ही पारलौकिक फलकी इच्छा कर सकते हैं। उपर्युक्त निश्चयसे प्रेरित होकर वे पारलौकिक फल देनेवाले कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसा निश्चय-सम्पन्न होनेपर वे नरक-पतन तथा जन्मान्तरोंमें होनेवाले क्लेशोंसे भयभीत होकर उनका कारण बननेवाले पाप-कर्मोंसे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। उनके जीवनमें महान् परिवर्तन हो जाता है। वे कभी पाप नहीं करते हैं, सदा पुण्य ही करते हैं। ये सब विशेषताएँ देह और इन्द्रिय इत्यादिसे विलक्षण अपने आत्म-स्वरूपको समझनेका फल है। अतः ये सभी विशेषताएँ उनमें विकसित हो जाती हैं।

अतः विवेकी मनुष्यको हर प्रकार, सब ओरसे ज्ञानको प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करना चाहिए। सभी मनुष्य अपने-अपने वर्ण और आश्रममें रहते हुए अपने-अपने कर्तव्यके द्वारा ज्ञानको प्राप्त कर सकते हैं। अतः जो मनुष्य ज्ञानमें निष्ठ है, उसके लिए नित्य मोक्षकी प्राप्ति बतायी गयी है—

'तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।
तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो यस्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र ॥'

(म० भा—शा० ९२)

मुक्ति दो प्रकारकी

मुक्ति दो प्रकारकी है—(१) सद्योमुक्ति, और (२) क्रममुक्ति। वर्तमान देहके छूटते ही प्राप्त हो जानेवाली मुक्तिको [1]'सद्यो-मुक्ति' कहते हैं। और अर्चिरादि मार्गके द्वारा क्रमशः तत्-तत् लोकोंमें होते हुए ब्रह्म-लोकमें पहुँचकर, चिरकालतक वहाँके दिव्य भोगोका अनुभव करके, अन्तमें—सब भोगोंके अवसान होनेपर, पूर्णज्ञान उत्पन्न होकर ब्रह्मलोकके अन्त होनेपर, ब्रह्मदेवके साथ-साथ जो मुक्ति प्राप्त होती है, उसका नाम है—क्रममुक्ति—

१—इसीको 'विदेह-मुक्ति' भी कहते हैं।

'आत्यन्तिक-पुरुषार्थसिद्धिश्च द्विविधा—सद्योमुक्तिः, क्रममुक्तिश्चेति। वर्तमानदेहपातानन्तरमेव, सिद्ध्यति सद्योमुक्तिः। उत्तरमार्गेण गत्वा ब्रह्मलोके चिरं भोगाननुभूय तत्रोत्पन्नज्ञानस्य ब्रह्मलोकावसाने सिद्ध्यति क्रममुक्तिः।'

(ऋग्वेदभाष्य-भूमिकामें-सायणाचार्य)

इनके अतिरिक्त—सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य आदि और भी मुक्तिके अनेक भेद भक्ति-शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। अस्तु।

उक्त मोक्षरूप परम तत्त्वके अन्वेषणके लिए ही न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (अर्थात् वेदान्त)—इन छः प्रकारके आस्तिक-दर्शन तथा बौद्ध आदि छः प्रकारके नास्तिक दर्शनोंका निर्माण हुआ है। लोगोंकी विभिन्न-विभिन्न रुचिके अनुसार ही न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा—ये पाँच आस्तिक-दर्शन भी कई अंशोंमें सर्वमान्य होते हुए भी—मोक्षरूप आत्मतत्त्वका स्पष्टीकरण करनेमें परस्पर भिन्न-मतावलम्बी हो जानेसे, वेदान्त-दर्शनके समान सर्वथा सर्वमान्य नहीं हो सकते। यद्यपि वे सब भी श्रुतिके ही आधारपर रचे गये हैं, तथापि श्रुतिका लक्ष्य जो एकमात्र आत्मतत्त्व है, उसके विवेचनमें खींचातानी करके श्रुतियोंके तात्पर्यसे कुछ बाहर हो गये हैं। और वेदान्तदर्शन श्रुतियोंके सर्वथा अनुकूल चलनेवाला है, इसीलिए वह समस्त दर्शनोंमें सर्वोच्च दर्शन माना जाता है। अतः यही मोक्ष-पथका मुख्य प्रदर्शक है।

वेदान्त-दर्शनके अनुसार आत्म-तत्त्वका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करते-करते जब आत्म-साक्षात्कार हो जाता है, तब मनुष्यके लिए संसारमें फिर किसी प्रकारका, कोई भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। जो कुछ भी मानव-जीवनका प्राप्य है, वह सब प्राप्त हो जाता है। अर्थात् मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। केवल वर्तमान शरीरतक ही उसके प्रारब्धका भोग रहता है। प्रारब्धानुसार वर्तमान शरीरके विनष्ट होते ही वह मुक्त (अर्थात् विदेह-मुक्तिरूप कैवल्यको प्राप्त) हो जाता है—

'विमुक्तश्च विमुच्यते।'

भगवान् कृष्णने यही सब निष्कर्ष श्रीमद्भागवतमें निम्नाङ्कित श्लोकोंमें कह दिया है—

'देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः संसार आधावति कालतन्त्रः॥

अमूलमेतद् बहुरूपरूपितं मनोवचःप्राणशरीरकर्म।
ज्ञानासिनोपासितया शितेन छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः॥'
(११–२८–१६,१७)

अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, और मनमें स्थित आत्मा ही जब उनमें अभिमान कर लेता है, अर्थात् उन्हें अपना स्वरूप मान लेता है, तब उसका नाम 'जीव' हो जाता है। उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवरूप आत्माकी मूर्ति है—गुण और कर्मोंसे निर्मित लिङ्गशरीर। उसको ही कहीं सूत्रात्मा कहा गया है, कहीं महत्तत्त्व। इसके अतिरिक्त उसके और भी अनेक नाम हैं। वही कालरूप परमेश्वरके अधीन होकर इस जन्ममृत्युरूप संसारमें इधर-उधर भटकता रहता है। मन, वाणी, प्राण और शरीर—ये सब अहङ्कारके कार्य हैं। यह अहङ्कार वास्तवमें निर्मूल है, परन्तु अज्ञानसे देवता, मनुष्य आदि अनेक रूपोंमें इसकी प्रतीति होती है। अतः जो मननशील पुरुष उपासनासे तीक्ष्ण किये हुए ज्ञानरूप खड्गसे इस अहङ्कारको, देहाभिमानको, काट डालता है, वह तृष्णा-रहित होकर, निर्भय होके पृथिवीमें विचरण करता है। अस्तु।

हृदयमें आत्मस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार होते ही हृदयकी ग्रन्थि टूट जाति है। सारे ही सन्देह मिट जाते हैं और सम्पूर्ण कर्मबन्धन क्षीण हो जाते हैं—

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥'
(श्रीमद्भाग० १–२–)

अध्यात्म-विद्या

संसार अत्यन्त दुःखमय है। दुःखोंका मूलोच्छेदन उनके मूल-निदान—अविद्याका उच्छेद हुए बिना नहीं हो सकता। अतएव अविद्याका विनाश ही एकमात्र पुरुषार्थ है। और परस्पर विरुद्ध होनेके कारण, अविद्याका विनाश विद्यासे ही हो सकता है। जिस विषयको अविद्या रहती है, उस विषयकी विद्या (ज्ञान) उत्पन्न हो जानेसे वह (अविद्या) नष्ट हो जाती है—यह बात अनुभव सिद्ध है। अतएव मुक्तिप्राप्तिका मुख्य साधन अध्यात्म-विद्या (आत्म-ज्ञान) है। आत्म-ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता। इसीलिए श्रुति कहती है कि—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

इसीलिए ज्ञानका (आत्मज्ञानका) ही सबसे अधिक महत्व बतलाया गया है—

'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'

इसीसे महाभारतमें कहा है कि—'जो मनुष्य बुद्धिसे जीवोंके आवागमनपर इस प्रकार शनैःशनैः विचार करके उस विशुद्ध, एवं उत्तम आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त कर लेता है, वह परम शान्तिको प्राप्त होता है'—

'एतां बुद्धा नरः सर्वां भूतानामागतिं गतिम्।
अवेक्ष्य च शनैर्बुद्ध्या लभते शमनं ततः॥'

(शा० पर्व १९४–५६)

अतः ज्ञानकी, आत्म-ज्ञानकी, प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। ज्ञानसे ही मनुष्यके दुःखोंका विनाश और मुक्ति-लाभ होता है। इसीलिए महाभारतमें पितामह भीष्मने भी कहा है कि—

'जैसे मैले-कुचैले शरीरवाले मनुष्य स्वच्छ, निर्मल जलसे भरी हुई नदीमें नहा-धोकरके साफ-सुथरे हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ज्ञानमयी नदीमें अवगाहन करके, मलिन चित्तवाले मनुष्य भी अत्यन्त शुद्ध एवं ज्ञानसम्पन्न हो जाते हैं'—

'मलिनाः प्राप्नुयुः शुद्धिं यथा पूर्णां नदीं नराः।
अवगाह्य, सुविद्वांस्तो विद्धि ज्ञानमिदं तथा॥'

(शा० पव १९४–५३)

निष्काम कर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि

ज्ञान, अर्थात् आत्माका ज्ञान अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना—समस्त पाप-कर्मोंके क्षय हुए विना, नहीं हो सकता। क्योंकि प्राणियोंका अन्तःकरण अनन्तानन्त वासनाओंसे लिप्त रहता है। अन्तःकरणकी स्वच्छता ईश्वरार्पण बुद्धिसे निज-निज धर्मका, अर्थात् वर्णाश्रमके अनुसार अपने-अपने कर्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे ही होती है। इसीलिए कहा है कि—

'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।
कषाये कर्मभिः पक्के ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥'

अतः मोक्ष प्राप्तिका मुख्य साधन धर्म है। वह भी सकाम भावसे अनुष्ठान किया हुआ नहीं—अपि तु निष्काम-भावनासे आचरित धर्म।

क्योंकि सकाम-भावसे अनुष्ठित धर्म मनुष्यको तीसरे पुरुषार्थतक (अर्थात् काम तक) ही पहुँचा सकता है, वह मनुष्यको चतुर्थ पुरुषार्थ—मोक्षतक नहीं पहुँचा सकता। अर्थात् सकाम-भावकी गति तीसरे ही पुरुषार्थ तक होती है, अतः वह तीसरे पुरुषार्थतक पहुँच कर, वहीं अवरुद्ध हो जाता है—चतुर्थ पुरुषार्थ, मोक्षतक वह नहीं पहुँच सकता। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें शुक महर्षिने इस बातको स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने कहा है कि—

'धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथाऽनन्त्यमसङ्गिनाम्॥'
(४-१४-१५)

'अर्थात् मनुष्य जब मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे स्वधर्मका आचरण करता है, तो उसका वह धर्म उसे स्वर्ग आदि शोक-रहित दिव्य लोकोंमें पहुँचा देता है। और यदि वह धर्म-निष्काम भावसे अनुष्ठित किया जाय, तब तो फिर वह मनुष्यको अनन्त मोक्ष पदपर पहुँचा देता है।'

इसका विस्तृत विवेचन पहिले—प्रथम-पुरुषार्थमें, धर्मके विवेचनके प्रसङ्गमें जगह-जगहपर किया जा चुका है। अस्तु।

इस विषयका बड़ा विशद विवेचन महाभारतके शान्तिपर्वमें भी अच्छी तरहसे किया गया है। भीष्म पितामहने कहा है कि—'जो मनुष्य निष्काम भावसे कर्म करता है, उसका वह कर्म पहलेके किये हुए समस्त कर्मोंके संस्कारोंको नष्ट कर देता है। अतः पूर्वजन्म और इस जन्मके किये हुए—वे दोनों प्रकारके कर्म उस पुरुषके लिए न तो अप्रिय फलको उत्पन्न करते हैं, और न प्रिय फलके ही जनक होते हैं। क्योंकि फलकी आसक्ति और कर्तृत्वके अभिमानसे शून्य होनेके कारण उसका उन कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रह जाता'—

'य करोत्यनभिसन्धिपूर्वकं तच्च निर्णुदति यत्पुराकृतम्।
नाप्रियं तदुभयं कुतः प्रियं तस्य तज्जनयतीह सर्वतः॥'
(शा० प० १९४।६९)

अत एव इसी महोच्च फलकी भावनासे भगवान् कृष्णने 'गीता'में निष्काम कर्मकी ओर बारम्बार सङ्केत किया है। परन्तु निष्काम होनेके लिए, अन्तःकरणकी शुद्धतामें त्यागकी बहुत बड़ी अपेक्षा है। इसीसे श्रुतिने कहा है—

'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।'

'अर्थात् मुक्तिपद न तो कर्मसे प्राप्त हो सकता है; न सन्तान होनेसे ही प्राप्त हो सकता है, और न वह धनसे ही प्राप्त हो सकता है। वह तो केवल एकमात्र त्याग, विषय-वासनाओंके परित्यागसे ही प्राप्त हो सकता है।' अस्तु।

विषय-वासनाओंका परित्याग, विषयोंसे विराग हुए बिना नहीं हो सकता और उनके परित्याग हुए बिना मोक्ष असंभव है। गृहासक्त पुरुषोंके लिए तो क्या, बड़े-बड़े त्यागौ और विवेकियोंके लिए भी बिषयासक्तिको हटा लेना बड़ी टेढ़ी खीर है। यह अत्यन्त ही कठिन है। क्योंकि वह अनेक जन्मोंसे प्राणियोंके हृदयमें अपनी जड़ जमायी रक्खी है। इसीलिए योग-वासिष्ठमें महर्षि वसिष्ठमुनिने कहा है कि—

'अनेकजन्मसंसिद्धा राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥'

फिर सम्पूर्ण विषया-सक्तियोंकी जननी जो अविद्या है, वह तो चित्तमें अत्यन्त सूक्ष्म जड़ जमा करके अन्ततक बैठी ही रहती है। अतः बारम्बार चित्तको स्वच्छ, अर्थात् विषयासक्तिसे रहित कर लेनेपर भी, यदि कहीं अविद्या और वासनाको थोड़ासा भी प्रसङ्ग मिल जाय तो वह मनुष्यको पुनः सुख-दुःखके गहन जङ्गलोंमें पटक देती है। 'योग-वासिष्ठ'में बतलाया है कि विवेकी मनुष्यको अविद्यासे बहुत ही सावधान रहना चाहिए—

'यावद् विचारदहनेन समूलदाहं
दग्धा न जर्जरलतेव बलादविद्या।
शाखाप्रतानगहनानि बहूनि ताव-
न्नानाविधानि सुख-दुःखवनानि सूते ॥'

मोक्षका अधिकारी

इसीलिए अन्तःकरणमेंसे त्रिगुणात्मक कर्मोंकी जड़—वासनाओंको उखाड़ फेंककर मोक्षको प्राप्त कर लेना कोई साधारण काम नहीं, अत्यन्त ही कठिन है। उसके लिए सम्पूर्ण एषणाओंका पूर्ण त्याग अपेक्षित है। जो लोग ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण—इन तीनोंसे मुक्त हो जायँ, और जिनकी पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणाएँ शान्त हो जाँय तथा ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम धर्मका अनुष्ठान करनेसे जिनका अन्तःकरण

विशुद्ध हो जाय—ऐसे लोकोत्तर पुण्यशाली महाभाग लोग ही मुख्यतया मोक्षके अधिकारी होते हैं। इसीसे मनुने स्पष्ट कह दिया है कि—

'पहले विधिवत् अच्छी तरहसे सब वेद-शास्त्रोंका अध्ययन करके, धर्म-पूर्वक पुत्र उत्पन्न करके फिर विधिके अनुसार यज्ञ, यागादिका अनुष्ठान करके तब फिर मनुष्यको मोक्षकी ओर मनको लगाना चाहिए—

'अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥'

(म० स्मृ० ६–३६)

इसके विपरीत जिनकी तीनों एषणाएँ शान्त नहीं हुई हैं। और जिनका अन्तःकरण स्वच्छ नहीं हुआ है, ऐसे भोगासक्त पुरुष मोक्षके अधिकारी ही नहीं हो सकते। अतः ऐसे लोग अनेकानेक मोक्षोपायोंका अनुष्ठान करनेपर भी सिद्धिको नहीं प्राप्त कर सकते। अतः मोक्षके विषयमें भगवान् मनुका यह स्पष्ट आदेश है कि—

'तीनों ऋणोंको पार करके, तब मनको मोक्षकी ओर लगाना चाहिए। इन ऋणोंका संशोधन किये विना जो मनको मोक्षमें लगाता है, वह पथभ्रष्ट हो, जाता है—

'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥'

(म० स्मृ० ६–३५)

अतएव जो मनुष्य लोकाराधनमें लगे रहते हैं—दिन-रात लोगोंके चित्तका अनुरञ्जन करनेमें ही तत्पर रहते हैं, जो केवल एक भोजनाच्छादनकी ही चिन्तामें निमग्न रहते हैं, और जो केवल अनात्म-बोधक शास्त्रोंका ही पठन-पाठन किया करते हैं, अर्थात् अध्यात्म-शास्त्रोंका अभ्यास नहीं करते। और जिन्हें अत्यन्त रमणीय गृहोंमें ही (केवल विषयोंमें ही) प्रेम रहता है, ऐसे लोगोंको मोक्ष कथमपि नहीं प्राप्त हो सकता। महर्षि आपस्तम्बने कहा है—

'न लोकचित्त-ग्रहणे रतस्य न भोजनाच्छादनतत्परस्य।
न शब्द-शास्त्राभिरतस्य मोक्षो न चातिरम्यावसथप्रियस्य॥'

(आ० स्मृ०।)

इसके विपरीत जो एकान्त-सेवी है, अपने व्रतका, नियमोंका पक्का है, विषयोंसे विरक्त और अच्छी तरहसे अध्यात्म-निष्ठ है, जो मन, वचन,

कर्मसे कभी भी किसीका अनिष्ट नहीं चाहता अर्थात् दूसरेका बुरा नहीं चाहता है, वही मोक्षका अधिकारी है—उसीको मोक्ष प्राप्त होता है—

'एकान्तशीलस्य दृढव्रतस्य मोक्षो भवेत्प्रीति-निवर्तकस्य।
अध्यात्मयोगैकरतस्य सम्यक् मोक्षो भवेन्नित्य-महिंसकस्य॥'

(आपस्तम्ब स्मृति)

महाभारतमें कहा है कि—

'त्रिवर्गो यस्य विदितः प्रेक्ष्य यश्च विमुञ्चति।
अन्विष्य मनसा युक्तस्तत्त्वदर्शी निरुत्सुकः॥'

(शा० प० १९४–५७)

अर्थात् जिसको त्रिवर्गका, धर्म, अर्थ और कामका, ठीक-ठीक ज्ञान है, जो खूब सोच-समझकर उनका परित्याग कर चुका है और जिसने मनके द्वारा आत्मतत्त्वका अनुसन्धान करके योगयुक्त होकर, आत्मासे भिन्न वस्तुओंके लिए उत्सुकता त्याग दी है—वही तत्त्वदर्शी है।

आत्मा और अनात्माका विवेक

यह भी निश्चित है कि समस्त वासनाओंका निर्मूलन किये विना हृदयकी ग्रन्थि नहीं खुलती। हृदयके स्वच्छ हुए विना मोक्ष-प्राप्ति अतीव कठिन है। हृदयसे वासनाओंके जालका निर्मूलन करनेके लिए ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ एवं अव्यभिचरित (अचूक) उपाय है। परन्तु आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेना कोई हँसी मजाक नहीं है। ज्ञानका मार्ग कृपाणकी धार है—**'ज्ञानको पन्थ कृपाणकी धारा।'**

इसीलिए श्रुतियोंने इस मार्गको दुर्गम बतलाया है—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।'

इसीसे महाभारतमें कहा है कि,

'न चतुर्विंशको ग्राह्यो मनुजैर्ज्ञानदर्शिभिः।
मत्स्यश्चोदकमन्वेति प्रवर्तेत प्रवर्तनाम्॥'

(शा० पर्व ३१८–७४)

अर्थात् तत्वज्ञानी पुरुषोंको चाहिए कि, वे प्रकृतिको आत्मभावसे ग्रहण न करें, अर्थात् अपनेको प्रकृतिसे पृथक् समझें। जैसे कि मत्स्य

जलमें रहता है, परन्तु अपनेको जलसे पृथक् ही समझता है। उसी प्रकार मनुष्य अपनी प्रकृतिके अनुसार स्वयं भी प्रवृत्त होवे, परन्तु प्रकृतिको अपना स्वरूप न समझे।

जैसे मछली जलमें रहती हुई भी, उस जलको अपनेसे पृथक् समझती है, वैसे ही यह जीवात्मा प्राकृत शरीरमें रहकर भी अपनेको प्रकृतिसे पृथक् समझता है। तथापि यह शरीरके साथ प्रेम, सहवास और अभिमान करनेके कारण जब परमात्माके साथ अपनी एकताका अनुभव नहीं करता है, तब काल-समुद्रमें डूब जाता है। परन्तु जब वह समत्त्व बुद्धिसे युक्त होकर अपनी और परमात्माकी एकताको समझ लेता है, तब उस काल-समुद्रसे उसका उद्धार हो जाता है—

'यथैव बुध्यते मत्स्य - स्तथैषोऽप्यनुबुद्धयते।
सस्नेहात् सहवासाच्च साभिमानाच्च नित्यशः॥
स निमज्जति कालस्य यदैकत्वं न बुध्यते।
उन्मज्जति हि कालस्य समत्वेनाभिसंवृतः॥'
(शा० पा० ३१८-७५, ७६)

अतः, जब विवेकी पुरुष इस बातको समझ लेता है कि—'मैं अन्य हूँ और यह प्राकृत शरीर मुझसे भिन्न है।' तब वह प्रकृतिके संसर्गसे रहित होकर छब्बीसवें तत्त्व—परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है। और जब यह जीवात्मा प्रकृतिके संसर्गसे रहित होकर परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह सर्वज्ञ विद्वान् होकर फिर इस संसारमें पुनर्जन्म नहीं पाता है—

'यदा तु मन्यतेऽन्योऽहमन्य एष इति द्विजः।
तदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति॥
यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति।
तदा स सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दति॥'
(शा० प० ७७, ८०)

अतएव बुद्धिके द्वारा कल्पित हुआ जो भेद है, वही हृदयकी सुदृढ़ ग्रन्थि है। उसे खोलकर संशय-रहित होकर ज्ञानवान् पुरुषको सुखसे रहना चाहिए और कदापि शोक नहीं करना चाहिए। भीष्म पितामहने कहा है—

'इतीमं हृदयग्रन्थिं बुद्धिभेदमयं दृढम्।
विमुच्य सुखमासीत न शोचेच्छिन्नसंशयः॥'
(शा० प० १९४–५२)

आत्मज्ञानका मार्ग सर्वसाधारण नहीं

परन्तु आत्मज्ञानका मार्ग सर्वसाधारण नहीं है—प्रत्येक मनुष्यके लिए वह उपयुक्त नहीं है। ज्ञानमार्गके अधिकारी कोई-कोई बिरले ही हो सकते हैं। यह बात प्रत्येक व्यक्तिके वशकी नहीं है। इसी कारण भगवान् कृष्णने इस मार्गको बड़ा कठिन और क्लेशप्रद बतलाता है—

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त - चेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥'
(गीता–१२–)

अतः सर्वसाधारणके लिए, केवल ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त कर लेना असम्भव है। क्योंकि इसमें पग-पगपर पथ-भ्रष्ट हो जानेक, डिग जानेकी सम्भावना अधिक रहती है। बड़े-बड़े ज्ञानी लोग भी अपने ज्ञानके गुमानमें लक्ष्यभ्रष्ट होकर कहाँसे कहाँ चले जाते हैं। मनका स्वभाव अत्यन्त ही चञ्चल और अस्थिर है। वह पापकर्मोंकी वासनाओंसे वासित होकर सदैव कलुषित रहता है, साथ ही वह विषयोंसे व्याकुल होकर हर्ष, शोक, भय तथा लोक, परलोक, पत्नी-पुत्र, धन आदिकी चिन्ताओंसे ग्रस्त हुआ रहता है। तब ऐसे कुटिल और कामी मनसे निरन्तर उच्चकोटिका चिन्तन और मनन कैसे हो सकता है? भक्तप्रवर श्री प्रह्लादने अपने प्रभु भगवान् नृसिंहसे इसीलिए कहा है कि—

'नैतन्मनस्तव कथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम्।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्त्तं
तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः॥'
(भागवत ७–९–३९)

इसीका बिशद विवेचन करते हुए अवधूत दत्तात्रेयने भी महाराज यदुसे कहा है कि—

'जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही इस जीवको कभी भो न अघानेवाली जिह्वा अपनी ओर

(अर्थात् स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर) खींचती है। प्यास दूसरी ओर (अर्थात् जलकी ओर) खीचती है। जननेन्द्रिय सुन्दरी स्त्रीकी ओर तो त्वचा, पेट और कान—ये भी सब अपनी-अपनो ओर (अर्थात् कोमल स्पर्शन, भोजन और मधुर शब्दकी ओर) खींचने लगते हैं। नाक सुन्दर सुगन्धको सूँघनेके लिए ले जाती है तो चञ्चल नेत्र सुन्दर रूप देखनेके लिए घसीटते हैं। इस प्रकार ये कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ—दोनों ही, इसे अपने-अपने विषयोंकी ओर घँसीट-घँसीटकर नोच डालती हैं।

'जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥'
(भाग० ११-२-२७)

इसीलिए भगवान् ब्रह्मदेवने भो कहा है—

'यावत्पृथक्त्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ-
मायाबलं भगवतो जन ईश पश्येत्।
तावन्न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत
व्यर्थापि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था॥'
(भाग० ३-९-९)

'अर्थात् मनुष्य जबतक इन्द्रिय और विषयरूपी मायाके प्रभावसे अपनेको परमात्मासे भिन्न समझता है, तबतक उसके लिए इस संसारचक्रकी निवृत्त नहीं होती। यद्यपि यह मिथ्या है, तथापि कर्मफलके भोगका क्षेत्र होनेके कारण उसको नाना प्रकारके दुःखोंमें डालता रहता है।'

भक्ति

अतः तत्वकी (मोक्षकी) प्राप्तिके लिए सबसे सरल, सुगम और सभीके लिए उपयोगी, अर्थात् ज्ञानीसे लेकर पामरों तक—सबके लिए सरल, सुगम और उपयोगी एक और उत्तम मार्ग है, वह है—भक्ति अर्थात् भगवद्भक्ति।

चूँकि मनुष्यके जीवनका फल तत्वकी जिज्ञासा अर्थात् उच्च-कोटिके तत्वको जाननेकी अभिरुचि है। तत्वका अर्थ है—सत्य वस्तु। वह

केवल एक ही है। तत्ववेत्ता लोग ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड, अद्वय, सत्-चित् और आनन्द-स्वरूप ज्ञानको ही तत्व कहते हैं। उसीको कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई परमात्मा कहते हैं और कोई भगवान् कहते हैं—

'वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥'

(श्रीमद्भाग० १-२-११)

तत्वका ज्ञान भक्तिसे अनायास हो जाता है। इसीलिए व्यास महर्षिने कहा है कि—'तत्वमें, अर्थात् भगवान्में श्रद्धा रखने वाले मुनि-जन ज्ञान और वैराग्यसे युक्त भक्तिके द्वारा, अपने हृदयमें उस परमतत्वरूप परमात्माका अनुभव करते हैं'—

'तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतिगृहीतया ॥'

(भा० १-२-१२)

अतः भगवद्भक्ति सबसे उत्तम उपाय है। भक्तिमार्गमें न तो किसीके लिए कोई अधिकारका प्रश्न है और न इसमें पतन होनेका ही भय रहता है। इसीलिए इसके विषयमें भगवान् कपिल महर्षिने माता देवहूतिसे कहा है कि—

'न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
'सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये।'

(भाग० ३-२५-१९)

अर्थात् योगियोंके लिए ब्रह्मप्राप्तिकी सिद्धिके लिए सर्वात्मा भगवान्में की हुई भक्तिके समान, और कोई मङ्गलमय मार्ग नही है।

इसीलिए बड़े-बड़े ज्ञानीसे लेकर सर्व-साधारण तक—सबके लिए भक्तियोगका उपदेश करने हुए भक्तप्रवर प्रह्लादने अपने समस्त सहपाठियोंसे कहा है कि—'देवता, दैत्य, मनुष्य, यक्ष अथवा गन्धर्व आदि, कोई भी क्यों न हो, जो भगवान्के चरण-कमलोंका सेवन करता है, वह हमारे ही समान, कल्याणका भाजन हो जाता है'—

'देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्वं एव वा।
भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम् ॥'

(भाग० ७ ७।५०)

भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए ब्राह्मण, देवता, या ऋषि-महर्षि होना, सदाचार और बहुत ज्ञान-सम्पन्न होना, तथा दान, तप, यज्ञ, शौच और अनेकानेक व्रत भी पर्याप्त नहीं हैं। भगवान् तो केवल एक निष्काम भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं, और तो सब विडम्बनामात्र है—

'नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वाऽसुरात्मजाः।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्॥'

(भाग० ७-७-५१, ५२)

इसलिए इस मार्गका अवलम्बन, किसी भी प्रकार कर लेनेपर जीवका कल्याण अनायास होता है और इसमें आँख मूँदकर चलनेपर भी, किसी भी तरहसे पतन होनेका भय नहीं रहता है। महर्षि नारदने भगवान् बादरायणसे कहा है—

'न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्।
स्मरन् मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः॥'

(भाग० १-५-१९)

'अर्थात् जो मनुष्य भगवान्के चरणारविन्दका अनन्य सेवक है, वह भजन न करनेवाले कर्मठ मनुष्योंके समान, दैवात् कभी बुराभाव हो जानेपर भी, जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं भटकता। क्योंकि, वह भगवान्के चरणकमलोंके आलिङ्गनका स्मरण करता हुआ फिर उसे छोड़ना ही नहीं चाहता। उसको उस रसका चसका लग जाता है।'

इसी कारण भक्तवर प्रह्लादने, मनुष्यमात्रके लिए, अपने दानव-बन्धुओंको यही उपदेश दिया है कि—

'ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥'

(भागवत-७-७-५३)

'अर्थात् मेरे बन्धुओं, सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने ही समान समझकर सर्वत्र विद्यमान, सर्वात्मा और सर्वशक्तिमान् भगवान्में भक्ति अर्थात् अनुराग करो।'

'मेरे मित्रो, इस अत्यन्त अशुभ संसारके दलदलमें फँसकर अशुभमय

हो जानेवाले जीवके लिए भगवान्‌की प्राप्ति उसके संसार चक्रको मिटा देती है। इसी तत्त्वको कोई विद्वान् ब्रह्म और कोई-कोई निर्वाण सुखके रूपमें पहचानते हैं। इसलिए आप लोग अपने-अपने हृदयमें, हृदयेश्वर भगवान्‌का भजन करो'—

'अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम्।
तद् ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्॥'
(श्रीमद्भाग० ७-७-३५)

इसीलिए महर्षि शुक मुनिने कहा है कि—'देहाभिमानी जीव इस संसार-चक्रमें अनादि कालसे भटक रहे हैं। उनके लिए भगवान्‌की लीला, भगवान्‌के गुण और नामके कीर्तनसे बढ़कर और कोई परमलाभ नहीं है। क्योंकि इससे उनका संसारमें भटकना मिट जाता है और परम शान्तिका अनुभव होता है'—

'न ह्यतः परमो लाभो भ्राम्यतामिह देहिनाम्।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः॥'
(श्रीमद्भाग० ११-५-३७)

अतः भगवान्‌में भक्ति, अर्थात् ईश्वरमें अनुराग प्राप्त करना ही मोक्ष-सुखार्थीके लिए मुख्य अपेक्षित है। यही सबके लिए निर्भय राजमार्ग है। प्रातः स्मरणीय नारद, शुक और सनकादि ऋषि-महर्षियों एवं भगवान् श्रीशङ्कराचार्य-जैसे ज्ञानके अवतार महापुरुषों तकने भी इसी मार्गका अवलम्बन किया है। इसीको प्राप्त करनेके लिए यज्ञ, दान, तपस्या, दम, यम-नियम आदि अनेकानेक साधन और सम्प्रदाय बने हैं। उनमें सबसे सरल निर्बाध और निरापद उपाय है—'ईश्वरार्पण बुद्धिसे स्वधर्मका आचरण।' इससे अनायास ही हृदय स्वच्छ होकर भगवान्‌में अनुराग उत्पन्न हो जाता है। हृदयके स्वच्छ होनेपर ही विषयोंसे विरक्ति और भगवान्‌में अनुरक्ति होती है। विषयोंसे विरक्त होकर भगवान्‌में दृढ़ अनुराग हो जाना ही मुक्तिका द्वार है और यही मनुष्योंके परम श्रेयका सुनिश्चित साधन है। महर्षि सनत्कुमारजीने महाराज पृथुसे कहा है—

'अस्त्येव राजन् भवतो मधुद्विपः पादारविन्दस्य गुणानुवादने।
रतिर्दुरापा विधुनोति नैष्ठिकी कामं कषायं मलमन्तरात्मनः॥'
(भाग० ४-२२-२०)

अर्थात् भगवच्चरणोंके गुणानुवादमें अनुरक्ति बड़ी दुष्प्राप्य है। यदि किसी भी तरहसे वह प्राप्त हो जाती है, तो वह मनुष्यके हृदयके वासना-रूप मलको सर्वथा ही नष्ट कर देती है।

अतएव जीवोंके परम कल्याणके मार्गका ठीक-ठीक विचार करनेवाले उच्चकोटिके शास्त्रोंका, इस विषयमें यही एक अटल सिद्धान्त है कि, आत्मासे अतिरिक्त देहादि वस्तुओंमें विरक्ति और अपने आत्मस्वरूप निर्गुण ब्रह्ममें दृढ़ अनुरक्ति होनेसे ही मनुष्योंका परम कल्याण होता है—

'शास्त्रेष्वियानेव सुनिश्चितो नृणां क्षेमस्य सध्र्यग्विमृशेषु हेतुः।
असङ्ग आत्मव्यतिरिक्त आत्मनि दृढा रतिर्ब्रह्मणि निर्गुणे च या॥'

(भाग० ४।२२।२१)

परन्तु जबतक ज्ञेय-तत्त्वका ठीक-ठीक ज्ञान न हो जाय, तबतक मनुष्यको विषयोंसे विरक्ति नहीं हो सकती। जैसे कि मरुभूमिमें लता नहीं उग सकती है। योगवासिष्ठमें कहा है—

ज्ञेयं यावन्न विज्ञातं तावत्‌तावन्न जायते।
विषयेष्वरतिर्जन्तोर्मरुभूमौ लता यथा॥'

(यो० वा० २-२-९)

कर्मोंकी गाँठ बड़ी कड़ी है। विचारवान्, विवेकी पुरुष भगवान्‌के चिन्तनरूपी खड्गसे उस गाँठको काट डालते हैं। तब फिर भला कौन ऐसा पुरुष होगा, जो कि भगवान्‌की लीला-कथाओंमें अनुराग न करेगा ?

'यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थि-निबन्धनम्।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात् कथारतिम्॥'

(भागवत १-२-१५)

भक्तिका महत्त्व

परन्तु आजकल भगवद्भक्तिके विषयमें भी लोग बहुत भ्रान्त हो रहे हैं। कुछ लोग भक्तिका अर्थ परतन्त्रता समझकर प्रायः भक्तिसे विमुख हो रहे हैं। किन्तु मानव-जीवनमें भक्तिका बहुत बड़ा उपयोग है। माता-पिता, गुरुजन, और ईश्वर आदि जो पूज्य हैं, उनमें मनके सहज तथा निःस्वार्थ अनुरागको ही भक्ति कहते हैं। यद्यपि इनमें निःस्वार्थ भक्ति होनी चाहिए, तथापि उस भक्तिसे स्वार्थ-सिद्धि भी अवश्य होती है। आज भी

जो देश ईश्वर तथा धर्मको नहीं मानते हैं, उनमें भी देश-भक्ति और राष्ट्रभक्ति तो अत्यन्त ही आवश्यक समझी जाती है।

देशभक्ति तथा नेतृ-भक्तिके विना किसी राष्ट्रका उत्थान संभव नहीं है। माता-पिताकी भक्तिसे धर्म-व्याधको, पतिकी भक्तिसे पतिव्रताको दिव्यज्ञान प्राप्त हुआ—ये उपाख्यान महाभारतमें हैं। गुरुभक्तिसे एकलव्यको धनुर्वेद प्राप्त हुआ, यह भी उपाख्यान महाभारतका प्रसिद्ध है। पितृभक्तिके वशंवद पितामह भीष्मने स्त्री, राज्य, तथा समस्त काम्य-भोगोंका परित्याग कर दिया। आज भी माता-पिताकी आशीष या अभिशाप, लोगोंके ऊपर अमोध फलित होता हुआ दिखायी पड़ता है।

अतः भक्ति-प्रयुक्त परतन्त्रता क्लेश-प्रद नहीं है। अपितु स्वेच्छासे परिगृहीत होनेके कारण वह बहुत ही आनन्ददायिनी है। उससे दुःखमें भी सुखकी अनुभूति होती है। इसीलिए वैष्णवाचार्योंने भक्तिको 'रस'का स्थान दिया है। लोकमें भी अनुशासकमें भक्ति हुए बिना कोई भी व्यवहार सुचारु रूपसे नहीं चल सकता है। जिस व्यवहारमें स्वामिभक्तिका पुरस्कार नहीं है, वह व्यवहार छल, छिद्र, कपट, माया, दम्भ और पाखण्डसे अभिभूत है। आज भारतमें जो अनाचार, व्यभिचार और भ्रष्टाचार जोरोंसे फैल रहा है, उसका कारण भी स्वामिभक्ति, पतिभक्ति, आचार्यभक्ति, और राष्ट्रभक्तिका अभाव तथा धर्म-विमुखता है। यह कटु सत्य सबको स्वीकार करना ही होगा। स्त्रियोंमें पतिभक्तिका अभाव व्यभिचारका कारण होता है। छात्रोंमें आचार्यभक्तिका अभाव अनाचारका कारण है। नेताओंमें धर्म-विमुखता देशद्रोहका कारण है। और राजसेवकोंमें स्वामिभक्ति, देश-भक्ति तथा धर्मनिष्ठाका अभाव ही भ्रष्टाचारका कारण है।

भगवद्-भक्ति तो मनुष्योंके ऐहलौकिक और पारलौकिक—दोनों ही प्रकारके श्रेयस्का साधन है। भगवद्भक्ति-सम्पन्न पुरुष कभी भी नष्ट नहीं होता। भगवान्की यह प्रतिज्ञा है कि—**'न मे भक्तः प्रणश्यति।'**

भगवद्-भक्त पुरुष पाप करते समय भगवान्से डरता है। क्योंकि वह भगवान्को सर्व-देश और सर्वकालमें सर्वत्र अवस्थित देखता है। यद्यपि भगवान्की सत्तामें चिरकालसे विवाद चला आ रहा है, तथापि प्राचीन कालमें और आज भी भगवत्सत्ताको स्वीकार करनेवालोंकी संख्या ही संसारमें अधिक है। संसारके सभी धर्म और सम्प्रदायोंमें ईश्वरको माना

ही गया है। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई—तीनों सम्प्रदाय ईश्वरको सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् मानते हैं। जैन और बौद्ध जिन और बुद्धको सर्वज्ञ मानते हैं।

शास्त्रोंमें प्रेम-पूर्वक सेवा ही भक्ति-शब्दसे व्यवहृत होती है। **'भज् सेवायाम्'** धातुसे भक्ति-शब्द बना है। अतः भक्ति और सेवाका परस्पर विभाजन नहीं किया जा सकता है। वह सेवा ईश्वर-सेवा हो, या मानव-सेवा। हमारे देशमें गो-भक्ति तो अतिप्रसिद्ध ही है। हनुमान्‌जीके भक्त बानरोंकी सेवा करते हैं। श्रीभैरवदेवके उपासक कुत्तोंकी सेवा करते हैं। भक्ति या सेवाधर्म अति गहन है, वह योगियोंके लिए भी अगम्य है।

भक्ति प्राणियोंका सहज धर्म है। यह केवल मनुष्योंमें ही नहीं पायी जाती है, किन्तु पशुओंमें भी सहज-भक्ति देखी जाती है। जैसे कुत्ते, घोड़े, गाय-बैल, भैंस—इत्यादि प्रायः सभी पशु अपने स्वामीमें भक्ति रखते हैं।

भक्ति भजनीयका आवर्जन और आकर्षण करके उसे भक्तके अभिमुख कर देती है। प्रह्लादकी निःस्वार्थ भक्तिके वशंवद होकर भगवान् नृसिंह खम्भेके भीतरसे निकले। सुग्रीवकी भक्तिके वशीभूत भगवान् रामने छद्मसे बालीका वध किया। पाण्डवोंकी भक्तिके परतन्त्र भगवान् कृष्णने अपनी प्रतिज्ञा छोड़ी। गजराजकी क्षणिक भक्तिसे नितान्त आकृष्ट होकर भगवान्‌ने ग्राहको मारकर गजराजको बचाया। भक्तकी प्रवृद्धा भक्ति और भगवान्‌की प्रवृद्धा करुणा—इन दोनोंका परस्पर सहज सख्य है। अतः भक्तिसे प्रेरित करुणा भगवान्‌को भक्तके अभिमुख विविध नृत्य करनेके लिए बाध्य कर देती है। कविवर जगद्धरभट्टने 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि'में भगवान्‌को चैलेन्ज देते हुए कहा है कि—क्या आप यह नहीं जानते हैं, कि आपके भक्तोंको अभय देनेके लिए आपकी अतिवृद्धा (अर्थात् बूढ़ी) करुणाने आपको सहस्रोंबार नचा दिया है?

'जानासि किं न शतशो नतसान्त्वनेषु
यद् वृद्धया करुणया नरिनर्तितोऽसि।'

(११-१८)

मानव-जीवनमें प्रत्येक कार्य और व्यवहार-क्षेत्रमें भक्तिकी आवश्यकता है। इसीलिए शास्त्रों और पुराणोंमें भक्ति-रसका अविच्छिन्न स्रोत है। वेदान्त-दर्शनमें श्रीरामानुज, निम्बार्क, माध्व और वल्लभाचार्यने वेदान्त-

सूत्रोंपर भक्ति-प्रधान भाष्य लिखकर भक्तिमार्गको सुस्थिर किया है। वैष्णवाचार्योंने पराभक्ति और अपराभक्ति—इस प्रकारसे भक्तिके दो भेद माने हैं। उनमें 'पराभक्ति' साध्य है और अपराभक्ति, पराभक्तिका साधन है। अतः प्रत्येक मनुष्यको परमश्रेयस्की प्राप्तिके लिए भक्ति-मार्गका आश्रयण अतीव आवश्यक है।

श्रीमद्भागवतमें देवराज इन्द्रने भक्तिके विषयमें यह कितना सुन्दर कहा है—

'यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः॥'

(६–१२,२२)

अर्थात् भगवान् प्राणियोंको समस्त अभीष्ट वस्तु प्रदान करते हैं। अतः जो पुरुष उनमें भक्ति रखता है, उसे जगत्के भोगोंकी क्या आवश्यकता है ? जो व्यक्ति अमृतके समुद्रमें विहार कर रहा है, उसे क्षुद्र गड्ढोंके जलसे प्रयोजन ही क्या है ?

यद्यपि मुक्तिका व्यवहित तथा अव्यवहित साधन कर्म, उपासना अर्थात् भक्ति[1] और ज्ञान—ये तीनों हैं, किन्तु इनमें निरापद और सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति ही है, कर्म और ज्ञानमें वैगुण्यका सम्भव है। परन्तु भक्तिमें वैगुण्य नहीं होता। इसीलिए अनादि कालसे लेकर आजतक भक्तोंकी परम्पराएँ चली आ रही हैं। भक्तिसे ही मनुष्यको वह अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त होता है, जिसकी प्राप्तिसे यह जीवात्मा भव-बन्धनसे छूट जाता है। निष्काम कर्म करनेसे भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, भगवद्-भक्तिसे भगवत्कृपा होती है। भगवत्कृपासे भक्तको आत्मज्ञान प्राप्त होता है, आत्मज्ञानसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है—यह भक्तिद्वारा मोक्ष-प्राप्तिकी पद्धति है। इसीलिए गीतामें भगवान्ने कहा है कि—

'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥'

(१४–२६)

१—भक्तिके ज्ञानके लिए देखिए—शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र, नारद-पाञ्चरात्र, भगवद्भक्ति-कौमुदी, भगवद्भक्ति-रसायन, भक्ति-रत्नावली। श्रीमद्भागवतके ३ स्कन्धका २२, ७ स्कन्ध, और ११ स्कन्ध

अर्थात् जो मनुष्य अनन्य-भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है। वह सत्व, रज, और तम—इन तीनों गुणोंको अतिक्रमण करके सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

कर्म-बन्धन समस्त अनर्थोंका मूल है। इतर कर्मोंकी तो बात ही क्या, वर्णाश्रमानुसार विहित वैदिक क्रिया-कलाप भी बन्धनका कारण होता है—अर्थात् सकामभावसे किये गये सभी कर्म बन्धन करते हैं। परन्तु भगवद्भक्तिका ऐसा अद्भुत लोकोत्तर प्रभाव है कि—उसके सम्बन्धसे बन्धक कर्म भी सब मोक्ष-प्रद हो जाते हैं। भगवान् कृष्णने महात्मा उद्धवजीसे कहा है—

'वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो नैःश्रेयसकरः परः॥'
(भागवत–११–१८–४७)

इसीलिए भक्तिके विना शास्त्रोंका ज्ञान और आत्म-तत्वका अवबोध भी किसीको हो ही नहीं सकता है—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'

इसीसे वेदान्त-देशिकने अपने 'वैकुण्ठ-स्तव' में कहा है कि—

'ये तु त्वदङ्घ्रिसरसीरुहभक्तिहीना-
स्तेषाममीभिरपि नैव यथार्थबोधः।
पित्तघ्नमञ्जनमनापुषि जातु नेत्रे
नैव प्रभाभिरपि शङ्खसितत्वबुद्धिः॥'

अर्थात् जो लोग भगवद्भक्तिसे विमुख रहते हैं, उन्हें इन शास्त्रोंसे भी यथार्थ-बोध नहीं हो सकता। क्योंकि नेत्रमें पित्त-दोषको शमन करनेवाले अञ्जनको लगाये बिना केवल प्रकाशसे ही पाण्डुरोगीको शङ्खमें श्वेत रङ्गकी प्रतीति नहीं होती।

निष्कामकर्म और स्वधर्मानुष्ठान

भगवान्में अनुरक्ति तथा बाह्य-विषयोंमें चित्तका प्रवाह बन्द करनेके लिए सहस्रों साधन हैं, परन्तु जिस उपाय और जिस तरहसे सर्वशक्तिमान् परमात्मामें प्रेम हो जाय—वही उपाय सर्वश्रेष्ठ है—

'तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः ।
यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥'
(भागवत—७-७-२९)

ऐसा अमोघ उपाय यह है कि—(१) "सर्वशक्तिमान् परमात्मा समस्त प्राणियोंमें विराजमान हैं—इस भावनासे यथाशक्ति सभी प्राणियोंकी इच्छा पूर्ण करके (उनकी सेवा करके) हृदयसे उनका सम्मान करना। और (२) दूसरेके द्वारा अपने-प्रति किया जानेवाला जो कुत्सित व्यवहार अपनेको बुरा लगे—वैसा व्यवहार दूसरोंके प्रति स्वयं भी कदापि न करना।" बस्, यही स्वधर्मका सार है—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

अत एव जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः दोषोंपर विजय प्राप्त करके, इस परम धर्मका अर्थात् भगवान्‌की साधन-भक्तिका आचरण करते हैं, उन्हें भगवान्‌के चरणारविन्दमें रति प्राप्त हो जाती है। भगवान्‌में अनुरक्ति हो जानेपर फिर प्राणियोंके सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त, अपने आप ही हो जाता है—

'अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः ।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्द - परागसेवारति - रात्मलब्धा ॥'
(श्रीमद्भाग० ३-७-१४)

जिस अविद्याके कारण परमार्थ-स्वरूप आत्माको यह जन्ममरणरूप अनर्थ-परम्परा प्राप्त हुई है, उसको निवृत्ति गुरुस्वरूप भगवान्‌में सुदृढ़ भक्ति होनेपर ही हो सकती है। जैसा कि शुक महर्षिने बतलाया है—

'अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा ।
संसृतिस्तद् - व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥'

इसीलिए भगवान् कृष्णने श्रीउद्धवसे कहा है कि—

'एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः ।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माऽखिलसंशयाधिम् ॥'
(भाग० ११-१३-३३)

अतः जो मनुष्य चाहता है कि 'अपने ब्रह्मस्वरूपकी हृदय-ग्रन्थि अर्थात् 'मैं' और 'मेरा'—इस प्रकारकी कल्पित गाँठ शीघ्र-से-शीघ्र खुल जाय, अर्थात् मुझे आत्माका साक्षात्कार हो जाय—उसको चाहिए कि अपने अधिकारके अनुसार, वेदोक्त और तन्त्रोक्त पद्धतियोंके अनुसार, भगवान्का आराधन किया करे।'

जिससे किसीको अणुमात्र भी भय नहीं होता, वही उसका प्रियतम आत्मा है, ऐसा जो पुरुष जानता है, वही ज्ञानी है, और जो ज्ञानी है, वही गुरु एवं साक्षात् हरि है—

'स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥'

(भाग० ४–२९,५१)

इस तरहसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, अथवा वर्णाश्रमसे इतर प्रत्येक समाजका कोई भी व्यक्ति—प्रत्येक स्त्री या पुरुष—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'

—के अनुसार अपनी-अपनी धर्मानुकूल पद्धतिसे ईश्वरको प्रसन्न करके 'मोक्ष' रूप—'चतुर्थ-पुरुषार्थ'को प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए भगवान् कृष्णने कहा है कि—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्वधर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु॥'

(गीता–१८–४५)

'अर्थात् अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके आचरणमें लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्मोंके आचरणमें लगा हुआ मनुष्य, उस परम सिद्धिको, किस प्रकारसे प्राप्त होता है—इस विधिको मुझसे सुनो।'

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः॥'

(गीता १८–४६)

अर्थात् जिस परमात्मासे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिस परमात्मासे यह सारा ही जगत् व्याप्त हो रहा है—उस जगद्-रचयिता

और जगन्नियन्ता परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा प्रसन्न करके मनुष्य परम-सिद्धिको—मोक्षको प्राप्त होता है। अस्तु।

यही अभिप्राय श्रीमद्भागवतमें भी महर्षि शुकमुनिके इन अक्षरोंसे अभिव्यक्त हो रहा है—

'वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत्।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गुणतामियात्॥'
(७–११–२३)

'अर्थात् जो मनुष्य अपनी स्वाभाविक वृत्तिका आश्रय लेकर अपने स्वधर्मका पालन करता है, वह धीरे-धीरे अपने उन स्वाभाविक कर्मोंसे भी ऊपर उठकर, गुणातीत हो जाता है।'

अतएव प्रत्येक मनुष्यको सदैव स्वधमपर दृढ़ रहना चाहिए। क्योंकि मनुष्यको सभी उन्नति उसके धर्मपर ही निर्भर हैं। इसीलिए भगवान् कृष्णने स्वधर्मपर बहुत जोर देते हुए कहा है कि—

'गुण-रहित भी अपना धर्म, अच्छी प्रकार आचरण किये हुए—दूसरे के धर्मसे श्रेष्ठ है। क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य कभी भी पापको, पतनको नहीं प्राप्त होता'—

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभाव-नियतः कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥'
(गीता–१८–४)

इसीलिए भगवान्ने प्रत्येक मनुष्यके हितकी दृष्टिसे सबको यह उपदेश दिया है कि—

'यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९–२७)

अर्थात् जो कुछ भी कर्म करो, जो कुछ भी खाओ, जो कुछ भी हवन, दान, और तप करो—अर्थात् अपना-अपना जो भी कर्म है, उसको सब मेरी सेवा समझकर करो और मुझको ही समर्पण कर दो !

'इस तरहसे अपने समस्त कर्मोंको मुझे समर्पण कर देना संन्यासयोग है। इससे तुम शुभाशुभ-फल देनेवाले अपने उन कर्मबन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे और उनसे मुक्त होकर मुझको प्राप्त हो जाओगे।'

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म-बन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥'
(गीता ९-२८)

इस तरहसे स्व-स्व-धर्मके आचरणकेद्वारा परमात्माके समाराधनसे मनुष्य कृतकृत्य होकर मोक्षको प्राप्त हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—'जो लोग मेरे आश्रित होकर अपने समस्त कर्मोंको मुझे समर्पण करके, अनन्यचित्तसे मेरा ध्यान करते हैं, उन—मुझमें अनुरक्त प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसारसे उद्धार करता हूँ'—

'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसार - सागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥'
(गीता १२-६,७)

अतः यदि यह भक्तियोग अच्छी तरहसे निष्पन्न हो जाय, तो इनसे मनुष्यको मोक्षरूप परम-पुरुषार्थ भी अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌में एकाग्रता-पूर्वक सम्यक्-प्रकारसे किया हुआ भक्तिभाव ज्ञान और वैराग्यको उत्पन्न कर देता है—

'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति॥'
(श्रीमद्भाग० ४-२९-३७)

और यह भक्ति-भाव भगवान्‌की कथाओंके आश्रित रहता है। इसलिए जो पुरुष श्रद्धा-पूर्वक उन्हें प्रतिदिन सुनते या पढ़ते हैं, उन्हें बहुत ही शीघ्र उसकी प्राप्ति हो जाती है—

'सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः॥'
(श्रीमद्भाग० ४-२९-३८)

अतः 'जहाँ भगवद्-गुणोंको कहने और सुननेमें तत्पर, विशुद्ध अन्तः-करणवाले भक्तजन रहते हैं, उस साधु-समाजमें सब ओर महापुरुषोंके मुखसे भगवच्चरित्ररूप शुद्ध अमृतकी, अनेकों नदियाँ बहती रहती हैं। जो लोग अतृप्त-चित्तसे श्रवणमें तत्पर‌हुए अपने कर्ण-कुहरोंद्वारा उस

अमृतका छककर पान करते हैं, उन्हें भूख, प्यास, भय, शोक और मोह आदि विघ्न कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकते'—

'यत्र भागवता राजन् साधवो विशदाशयाः ।
भगवद्— गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः ॥'
'तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेष-सरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोक-मोहाः ॥'
(श्रीमद्भागवत ४–२९–३९, ४०)

अतः जितने भी साधक हैं, उनका सबसे बड़ा हित (=निःश्रेयस) इसीमें है कि वे भगवत्प्रेमी भक्तजनोंकी सङ्गति करके भगवान्में अविचल प्रेम प्राप्त कर लें। ऐसे पुरुषोंके सत्सङ्गमें जो भगवान्की लीला-कथाएँ होती रहती हैं, उनसे उस दुर्लभ ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जिससे कि संसार-सागरकी त्रिगुणमयी तरङ्गमालाओंकी चपेटें शान्त हो जाती हैं। हृदय शुद्ध होकर आनन्दका अनुभव होने लगता है। विषयोंमें आसक्ति नहीं रहती और कैवल्य मोक्षका सर्वसम्मत मार्ग भक्तियोग प्राप्त हो जाता है। भगवान्की ऐसी रसमयी कथाओंका चस्का लग जानेपर, भला कौन ऐसा है, जो उनसे प्रेम न करे?—

'एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवत-सङ्गतः ॥'
'ज्ञानं यदाप्रतिनिवृत्तगुणोर्मिचक्रम्
आत्मप्रसाद उत यत्र गुणेष्वसङ्गः ।
कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः
को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात् ॥'
(श्रीमद्भाग० २–३–११, १२)

परन्तु हाय, स्वभावतः प्राप्त होनेवाले इन क्षुधा, पिपासा आदि विघ्नोंसे सदैव घिरा हुआ यह जीव-समुदाय परमात्माके उस कथामृतके सिन्धुसे प्रेम करता ही नहीं—

'एतैरुपद्रुतो राजन् जीवलोकः स्वभावजैः ।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥'
(श्रीमद्भाग० ४–२९–)

भगवच्छरणागति

अतएव इन परिस्थितियोंसे विवश होकर जो लोग स्वधर्मका यथोचित आचरण करनेमें असमर्थ होकर, जिन-जिन इष्ट उपायोंको दुष्कर समझकर शोक करते हैं, उनको भगवत्-शरणागतिको स्वीकार करके सर्वोपायभूत सिद्ध-धर्मकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। क्योंकि जहाँ साध्यधर्म दुष्कर अथवा असफल हो जाय, वहाँ सिद्ध-धर्म ही सब कुछ कर सकता है। क्योंकि वह उपाय भी है और उपेय भी है। शरणागतिको ही प्रपत्ति या आत्म-समर्पण भी कहते हैं।

प्रथम-पुरुषार्थके विवेचनमें यह बतलाया जा चुका है कि, भगवान् सिद्धधर्म हैं। अतः वे सिद्धउपाय हैं—सम्पूर्ण फलोंके दाता हैं, अतः उपाय हैं—अर्थात् वे प्रयत्न-साध्य नहीं हैं, किन्तु सिद्ध हैं—पहलेसे ही बने हैं। इसलिए उस सिद्ध उपाय भगवान्को वशमें करनेके लिए, उन्हें अपने अनुकूल बनानेके लिए, इस 'शरणागति' रूप उपायका विधान श्रीमद्-भगवद्गीताके अन्तिम श्लोकमें किया गया है। यह 'शरणा-गति' प्रयत्न-साध्य है, अतएव साध्य उपाय है। इसीलिए भगवान् कृष्णने अर्जुनको सब कुछ धर्मोपदेश कर चुकनेके बाद अन्तमें कहा है कि—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥'

(गीता–१८–६६)

'अर्थात् तुम सब धर्मोंको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ जाओ। मैं उन सभी उपायोंद्वारा सम्पन्न होनेवाले सभी फलोंको तुम्हें दे दूँगा। और मेरी शरणमें आ जानेपर तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। तू शोक मत कर!'

अतः भगवत्-शरणागतिका आश्रय लेनेपर धर्मानुष्ठानसे प्राप्त होनेवाले सभी फल मनुष्यको प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिए ब्रह्मसूत्रके—श्रीभाष्यकार भगवान् श्रीरामानुजाचार्यने ब्रह्मसूत्रके आनुमानिक अधिकरणमें (१–४–१ में) भगवच्छरणागतिको ही भगवान्के वशीकरणका मुख्य उपाय बतलाया है—

'तस्य च वशीकरणं तच्छरणागतिरेव।'

(ब्रह्मसूत्र-श्रीभाष्य–१।४।१)

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने अपनी शरणागतिकी महिमा श्रीमद्-भागवतमें स्वयं अपने मुँहसे गायी है। यह उन्हींके अक्षरोंमें सुनिए—

**'मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदाऽमृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥'**
(११-२९-३४)

'अर्थात् मनुष्य जिस समय समस्त कर्मोंका परित्याग करके मुझे आत्म-समर्पण कर देता है, उस समय वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है। और मैं उसे उसके जीवत्वसे छुड़ाकर, अमृत-स्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करा देता हूँ। और मुझसे मिलकर वह मेरा स्वरूप हो जाता है।'

अतः जो साधक केवल प्रपत्तिसे अर्थात् केवल शरणागतिसे ही मोक्षको प्राप्त करना चाहते हैं, भक्तियोगको भी नहीं अपना सकते हैं, उनका उपाय 'शरणागति' ही है। यह भगवच्छरणागति कई दृष्टियोंसे, भक्तियोगसे भी श्रेष्ठ है :—

१. भक्तियोगमें शास्त्रोक्त धर्मोंका अनुष्ठान करना पड़ता है, शरणागतिमें वह नहीं। २. भक्तियोग प्रारब्धरूपी अनिष्टको नष्ट नहीं कर सकता है, किन्तु शरणागति प्रारब्ध इत्यादि सभी अनिष्टोंको नष्ट कर सकती है। ३. भक्तियोग प्रारब्ध-निवृत्तिरूप इष्टको छोड़कर, इतर सभी इष्टोंको साध सकता है, शरणागति प्रारब्ध-निवृत्ति आदि सभी अभीष्टोंको साध सकती है। ४. भक्तियोग दुष्कर है, प्रपत्ति (शरणागति) अतीव सुकर है। ५. भक्तियोग मरण-पर्यन्त प्रतिदिन कर्तव्य है, प्रपत्ति जीवनमें एक ही बार कर्तव्य है। ६. भक्तियोग विलम्बसे फल देनेवाला है, प्रपत्ति शीघ्र फल देती है। ७. भक्तियोग प्रबल पापसे प्रतिबद्ध हो सकता है, प्रपत्ति किसी भी पापसे प्रतिबद्ध नहीं हो सकती।

अतः यदि कोई साधक इस प्रपत्तिको अपने अधिकारके अनुसार समझकर साक्षात् मोक्षोपायके रूपमें इसे अपना ले तो उस प्रपत्ति-निष्ठ साधकको परिपूर्ण परब्रह्मका अनुभवरूपी मोक्षफलको प्राप्त करनेमें कोई भी कर्म प्रतिबन्ध (विघ्न—अर्थात् रुकावट) नहीं डाल सकता है—सब प्रतिबन्ध नष्ट हो जाते हैं। अस्तु।

'चाहने योग्य महान् पुरुषार्थ 'मोक्ष' ही है—ऐसा समझकर भगवान्‌में प्रेम करनेवाले साधक दीर्घकाल-साध्य भक्तियोग-निष्ठा तथा

क्षणकाल-साध्य शरणागतिरूपी निष्ठा—इन दोनोंमेंसे किसी एकमें प्रवृत्त होते हुए इस बातपर दृढ़ निश्चय करते हैं कि—

इस संसारका मूल बननेवाले कर्मोंको नष्ट करनेके लिए भगवान्के चरणोंका आश्रय लेना ही एकमात्र उपाय है। इसे छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। स्वतन्त्र-प्रपत्तिनिष्ठ साधक तो भगवान्के चरणोंमें शरणागति करते ही हैं, भक्तियोग-निष्ठ साधकोंको भी उसके अङ्गरूप प्रपत्तिके रूपमें भगवच्छरणागति करनी ही पड़ती है। अतः कोई भी साधक भगवान्के चरणोंमें शरणागति किये बिना कर्म-बन्धनसे छूट नहीं सकता है।

संक्षेपमें, स्वधर्मानुष्ठानद्वारा भगवान्की सेवा करना ही मोक्षरूप चतुर्थ पुरुषार्थको सिद्ध करनेकी कुन्जी है। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि—'जिस पुरुषको अपने कल्याणके लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थोंकी अभिलाषा हो, उसके लिए उनकी प्राप्तिका एकमात्र अमोघ उपाय श्रीभगवान्के चरणारविन्दका सेवन ही है'—

'धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥'
(४-८-४१)

कृतकृत्यता

प्रवृत्ति पुनरावृत्ति है और निवृत्ति परम गति है। अतः जो फल नाशवान् है, जिस फलके नष्ट हो जानेके बाद, इस संसारमें जन्म लेना पड़ता है, ऐसे नश्वर फलोंको देनेवाला धर्म प्रवृत्ति-धर्म है, जिसे कि भगवान् प्रजापतिने (ब्रह्माने) कहा है कि—

'प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं प्रजापतिरथाब्रवीत्।
प्रवृत्तिः पुनरावृत्तिर्निवृत्तिः परमा गतिः॥
(महाभा० शा० पर्व २१९-४)

परमागति या ब्रह्मप्राप्ति अविनाशी फल है। इसे प्राप्त करनेके बाद फिर जीवनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। उस अविनश्वर स्थायी फलको देनेवाला धर्म—निवृत्तिधर्म है। प्रवृत्ति धर्मोंसे निवृत्त-पुरुष निवृत्ति-धर्ममें प्रवृत्त हो जाते हैं। अतः प्रवृत्ति-धर्मसे निवृत्ति-धर्म श्रेष्ठ है। इसीलिए कहा है कि—

'व्यक्तं मृत्युमुखं विद्यादव्यक्तममृतं पदम्।
निवृत्तिलक्षणं धर्मम् ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् ॥'
(शा० पर्व २१९–५)

अर्थात् इस व्यक्त प्रपञ्चको मृत्युका मुख समझना चाहिए। क्योंकि यहाँका फल सब नश्वर है। अव्यक्त परब्रह्मको अमृत पद समझना चाहिए, क्योंकि उसे प्राप्त करनेपर फिर मृत्युके मुखमें आना नहीं पड़ता है। अतः पुनरावृत्ति-रहित परब्रह्मका साधक निवृत्ति-धर्म है। अस्तु,

यद्यपि इस जगत्में मोक्षाभिलाषी व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ हैं, तथापि कोई-कोई धीर पुरुष आत्मासे बर्हिर्भूत विषय-सुखरूपी विषसे मिश्रित मधुका बहिष्कार करके, इन परिमित तुच्छ-रसवाले विषय-सुखोंको प्राप्त करनेका प्रयास छोड़कर, निःसीम महान् आनन्दरूपी ब्रह्मानुभवकी जिज्ञासा रखता हुआ, भगवान्‌के अनुग्रहसे संसारको त्यागने तथा मोक्षको प्राप्त करनेके लिए उत्सुक होता है। अतः मुमुक्षु बनना मनुष्यके लिए कोई असम्भव नहीं है। इसीलिए श्रीवेदान्तदेशिकने, बहुत छानबीन करके कहा है कि—

'अत्यन्तैरवधारिते भगवति क्षिप्ते विरोधभ्रमे
साङ्गोपायविभागसंभृतमतिः संप्रत्यसौ साधकः।
कामक्रोधनिशातकण्टकमिलत्कालुष्यपङ्कच्छटा-
निर्मुक्तेन सुशीतलेन च पथा निःश्रेयसं प्राप्स्यति ॥
(सङ्कल्प–सूर्योदय–३–४४)

अर्थात् वेदान्त-शास्त्रोंके द्वारा परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर जब उस विषयमें उठनेवाले समस्त भ्रमोंका निराकरण हो जाता है, तब साधक शम, दम आदि साधनसम्पत्तिसे सम्पन्न होकर काम-क्रोधरूपी तीक्ष्ण कण्टकोंसे आकीर्ण हुए पाप-पङ्कसे विरहित शीतल, शान्तिमय, मार्गसे आनन्दमय मोक्षधामको अनायास ही प्राप्त हो जाता है। इसीसे महाभारतमें कहा है कि—

'अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ॥'
(शा० पर्व ३३० अ० ३०)

अर्थात् जो पुरुष अध्यात्म-विद्यामें अनुरक्त, कामनाओंसे शून्य तथा

भोगासक्तिसे दूर है। जो भोगासक्तिको त्यागकर, अपने आप अकेला ही विचरण करता है, वह सुखी होता है।

पितामह भीष्मने कहा है कि, 'जैसे घड़ेमें रक्खा हुआ दीपक घड़ेके छिद्रोंसे अपना प्रकाश फैलाकर, वस्तुओंका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार परमात्मा भी शरीरके भीतर अवस्थित होकर, चेष्टा और ज्ञानसे शून्य इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि—इन सातों करणोंके द्वारा, लोगोंको सम्पूर्ण पदार्थोंका अनुभव कराता है—

'इन्द्रियैस्तु प्रदीपार्थं कुरुते बुद्धिसप्तमैः।
निर्विचेष्टरज्ञानद्भिः परमात्मा प्रदीपवत्॥'

(म० भा० शा० प० १९४–४२)

पर, जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वे भिन्न-भिन्न विषयोंकी ओर प्रवृत्त हुई इन दुर्निवार्य इन्द्रियोंद्वारा अपनी आत्माका साक्षात्कार नहीं कर पाते—

'न चात्मा शक्यते द्रष्टुमिन्द्रियैश्च विभागशः।
तत्र तत्र विसृष्टैश्च दुर्वार्यैश्चाकृतात्मभिः॥'

(शा० पर्व १९४–५८)

अतः 'जब जीव अपनी बुद्धिरूपी सारथि और मनरूपी वागडोरके द्वारा अपने इन्द्रियरूपी अश्वोंकी लगामको अच्छीतरह काबूमें रखता है, तब घड़ेमें रक्खे हुए प्रज्ज्वलित दीपकके समान, अपने भीतर ही, उसका आत्मा उसे प्रकाशित होने लगता है'—

'रश्मींस्तेषां स मनसा यदा सम्यङ् नियच्छति।
तदा प्रकाशतेऽस्यात्मा घटे दीपो ज्वलन्निव॥'

(शा० पर्व–१९४–४५)

आत्म-विचारके द्वारा जैसे-जैसे अज्ञानकी निवृत्ति होती जाती है, वैसे-वैसे बुद्धिमें सत्त्वगुणका उद्रेक होता चला जाता है। सत्त्व-गुणके उद्रेकसे तमकी निवृत्ति होकर पूर्ण-सुखका आभास होना आरम्भ हो जाता है—

'यावद् यावत् तमोऽपैति बुद्धौ धर्मसमाहितम्।
तावत्तावद् धियः स्वास्थ्यं तावत्तावत् सुखोन्नतिः॥'

अतः भगवान्‌के चरणारविन्दके सेवनसे अनायास ही आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर त्रिविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। इसीको 'मोक्ष' कहते हैं। यही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। यही मनुष्य-जीवनकी सफलता एवं कृतकृत्यता है और यही मनुष्य-समाजका सबसे उच्चकोटिका चरम पुरुषार्थ है। इसीलिए साङ्ख्यशास्त्रकार महर्षि कपिल मुनिने कहा है कि—

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।'

उपसंहार

इस तरहसे सम्पूर्ण विश्वके मानव-समाजकी इच्छाओंके प्रधान विषय संक्षेपमें, ये ही चार पुरुषार्थ हैं। मनुष्य-जीवनके सभी विषय इन्हींके अन्तर्गत हैं। ये ही मनुष्य-जीवनमें मुख्य चार अभिलषित हैं। अतः इन्हींको चार पुरुषार्थ कहते हैं। मनुष्य-समाजके सब हित इन्हींमें निहित हैं। अतः इनका यथोचित सम्पादन करलेनेसे मनुष्य-जीवनकी सम्पूर्ण इतिकर्तव्यताएँ परिपूर्ण हो जाती हैं। अस्तु।

●

'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥'



सहायक ग्रन्थ-सूची

★

- **वेद**
  - ऋग्वेद
  - कृष्ण-यजुर्वेद
  - शुक्ल-यजुर्वेद
  - अथर्ववेद
  - शतपथ-ब्राह्मण
  - ऐतरेय-ब्राह्मण
  - तैत्तिरीय-आरण्यक
  - चतुर्वेद-भाष्य-भूमिका
- **उपनिषद्**
  - ईशावास्य उपनिषद्
  - कठोपनिषद्
  - तैत्तिरीय उपनिषद्
  - छान्दोग्य उपनिषद्
  - बृहदारण्यक उपनिषद्
- **निरुक्त**
  - निरुक्त-शास्त्र
- **वेदान्त-दर्शन**
  - वेदान्त-ग्रन्थ
  - ब्रह्मसूत्र
  - शाङ्करभाष्य
  - रामानुजभाष्य
  - नैष्कर्म्य-सिद्धि
  - त्रिपुरारहस्य
- **गीता**
  - गीता शाङ्करभाष्य
  - रामानुजभाष्य
  - आनन्दगिरि टीका
  - नीलकण्ठी टीका
  - मधुसूदनी टीका
- **मीमांसा-दर्शन**
  - मीमांसा-दर्शन
  - तन्त्रवार्तिक
  - श्लोकवार्तिक
  - शाबरभाष्य
  - मीमांसा-पादुका
- **साङ्ख्ययोग दर्शन**
  - सांख्यकारिका
  - सांख्यतत्त्व-कौमुदी
  - योगसूत्र भाष्य
- **न्याय-दर्शन**
  - न्यायसूत्र
  - न्यायभाष्य
  - वैशेषिक-दर्शन
- **जैनदर्शन**
  - तत्त्वार्थवार्तिक
  - उत्तराध्ययनसूत्र
  - रत्नकरण्ड-श्रावकाचार (समीचीन-धर्मशास्त्रम्)
  - योगशास्त्र
  - महापुराण
  - ज्ञानार्णव
- **इतिहास-पुराण**
  - वाल्मीकि-रामायण
  - महाभारत
  - योग-वाशिष्ठ
  - ब्रह्मपुराण
  - विष्णुपुराण
  - वायुपुराण
  - मत्स्यपुराण
  - शिवपुराण
  - स्कन्दपुराण
  - मार्कण्डेयपुराण
  - देवीभागवत
  - श्रीमद्भागवत
  - भागवतकी विविध टीकाए
- **धर्मशास्त्र**
  - मनुस्मृति
  - याज्ञवल्क्य-स्मृति
  - मिताक्षरा
  - अङ्गिरा-स्मृति
  - आङ्गिरस-स्मृति
  - पराशर-स्मृति
  - हारीत-स्मृति
  - व्यास-स्मृति
  - दक्षस्मृति
  - वशिष्ठ-स्मृति
  - आपस्तम्बधर्मसूत्र

मिताक्षरावृत्ति
गौतमधर्मसूत्र
कालमाधव
व्यवहार-प्रकाश

• आयुर्वेद
चरक-संहिता

• अर्थशास्त्र
बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र
कौटलीय अर्थशास्त्र
चाणक्यसूत्र
कामसूत्र, वात्यायन-भाष्य

• नीतिग्रन्थ
शुक्रनीति
चाणक्यनीति
नीतिवाक्यामृत
नीतिशतक
पञ्चतन्त्र
हितोपदेश
कामन्दकनीतिसार
राजनीति-प्रकाश

• काव्यग्रन्थ
रघुवंश-महाकाव्य
कुमार-संभव
अभिज्ञान-शाकुन्तल
किरातार्जुनीय
शिशुपाल-बध
उत्तररामचरित
संकल्प-सूर्योदय
अमृतोदय

• ज्योतिष
मुहूर्त्त-चिन्तामणि

• सन्तवचन
तुलसीकृत-रामायण
महात्मा शेखसादी
ब्रूयरे
कार्लाइल, इत्यादि